Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अद्वैत-वेदान्त

प्रोफेसर अर्जुन मिश्र
डॉ. हृदय नारायण मिश्र

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

L-5
Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अद्वैत-वेदान्त

लेखक
प्रोफेसर अर्जुन मिश्र
एवं
डॉ. हृदय नारायण मिश्र

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अद्वैत-वेदान्त

प्रोफेसर अर्जुन मिश्र एवं डॉ. हृदय नारायण मिश्र

© मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

☐ प्रादेशिक भाषाओं में विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थों और साहित्य के निर्माण के लिए भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय (शिक्षा विभाग) की केन्द्र प्रवर्तित योजनान्तर्गत, भारत सरकार के द्वारा रियायती दर पर उपलब्ध कराये गये कागज पर मध्यप्रदेश शासन की और से प्राप्त अनुदान की मदद से रियायती मूल्य पर मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशक : मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
रवीन्द्रनाथ ठाकुर मार्ग, बानगंगा,
भोपाल (म.प्र.) 462 003
दूरभाष (0755) 553084

संस्करण : प्रथम : 1990
द्वितीय : 2000

मूल्य : रु. 70.00 (सत्तर) मात्र

कम्पोजिंग : सोनी ग्राफिक्स, भोपाल

मुद्रक : वेल प्रिन्ट्स प्रा. लि.
244, जोन-1, महाराणा प्रताप नगर, भोपाल (म.प्र.) दूरभाष : 764717

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्राक्कथन

भाषा मनुष्य के बीच संवाद का जरिया है। भाषा और उसमें अन्तर्निहित शब्दों को बहुत लम्बी यात्रा से गुजरना होता है तब वह भाषा अभिव्यक्तिक्षम हो पाती है। स्वभावतः मनुष्य का संस्कार उसकी मातृभाषा से ही पोषित एवं विकसित होता है। इसलिए मातृभाषा को मनुष्य के बुनियादी सोच की भाषा माना जाता है। संभवतः इसीलिए इस विषय पर सर्वानुमति है कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होना चाहिए।

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी का कार्य हिन्दी में उच्च शिक्षा की आवश्यकता की पूर्ति के लिए सभी विषयों का साहित्य उपलब्ध कराना है। विगत 30 वर्षों से अकादमी यह काम बखूबी कर रही है। स्नातक स्तर तक मध्यप्रदेश के विश्वविद्यालयों मे पढ़ाये जाने वाले सभी विषयों की पाठ्य सामग्री अकादमी ने हिन्दी में उपलब्ध करा दी है। स्नातकोत्तर स्तर पर इस कार्य में माध्यम परिवर्तन के उपाय किये जा रहे हैं।

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी माध्यम से उच्च शिक्षा ग्रहण कर रहे विद्यार्थियों की सुविधा के लिए मध्यप्रदेश शासन, उच्च शिक्षा विभाग द्वारा गठित संस्था है। हिन्दी के चहुँमुखी विकास की दृष्टि से मैं यह आवश्यक मानता हूँ कि सभी अधुनातन विषयों में भी स्तरीय प्रामाणिक पुस्तकें हिन्दी में सहज उपलब्ध होना चाहिए। यह संतोष का विषय है कि प्रदेश के प्राध्यापकों के रचनात्मक सहयोग से अकादमी इसी लक्ष्य की ओर बढ़ रही है।

अकादमी के कार्यकलापों में शासन की सम्पूर्ण भागीदारी है। इस नाते मैं चाहूँगा कि प्रदेश के सभी विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के प्राध्यापक अकादमी प्रकाशनों को अपना समर्थन और प्रोत्साहन दें।

प्रामाणिक पुस्तकों के प्रकाशन के लिए अकादमी आपके रचनात्मक सुझावों का स्वागत करेगी।

(रत्नेश सालोमन)
मंत्री, उच्च शिक्षा, मध्यप्रदेश शासन
अध्यक्ष, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लेखकीय

हमारे देश को स्वतंत्रता प्राप्त किये लगभग एकतालीस वर्ष पूरे हो चुके हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय ही हमने भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। सरकारी काम-काज में हिन्दी को स्थान देने एवं उसके समुचित विकास के लिए यह आवश्यक समझा गया कि विश्वविद्यालयीन शिक्षा भी हिन्दी के माध्यम से दी जानी चाहिए। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व विभिन्न विषयों से संबंधित विश्वविद्यालयीन शिक्षा के स्तर की पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं। फलतः यह प्रयास किया गया कि उस स्तर की पुस्तकें हिन्दी में लिखी जाएँ। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत सरकार ने आर्थिक सहयोग देना भी स्वीकार किया। विभिन्न विषयों के आचार्यों ने इस दुष्कर कार्य को चुनौती के रूप में स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप हिन्दी भाषा में कुछ पाठ्य ग्रन्थ सामने आये। इन एकतालीस वर्षों के लम्बे अन्तराल के बाद भी हम हिन्दी भाषा में पाठ्यपुस्तकों की कमी को पूरा नहीं कर सके हैं। हिन्दी भाषा के माध्यम से प्राकृतिक विज्ञानों का विज्ञान एवं भारतीय दर्शन की विभिन्न विधाओं से संबंधित भी हिन्दी में उच्च स्तर के मौलिक पाठ्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी कमी को पूरा करने के लिए एक लघु प्रयास है।

अद्वैत-वेदान्त भारती की विभिन्न दार्शनिक विधाओं में सर्वाधिक चर्चित विद्या है। सम्भवतः इसी कारण देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में इसका अध्ययन-अध्यापन नियमित रूप से चल रहा है। इस विद्या से संबंधित अंग्रेजी भाषा में तो कुछ उच्च स्तर के ग्रन्थ उपलब्ध हैं किन्तु भाषा में कोई ऐसा पाठ्य ग्रन्थ प्रस्तुत लेखकों की दृष्टि में नहीं आया जिसमें विद्यार्थी को समुचित सामग्री मिल सके। यद्यपि अद्वैत-वेदान्त पर हिन्दी में लिखे गये कतिपय शोध-प्रबन्ध भी प्रकाशित हुए हैं और कुछ मौलिक ग्रन्थ भी लिखे गये हैं किन्तु वे सभी एम.ए. स्तर के विद्यार्थियों के लिए किसी न किसी दृष्टि से अधूरे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में परास्नातक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए अधिक से अधिक सामग्री उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया है।

इस प्रस्तुत की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो अद्वैत-वेदान्त संबंधी हिन्दीं भाषा में उपलब्ध अन्य ग्रन्थों में नहीं हैं। उदाहरण के लिये ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद एवं अन्यत्र शंकराचार्य ने जो अन्य भारतीय दार्शनिक विधाओं की आलोचना की है उसका संपूर्ण विवरण इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक का दूसरा अध्याय भी एक ऐसी समस्या से संबंधित है जिस पर आज तक किसी लेखक ने एक पूरा एवं स्वतंत्र अध्याय नहीं लिखा। "अद्वैत-वेदान्त की तर्कना पद्धति" की विवेचना ही इस अध्याय की विषयवस्तु है। इसी प्रकार एक स्वतंत्र अध्याय में अद्वैत-वेदान्त मका समाजदर्शन भी पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार जगत् और संसार का भेद, अशुभ की अवधारणा, प्रमाण्वाद एवं व्यावहारिक जीवन जैसे विषयों का भी समुचित विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त लगभग सभी महत्वपूर्ण समस्याओं पर मुख्य-मुख्य अद्वैत वेदान्तिओं के विचारों का उल्लेख भी इस पुस्तक की अपनी विशेषता है। पुस्तक की भाषा पर विशेष ध्यान दिया गया है। जटिल विचारों को सरल एवं सुबोध भाषा में व्यक्त करना भी हमारा उद्देश्य रहा है। प्रायः सभी दार्शनिक समस्याओं पर सामग्री जुटाने के लिए अद्वैत-वेदान्तिओं के मौलिक ग्रन्थों का ही अध्ययन किया गया है।

इस ग्रन्थ को 15 अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय में अद्वैत-वेदान्त के उद्भव एवं विकास का विवेचन किया गया है। इस संबंध में वैदिक संहिताओं, उपनिषदों, भगवद्गीता एवं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गौडपादाचार्य इत्यादि दार्शनिकों की रचनाओं में निहित इस विधा के विचारों का उल्लेख हुआ है। हमारा मत है कि अद्वैत-वेदान्त के बीज उपर्युक्त रचनाओं में निश्चित रूप से विद्यमान हैं किन्तु इसको सुव्यवस्थित करने का श्रेय शंकराचार्य को ही है। दूसरे अध्याय में अद्वैत-वेदान्त की तर्कना पद्धति की विवेचना प्रस्तुत की गयी है। इस अध्याय में यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि शंकर एवं उनके अनुयायिओं ने किस प्रकार द्वन्द्वन्याय का प्रयोग करके पूर्वपक्षियों का खण्डन और अपने प्रतिपाद्य का मंडन किया है। शंकर द्वारा की गयी विभिन्न दर्शन-पद्धतियों की आलोचना तीसरे अध्याय की विषय-वस्तु है। इस अध्याय को सभी दृष्टिकोणों से पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है क्योंकि ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद का पठन-पाठन प्रायः सभी विश्वंविद्यालयों में किया जाता है। चौथा अध्याय अध्यास से संबंधित है। अध्यास की समस्या अद्वैत-वेदान्त में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए इस समस्या का विवेचन एक स्वतंत्र अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। अद्वैत-वेदान्त की प्रमाणमीमांसा पाँचवें अध्याय में रखी गयी है। इसमें प्रमा एवं अप्रमा का भेद और अद्वैत-वेदान्तियों द्वारा मान्य सभी प्रमाणों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय का आधार ग्रन्थ "वेदान्त परिभाषा" नामक ग्रन्थ है।

छठें अध्याय में भ्रम-सिद्धान्त और सातवें में प्रामाण्यवाद का अनुशीलन किया गया है। प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत परतःप्रामाण्यवाद का प्रतिपादन, आलोचना एवं स्वतःप्रामाण्यवादिओं के विभिन्न मतों का उल्लेख किया गया है। भाट्ट मीमांसकों के स्वतःप्रामाण्यवाद की विस्तृत आलोचना करके अद्वैत-वेदान्त के स्वतःप्रामाण्यवाद को अधिक तर्कसंगत माना गया है। अद्वैत-वेदान्तियों के सत् संबंधी विचार आठवें अध्याय में रखे गये हैं। नवें एवं दसवें अध्यायों में जीव एवं जगत् इत्यादि समस्याओं का समुचित अनुशीलन किया गया है। ग्यारहवां अध्याय माया एवं अविद्या की समस्याओं से संबंधित है। माया को उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखकर माया एवं अविद्या के संबंध पर विभिन्न अद्वैत-वेदान्तिओं के विचारों का उल्लेख किया गया है। रामानुजाचार्य द्वारा की गयी अद्वैत-वेदान्तिओं की माया की आलोचना को भी स्थान दिया गया है।

पुस्तक का बारहवाँ अध्याय आचार शास्त्र से संबंधित है। इस अध्याय की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें अद्वैत-वेदान्त के अनुसार व्यावहारिक जीवन का विस्तृत उल्लेख करके जीवन-मुक्ति एवं विदेह-मुक्ति पर प्रायः सभी आचार्यों के विचारों का उल्लेख किया गया है। अद्वैत-वेदान्त में आचारशास्त्र की संभावना को नकारने वाले विद्वानों की युक्तियों का उत्तर देने का भी प्रसास किया गया है। तेरहवें अध्याय में "अशुभ" की समस्या का अनुशीलन किया गया है और चौदहवें अध्याय में अद्वैत-वेदान्तियों के विचारों में निहित समाज संरचना के तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। पन्द्रहवें अध्याय में शंकर एवं रामानुजाचार्य के कतिपय महत्त्वपूर्ण विचारों का तुलनात्मक विवेचन रखा गया है। यह अध्याय विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही लिखा गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ को सभी दृष्टिकोणों से विश्वविद्यालयीन स्तर की पाठ्य पुस्तक बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया है। हम अपने इस उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय तो पाठक-गण ही करेंगे। अन्त में हम उन सभी शिक्षकों, लेखकों एवं आचार्यों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं जिनके विचारों से हमें परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से इस ग्रन्थ को तैयार करने में सहायता प्राप्त हुई है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रति भी हम अत्यन्त आभारी हैं। उनकी आर्थिक सहायता के अभाव में इस पुस्तक का लिखा जाना सम्भव नहीं था।

अर्जुन मिश्र

हृदय नारायण मिश्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन — तीन
लेखकीय — पाँच

अध्याय 1: भूमिका — 1-23

अद्वैत-वेदान्त के आधार
(क) अद्वैत-वेदान्त का विकास
(ख) अद्वैत-वेदान्त के आचार्य
1. आचार्य शंकर
2. मण्डन मिश्र
3. सुरेश्वर
4. पद्मपाद
5. वाचस्पति मिश्र
6. संदर्भ-सूची

अध्याय 2 : अद्वैत-वेदान्त की तर्कना पद्धति — 24-44

1. पृष्ठभूमि
2. गौड़पादाचार्य की तर्कना-पद्धति
3. शंकर का द्वन्द्वन्याय
4. मण्डन मिश्र
5. श्रीहर्ष
6. चित्सुख
7. मधुसूदन सरस्वती
8. संदर्भ-सूची

अध्याय 3 : शंकर द्वारा विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की आलोचना — 45-72

1. सांख्य-दर्शन की आलोचना
2. जैन दर्शन की आलोचना
   (1) सप्तभंगीनय अथवा स्याद्वाद का खण्डन
   (2) आत्मा संबंधी मध्यम परिमाणवाद का खण्डन
3. वैशेषिक-दर्शन की आलोचना
4. बौद्ध-मत की आलोचना
5. मीमांसा-दर्शन की आलोचना
6. ईश्वर-निमित्तकारणवाद का खण्डन
7. भागवत्-दर्शन की आलोचना
8. संदर्भ-सूची

अध्याय 4 : अध्यास — 73-85

1. सामान्य परिचय
2. अध्यास का कारण
3. अध्यास का अर्थ और लक्षण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

4. अध्यास का विस्तार
5. अध्यास की कुछ विशेषताएँ
6. शांकर वेदान्त में अध्यास का महत्व
7. संदर्भ-सूची

अध्याय 5 : प्रमाण-मीमांसा 86-113

1. शंकर पूर्व अद्वैत-वेदान्त में प्रमाण-मीमांसा
2. प्रत्यक्ष प्रमाण
3. अनुमान प्रमाण
4. उपमान प्रमाण
5. शब्द प्रमाण
6. अर्थापत्ति प्रमाण
7. अनुपलब्धि प्रमाण
8. संदर्भ-सूची

अध्याय 6 : भ्रम सिद्धान्त 114-124

1. अख्यातिवाद
2. विपरीतख्यातिवाद
3. असत्ख्यातिवाद
4. आत्मख्यातिवाद
5. अन्यथाख्यातिवाद
6. सदसत्ख्यातिवाद
7. सत्ख्यातिवाद
8. अनिर्वचनीय ख्यातिवाद
9. अनिर्वचनीयख्यातिवाद की विशिष्टता
10. संदर्भ-सूची

अध्याय 7 : प्रामाण्यवाद 125-135

1. सामान्य परिचय
2. नैयायिकों का परतःप्रामाण्यवाद
3. वेदान्तियों का स्वतःप्रामाण्यवाद
4. संदर्भ-सूची

अध्याय 8 : सत् संबंधी विचार 136-151

1. परम तत्त्व
2. सत् एवं असत्
3. निर्गुण ब्रह्म
4. ईश्वर
5. विभिन्न आचार्यों के विचार
6. संदर्भ-सूची

अध्याय 9 : जीव-निरूपण 152-171

1. जीव का स्वरूप
2. साक्षी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

3. एक जीव अथवा अनेक जीव
4. संदर्भ-सूची

अध्याय 10 : अद्वैत-वेदान्त में जगत्-निरूपण 172-185
1. उपनिषदों में जगत्-निरूपण
2. शंकर के अनुसार जगत् का स्वरूप
3. संसार का स्वरूप
4. जगत् की उत्पत्ति
5. परिणामवाद एवं असत्कार्यवाद का खण्डन
6. जगत् की अनिर्वचनीयता
7. संदर्भ-सूची

अध्याय 11 : माया 186-198
1. शंकर-पूर्व दर्शनों में माया का स्वरूप
2. शंकर की माया संबंधी अवधारणा
3. माया एवं अविद्या
4. शंकर के माया सिद्धान्त की वैष्णव सन्तों द्वारा आलोचना
5. संदर्भ-सूची

अध्याय 12 : आचार-मीमांसा 199-224
1. सामान्य परिचय
2. कर्म का स्थान
3. साधनचतुष्टय
4. ज्ञानकर्मसमुच्चय एवं शंकर द्वारा उसका खण्डन
5. व्यावहारिक जीवन
6. शंकरवेदान्त में आचारशास्त्र का स्थान
7. संदर्भ-सूची

अध्याय 13: अशुभ की समस्या 225-235
1. कतिपय पश्चिमी दार्शनिकों के अशुभ संबंधी विचार
2. शंकर-पूर्व भारतीय दर्शनों में अशुभ
3. शंकर की अशुभ संबंधी अवधारणा
4. क्या शंकर निराशावादी हैं?
5. मूल्यांकन
6. संदर्भ-सूची

अध्याय 14 : समाज-दर्शन 236-248
1. वेदों और उपनिषदों में समाज-संरचना के सिद्धान्त
2. अद्वैत-वेदान्त में विवेचित समाज-व्यवस्था
3. संदर्भ-सूची

अध्याय 15 : अद्वैत और विशिष्टाद्वैत वेदान्त 249-257
1. तुलना
2. संदर्भ-सूची

सहायक संदर्भ ग्रन्थ-सूची — 258-259

Book in English 260-261

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय 1 : भूमिका

अद्वैत-वेदान्त के आधार

(क) अद्वैत-वेदान्त का विकास

वेदान्त-दर्शन की अद्वैतवादी शाखा के व्याख्याता शंकराचार्य के चिन्तन के पीछे एक दार्शनिक परम्परा की पृष्ठभूमि रही है। कोई भी चिन्तन-प्रक्रिया नितान्त नए सिरे से प्रारम्भ नहीं हुआ करती। उसे पूर्ववर्ती चिन्तन-धाराओं का उपयोग, समीक्षा और मूल्यांकन करना ही होता है। शंकर ने स्पष्ट रूप से वस्तुतः ऐसा ही किया है। उनके अद्वैत-वेदान्त को स्पष्ट और यथार्थ रूप में समझने के लिए उसकी परम्परा पर विचार करना अपेक्षित है।

शंकर से पूर्व उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थों का अवलोकन करने पर अद्वैत-वेदान्त के सूत्र विश्व के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद से मिल जाते हैं। अतः वैदिक साहित्य और शंकर के बीच उपलब्ध अद्वैत-वेदान्त की चिन्तन-धारा का संकेत हमें उपनिषद्, महाकाव्य, सूत्र तथा व्याख्या साहित्य में भली प्रकार मिलता है।

कभी-कभी वेद और उपनिषद् को एक ही मान कर उसे श्रुति कहते हैं और श्रुति प्रतिपादित वेदान्त को "श्रुतिप्रस्थान" कहा गया है। महाकाव्य-काल का वेदान्त, जिसमें "भगवद्गीता" प्रमुख है, स्मृति-प्रस्थान कहलाता है। सूत्र-साहित्य में ब्रह्मसूत्र प्रमुख है जिसे न्याय-प्रस्थान कहा जाता है। इन सब को एक शब्द में "प्रस्थानत्रय" नाम दिया जाता है। शंकर ने इन तीनों पर भाष्य लिख कर अपनी चिन्तन-धारा को उनसे सम्बद्ध किया है।

व्याख्या-काल में वे दार्शनिक आते हैं जिन्होंने शंकर के पूर्व "प्रस्थानत्रय" पर या उसके किसी एक अंश पर भाष्य लिख कर अपना मत व्यक्त किया था। उदाहरण के रूप में हम गौड़पादाचार्य को ले सकते हैं। उन्होंने माण्डूक्य-उपनिषद् पर भाष्य ही नहीं लिखा वरन् अपने मत को स्पष्ट करने के लिए उसके साथ तीन अध्याय (जो तीन स्वतंत्र ग्रंथ से प्रतीत होते हैं) और जोड़ दिए। शंकर ने गौडपाद की इस रचना पर भी भाष्य लिखा है। इस प्रकार शंकर अपने को प्रस्थानत्रय पर भाष्य लिखने वाले दार्शनिकों से भी सम्बद्ध करते हैं और अपनी दार्शनिक उपलब्धियों की एक नयी कड़ी उनके साथ जोड़ देते हैं।

ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता आदि जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं उनके समर्थन में वहाँ प्रायः श्रुतियों का प्रमाण प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्मसूत्र का तो एक प्रधान प्रयोजन औपनिषद् दर्शन का समन्वय करना ही है। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि श्रुति-ज्ञान सर्वाधिक मौलिक और प्रामाणिक है। वहीं अद्वैत-वेदान्त के सूत्र सर्वप्रथम उपलब्ध होते हैं।

यद्यपि वैदिक ऋषियों का मुख्य विषय दार्शनिक चिन्तन नहीं था फिर भी उनकी दार्शनिक दृष्टि की झलक सर्वत्र मिलती है। प्रो. मैक्समूलर[1] जैसे विद्वान् वेदों में बहुदेववाद से एकैकाधिदेववाद (Henotheism), एकैकाधिदेववाद से एकदेववाद और अंत में एकदेववाद से एकतत्त्ववाद का विकास हुआ मानते हैं। एकतत्त्वाद की उद्भावना ऋषियों के बौद्धिक-चिन्तन का ही फल थी। जहाँ कहीं सृष्टि-मीमांसा या ईश्वरवाद

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का प्रश्न आया है, वे इस जगत् के मूल में विद्यमान एक सत् का प्रतिपादन करते रहे हैं और उसी को समस्त जगत् का शासक मानते हैं।

यहीं उस द्वन्द्व न्याय के भी सूत्र मिल जाते हैं जिसके द्वारा सत् तक हम पहुँच सकते हैं। इस विधि को उपयोगी और आवश्यक मान कर आगे आने वाले दार्शनिकों ने अधिक विकसित किया। वैदिक ऋषि सत् और असत् के परे "एक" का उल्लेख करते हैं। वह एक (तदेकं) सब देवताओं का आदि कारण और जगत् के नानात्व का आधार है। उसी एक का वर्णन विद्वान् लोग अनेक प्रकार से करते हैं।

पुरुष-सूक्त का प्रतिपाद्य विषय वही एक सत् है। वह सत् पुरुषाकार रूप में स्थित है। पृथ्वी से द्विलोक और अन्तरिक्ष तक वह विस्तीर्ण है। सूर्य-चन्द्र आदि उसके नेत्रादि हैं। वह अगणित हाथ, पैर और उदर वाला है। किन्तु यह रूप उस सत् का एकांश मात्र है। इससे कहीं अधिक वह अमृतस्वरूप है। तात्पर्य यह कि सत् ही अपने चतुर्थांश में सृष्टि रूप में व्यक्त हो रहा है और शेष तीन अंश अचल, ध्रुव और निर्विकार रूप में विद्यमान हैं।[2] पुरुष का प्रतीक उस सत् की एकता भी सिद्ध करता है। जैसे हम अपने व्यक्तित्त्व में अनेक अंगों के बीच एकता का अनुभव करते हैं उसी प्रकार वह परम सत् जगत्-रूप पुरुष में अपने एकत्व को नष्ट नहीं करता है।

तीन अंश रूप सत् को "अमृतं दिवि" कह कर एक अंश रूप विराट् सृष्टि को "मृतं" मानने का संकेत किया गया है। सृष्टि में जो नाना प्रकार के आकार दिखाई देते हैं। वे उत्पन्न और लय होने वाले हैं— यही उनका मृतत्त्व है। आधार रूप सत् यहाँ भी अविनाशी है।

नासदीय-सूक्त में अद्वैतमत का प्रतिपादन स्पष्ट रूप में हुआ है। उसमें ऋषि का उद्घोष है— "तब वहाँ न सत् था और न असत् था, ... तब केवल एक था जो बिना श्वास के श्वास लेता था।"[3] वह एक सत् और असत् से विलक्षण है। उसे केवल "एक" कहा जाता है। उसमें सत् और असत् की सापेक्षता नहीं है। वह सत् और असत् के परे ही नहीं है, वरन् उनमें अन्तःव्याप्त और आश्रय स्थित भी है।

उसी सूक्त में यह प्रश्न उठाया गया है कि उसे कौन जानता है? कौन उसका प्रतिपादन करता है? यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई? सृष्टि के उपरान्त देवों की उत्पत्ति हुई, अतः कौन जानता है कि यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई? इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई उसे जानता ही नहीं। शायद वह एक अपनी सृष्टि को जानता होगा। इसके विपरीत एक मत यह भी हो सकता है कि वह अपनी सृष्टि को नहीं जानता है। इन दोनों मतों की परीक्षा और कोई निर्णय इस सूक्त में नहीं मिलता है।

ऋषियों की इस प्रकल्पना में द्वन्द्वन्याय का प्रयोग स्पष्ट है। इसी के द्वारा वे "एक सत्" के विचार से उठ कर "तदेकं" के विचार तक पहुँचते हैं। सत् और असत् की सापेक्षता किसी निरपेक्ष की अपेक्षा रखता है। निरपेक्ष के बिना सापेक्ष का द्वन्द्व सम्भव नहीं है। द्वन्द्वन्याय का यह प्रयोग पश्चिम में परमेनाइडस और जीनो से तथा भारत में बुद्ध और नागार्जन से अधिक प्राचीन माना जा सकता है।

नासदीय सूक्त में "माया" की अवधारणा भी मिल सकती है। इसमें सत्-असत् का द्वन्द्व माया का सूचक है। भले ही यहाँ "माया" शब्द का प्रयोग न हो किन्तु सत्-असत् में मायिक लक्षण विद्यमान है। वेदों में अन्यत्र माया का स्पष्ट उल्लेख भी है। उसका प्रयोग विविध प्रसंग में दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" अर्थात् इन्द्र माया से अनेक रूप धारण करता है। यदि यहाँ इन्द्र का अर्थ ईश्वर मानें तो कह सकते हैं कि ईश्वर अनेक रूप धारण कर विश्वरूप में प्रकट है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies (AAIS(USA))

यही मन्त्र "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" शब्दशः बृहदारण्यक[5] उपनिषद् में पुनः आया है। यहाँ शंकर ने अपने भाष्य में इन्द्र का अर्थ परमेश्वर ही किया है।[6]

इस प्रकार ऋक्-संहिता में अद्वैत-वेदान्त के मूल विचार स्पष्ट रूप से उपलब्ध हैं। सामवेदादि अन्य संहिताओं में भी परम सत् का प्रतिपादन खोज निकालना कठिन नहीं है। सामवेद के एक मन्त्र के अनुसार इस सृष्टि का आदि कारण परब्रह्म ही है। इस मन्त्र में ब्रह्म का वाचक "तत्" शब्द है। वेदान्त में "तत्" सर्वनाम परम् सत् का वाचक माना गया है। यह प्राचीन परम्परा है। "तत्त्वमसि" महाकाव्य में "तत्" इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

यजुर्वेद में परम सत् का उल्लेख अधिक प्रचुरता और उदारता से किया गया है। उसका एक मन्त्र इस प्रकार है— "यो भूतानामधिपतिर्यस्मिल्लोका अधिश्रिताः"।[8] वह समस्त भूतों का अधिपति तथा समस्त लोकों का अधिष्ठान है। यह वाक्य अधिष्ठान रूप एक सत् की ओर संकेत करता है। वह समस्त प्राणियों का अधिपति अर्थात् नियंत्रक भी है। यजुर्वेद में ब्रह्म और माया शब्दों का प्रयोग बहुत बार हुआ है। भले ही ब्रह्म शब्द ब्रह्मा, ब्राह्मण, प्रजापति आदि के अर्थ में अधिक प्रयुक्त हुआ हो किन्तु वह निश्चत ही परम सत् के अर्थ में स्पष्ट रूप में आया है। "माया" शब्द असुरों की रहस्यमय युक्तियों के लिए प्रयोग किया गया है। उनके कार्य अचिन्त्य और विचित्र होने के कारण माया कहे गये हैं परम सत् से जगत् की सृष्टि माया द्वारा नहीं मानी गयी है।

अथर्व-संहिता में भी ब्रह्म और माया का उल्लेख है। सायण-भाष्य के आधार पर कुछ मन्त्र अद्वैत-वेदान्त के प्रतिपादक ज्ञात होते हैं। सायण के अनुसार "जिस अधिष्ठान रूप ब्रह्म में आरोपित सम्पूर्ण जगत् एकाकार हो जाता है वही एकमात्र सत् वस्तु है। आरोपित वस्तु अधिष्ठान से अलग नहीं होती है।"[9] अथर्ववेद में "माया" शब्द इसी ब्रह्म की शक्ति के रूप में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ कहा गया है कि परमब्रह्म अपनी माया से आदित्य का रूप ग्रहण करता है। वह ब्रह्म, शिव, हरि, इन्द्र, अग्नि आदि रूपों में माया शक्ति से प्रकट है।

इस प्रकार संहिताओं में विद्यमान अद्वैत-वेदान्त के सूक्ष्म विचार ब्राह्मण और आरण्यक भागों में विकसित होते हुए मुख्य रूप से उपनिषदों में पूर्णता प्राप्त करते दिखाई देते हैं। उनमें एकमात्र अद्वैत तत्त्व का ही प्रतिपादन, उसके जानने का साधन और उसे जानकर प्राप्त होने वाली तृप्ति का विस्तृत उल्लेख है।

"उपनिषद्" वेदों का उत्तर भाग है और उसका अर्थ है "जो मनुष्यों को ईश्वर के निकट ले जाए" या "जो किसी व्यक्ति को उसके गुरु के समीप बैठाये।" ये उपनिषद् संख्या में बहुत हैं। सब की रचना एक साथ नहीं हुई है। गद्य में लिखे गये उपनिषद् जैसे ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक और छान्दोग्य प्राचीनतम हैं और गद्य-पद्य दोनों में लिखे गये अपेक्षाकृत बाद के माने जाते हैं। केवल पद्य में लिखे गये मुण्डक, कैवल्य आदि सब से बाद के हैं। नये-पुराने सभी उपनिषदों में से कुछ ऐसे हैं जिन्हें आचार्यों ने सर्वस्वीकृत माना है और उन पर भाष्य लिखे हैं। इन्हें मुख्य उपनिषद् कहते हैं।

इन मुख्य उपनिषदों का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि इन सब में एक परम सत् का प्रतिपादन है। उनमें वर्णित कहानियों के पात्र परम सत् को एक मानकर ही प्रश्न करते हैं और उसके प्रतिपादक एक ही कह कर उसका निरूपण करते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि एक स्थान में एकत्र होकर ये प्रश्न करते हैं— "ब्रह्म का स्वरूप क्या है जो विश्व का कारण है? हमारा आधार क्या है? हम किससे प्रेरित या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रभावित होकर इस संसार में प्रवृत्त हैं और सुख-दुःख का अनुभव करते हैं?"[10] इन प्रश्नों पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि परम सत् एक है जो ब्रह्म कहलाता है— यह मान्यता सभी ऋषियों की है। वे उसके विषय में विस्तृत रूप से जानना चाहते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् में पाँच गृहस्थ विद्वान् एकत्र होकर विचार-विनिमय करते हैं और फिर राजा अश्वपति के पास जाकर ये प्रश्न करते हैं— "हमारी आत्मा क्या है? ब्रह्म क्या है?"[11] इसी प्रकार बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछते हैं— "मुझे वह समझाओ जो ब्रह्म है, जो विद्यमान है और हमसे परे नहीं है, मुझे उसकी शिक्षा दो जो सब वस्तुओं की आत्मा है।"[12] इन प्रश्नों से प्रश्नकर्त्ता के इस मनोभाव का ज्ञान होता है कि वे एक परम सत् में विश्वास करते हैं, उसे ब्रह्म कहते हैं और वह सब प्राणियों और वस्तुओं की आत्मा है। इस प्रकार के प्रश्न सभी उपनिषदों में मिलते है और उनके उत्तर भी एक अद्वितीय सत् का प्रतिपादन करते हैं। परम सत् में अनेकता का निषेध किया गया है।

बृहदारण्यक के ऋषि कहते हैं — "अनेकता बिल्कुल नहीं है। मनुष्य को अपने मन में स्वयं विचार करना चाहिए, (क्योंकि) जिसे अनेकता दिखाई देती है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।"[13] कठक ऋषि कहते हैं— "जो वहाँ है वही यहाँ है, जो यहाँ है वही वहाँ है। वह मनुष्य मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है जो इसमें नाना की भाँति देखता है।"[14] तैत्तिरीय उपनिषद् में सावधान किया गया है कि "जब तक यह थोड़ा-सा भी अन्तर करता है तब तक उसे भय प्राप्त होता है।"[15] छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार कहते हैं कि "जहाँ कुछ और नहीं देखता····· वह भूमा है, जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य है।"[16]

हम उपनिषदों में देखते हैं कि वे नानात्व का निषेध ही नहीं करते हैं, वरन् एक परम सत् का प्रतिपादन भी करते हैं। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि परम सत् एक ही है। उसे ब्रह्म या आत्मा कहते हैं। उसी से यह नानात्वपूर्ण जगत् व्यक्त हुआ है, उसी में स्थित है और उसी में लीन हो जाता है। यह जगत् नामरूप मात्र है।

इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् का यह वाक्य प्रसिद्ध है— "सदैव सोम्येदमग्र आसीदेवमेवाद्वितीयम्"[17] अर्थात् हे सोम्य, आरम्भ में यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। बृहदारण्यक के अनुसार "आरम्भ में केवल आत्मा ही था ····· आत्मा के अतिरिक्त कुछ न था।"[18] इसी प्रकार का वाक्य ऐतरेय उपनिषद् में भी मिलता है— "इसके पहले एक आत्मा ही था।"[19] दूसरा कोई भी चेष्टा करने वाला नहीं था। उस (एक आत्मा) ने इस प्रकार विचार किया कि मैं निश्चय ही लोकों की रचना करूँ। उसने अम्भ मरीचि, मर और जल लोकों की रचना की। फिर उसने विचार किया कि इन लोकों की रक्षा करने के लिए लोकपालों की रचना करूँ। यह विचार कर उसने लोकपाल, हिरण्यगर्भ तथा अन्य देवताओं की रचना अपने संकल्प से ही की। इस प्रकार प्राणियों की रचना कर वह उनमें प्रविष्ट हो गया।[20] सृष्टि रचना के इस विवरण में आत्मा रूप परम सत् उपादान और निमित्त कारण है। उससे पृथक् कहीं कुछ नहीं है।

इसी उपनिषद् में "प्रज्ञानं ब्रह्म" महावाक्य आता है।[21] इसमें ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध परम सत् का लक्षण बताया गया है। वह ज्ञान स्वरूप अर्थात् चैतन्य मात्र है। समस्त प्राणी प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा से शक्ति पाकर ही अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं और उस प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा में ही स्थित हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म का लक्षण इस प्रकार बताया गया— "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप अनन्त है।[22] ब्रह्म ज्ञानस्वरूप होने के अतिरिक्त सत्य और अनन्त भी है। अपने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies (AAIS(IISA))

ज्ञानस्वरूप का अनुभव तो हर प्राणी को होता है किन्तु इस सीमित चेतना को ही ब्रह्म न मान लेना चाहिए। वह सत्य अर्थात् नित्य, शाश्वत, अमृत, अविनाशी, निर्विकार और अ है। वह सीमित वैयक्तिक चेतना न होकर आकाश के समान अनन्त है। ब्रह्म की अनन्तता पर बल देते इसी उपनिषद् में उसे आकाश के शरीर वाला बताया गया है— "आकाशशरीरं ब्रह्म"[23] इतना ही नहीं ब्रह्म का एक नाम "परम व्योम" भी माना गया है।[24] ब्रह्म चेतना का परम व्योम है।

इसी प्रकार ब्रह्म को एक अनन्त चेतन तत्त्व स्वीकार कर यह उपनिषद् उसी को आत्मा मानता है। यह ब्रह्म सभी प्राणियों की आत्मा है। इसलिए उसे अपनी हृदय-गुहा में छिपा हुआ जानना चाहिए। इस आत्मस्वरूप ब्रह्म से ही पञ्चमहाभूत, ओषधि, अन्न और रस की उत्पत्ति हुई। उस अकेले परमात्मा ने नाना रूप धारण करने की कामना की और समस्त जगत् का सर्जन हो गया। उसका सर्जन कर वह उसमें प्रविष्ट हो गया।[25] इस प्रकार परमात्मा जगत् का सर्जन कर मूर्त और अमूर्त दोनों रूप में हो गया।

इसी उपनिषद् में ब्रह्म को रसस्वरूप भी बताया गया। "रसो वै सः" अर्थात् वही रस है। इस रस को पाकर ही प्राणी आनन्दयुक्त होता है। जब तक वह थोड़ा-सा भी अपने को उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म से अन्तर किये रहता है तब तक उसको भय रहता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इसी परब्रह्म का प्रतिपादन मिलता है। यहाँ ब्रह्म के अन्य कई लक्षणों का उल्लेख है। "यह वेदवर्णित परब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ आश्रय और अविनाशी है। उसमें तीनों लोक स्थित हैं। वेद के तत्त्व को जानने वाले महापुरुष अपने हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित उस ब्रह्म को जानकर उसी के परायण हो उस परब्रह्म में लीन होकर सदा के लिए जन्म-मृत्यु से मुक्त हो गये।"[26] समस्त जड-चेतन सृष्टि इसी ब्रह्म पर आश्रित है। वह आत्मा, अनन्त, सम्पूर्ण रूपों वाला, अकर्त्ता (भोक्ता, भोग्य और उनका प्रेरक) परमेश्वर है। उससे बढ़कर जानने योग्य कुछ भी नहीं है। उस अजन्मा, निश्चल, समस्त तत्त्वों से विशुद्ध परमदेव परमात्मा को जानकर मनुष्य सब बंधनों से सदा के लिए छूट जाता है।[27] वह परम सत् एक ही है। इसी तथ्य पर बल देते हुए यह उपनिषद् कहता है कि सम्पूर्ण विश्व को सब ओर से घेरे हुए उस महान् सर्वत्र व्यापक एकमात्र देव परमेश्वर को जानकर ज्ञानीजन अमर हो जाते हैं।[28] उस एक तत्त्व से सम्पूर्ण लोकों का सर्जन हुआ है।— "यतो जातानि भुवनानि विश्वा।"[29] जो कुछ भी भूत, भविष्य एवं वर्तमान में उत्पन्न हुआ वेद वर्णित है, उस सम्पूर्ण जगत् को माया का अधिपति ईश्वर ही रचता है और जीव उस माया के द्वारा ही बँधा हुआ है।[30] माया प्रकृति को समझना चाहिए और मायापति महेश्वर को मानना चाहिए। उसी के अंगभूत कारण-कार्य समुदाय से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है।[31] इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र परम सत् है और माया उसकी शक्ति है, जिससे यह समस्त जगत् व्यक्त हुआ है और वह ब्रह्म से पृथक् नहीं है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में परम सत् का विवेचन विस्तार से मिलता है। एक स्थान में श्रुति कहती है कि उसका नाम "सत्य का सत्य है" (अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं)।[32] हम जो कुछ सत्य कर के मानते हैं, उसका भी सत्य अर्थात् परम सत् ब्रह्म ही है। उसके लक्षण बताते हुए श्रुति कहती है "महानज आत्मा विज्ञानमयः"[33] अर्थात् वह ब्रह्म आत्मस्वरूप है, चेतन है और महान् है। "इदं महद्भूतं अनन्तं अपारं विज्ञानधन एव"[34] अर्थात् वह महान्, अनन्त, अपार और चेतन स्वरूप है। उसकी चेतना स्वरूपता पर विशेष बल देते हुए उसे "ज्योतिषां ज्योतिः"[35] ज्योतियों की भी ज्योति कहा गया है। चेतन ब्रह्म लौकिक ज्योति को भी प्रकाशित करने वाला है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है— "एकमेवाद्वितीयम्"[36]— वह एक है, इसी दृष्टि से उसे देखना चाहिए। उसके अतिरिक्त किसी दूसरी सत्ता का स्पष्ट निषेध किया गया है।— "न तु तद् द्वितीयं अस्ति"[37] अर्थात् उसका दूसरा कुछ नहीं है। "नेह नानास्ति किञ्चन"[38] अर्थात् यहाँ नाना रूप कुछ भी नहीं है। नानात्व को देखना ही अज्ञान है और उसी के कारण वह मृत्यु से मृत्यु में जाता रहता है।

उस ब्रह्म का जगत् के साथ सम्बन्ध बताते हुए श्रुति कहती है कि वह ब्रह्म "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"[39] अर्थात् एक परम सत् ही जगत् का नानात्व उद्भासित कर रहा है। अतः यह जो कुछ नाना रूप है वह तत्त्वतः एक ब्रह्म ही है।

ब्रह्म की आत्मा है और "सर्व यदयमात्मा"[40] सर्वत्र यह आत्मा ही है। तत्त्वतः जगत् कुछ भी नहीं है,[41] क्योंकि "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपईयते"[42] ..... परमात्मा (इन्द्र) अपनी माया से अनेक रूप धारण करता है। अतः स्पष्ट है कि बृहदारण्यक उपनिषद् में एक परम सत् का प्रतिपादन है।

जिस स्थान पर छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"[43] उसी जगह आदि में असत् होने की सम्भावना पर विचार मिलता है और यह कह कर उसका खण्डन किया गया है कि यदि प्रारम्भ में ही असत् होता तो उससे कुछ भी उत्पन्न होना सम्भव नहीं था। असत् सदा असत् ही बना रहता। अतः यह वाक्य एक बार फिर दोहराया गया है कि आरम्भ में वह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।[44] उसी सत् से ईक्षण द्वारा तेज, जल और अन्न की उत्पत्ति हुई। ये रूप मात्र हैं। इन्हें "वाचारम्भण"[45] कहकर इनकी निस्तत्त्वता की ओर संकेत किया गया है। यह नाम रूपात्मक जगत् स्वतंत्र रूप से कुछ भी नहीं है। इसी दृष्टि से श्रुति कहती है— "सर्वं खल्विंद ब्रह्म तज्जलानिति"[46] अर्थात् यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है। यह उसी से उत्पन्न होने वाला, उसी में लीन होने वाला और उसी में चेष्टा करने वाला है। अतः तत्त्वदृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है। जीवों की चेतन सृष्टि भी ब्रह्म ही है। उस विषय में श्रुति कहती है— "सन्मूला सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्यप्रतिष्ठाः"[47] अर्थात् इस प्रकार यह सारी प्रजा सन्मूलक है तथा सत् ही इसका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है।

ईशावास्य उपनिषद् ईश के उल्लेख से ही प्रारम्भ होता है। श्रुति कहती है— "जगत् में जड़-चेतन जो कुछ है यह सब ईश्वर से व्याप्त है।"[48] उसके लक्षणों को बताते हुए उसे एक कहा गया है— "अनेजदेकं मनसो जवीयो"[49] अर्थात् वह अचल एक और मन से भी अधिक तीव्र गति युक्त है। इसी श्लोक में उस एक परम सत् का वर्णन इस प्रकार काव्यात्मक या रहस्यात्मक विधि से किया गया है जिससे उसकी अनन्तता और आत्मरूपता का भाव ग्रहण होता है। इतना ही नहीं, वरन् जगत् की स्वतंत्रत सत्ता भी नहीं दिखाई देती है। "जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मा में ही निरन्तर देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मा को देखता है वह कभी भी किसी से घृणा नहीं करता है।"[50] इस ज्ञान की स्थिति में समस्त प्राणी आत्मा रूप ही हो जाते हैं और एकता का अनुभव होता है— "सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् ..... एकत्वमनुपश्यतः"[51] अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी एकमात्र आत्मस्वरूप हो चुकते हैं और एक आत्मा का ही निरन्तर साक्षात् होता है। उसके अन्य लक्षणों में उल्लेखनीय है— शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम, शुद्धम्, अपादविद्धम्, कविः, मनीषी, परिभूः, स्वम्भू, शाश्वत् आदि। "योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि"[52] अर्थात् जो ऐसा वह परम पुरुष है वही मैं हूँ। इससे समस्त जीवों की एकता का प्रतिपादन सिद्ध होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, AAIS(USA)

इस उपनिषद् में यद्धपि माया और उससे उत्पन्न जगत् की उत्पत्ति की प्रक्रिया का वर्णन नहीं मिलता है, किन्तु समस्त श्लोकों में जगत् को ब्रह्मरूप और अपनी स्वतंत्र सत्ता रहित होने की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है।

केन उपनिषद् परम तत्त्व के विषय में पहले यह प्रश्न करता है "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः"[53] अर्थात् यह मन किसकी स्फुरणा से संचालित होता है और फिर उसकी ओर संकेत कर उनकी महिमा का वर्णन करता है। प्रश्न में परम सत् की एकता का भाव है और उत्तर में भी उसे एक मान कर ही उसका निरूपण किया गया है। वह मन का मन, वाणी का वाणी, प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु है, किन्तु मन आदि के द्वारा वह नहीं जाना जाता है। "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि"[54] अर्थात् उसी को तुम ब्रह्म जानो।

ब्रह्म परम सत् का वाचक है। वही सर्वाधिष्ठान है। "नेदं यदिदमुपासते"[55] अर्थात्, हम जिस जगत् के नाना विषयों की उपासना (कामना और सेवन) किया करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है, असत् है।

ईश और केन उपनिषद् बहुत संक्षिप्त हैं। उनका एकमात्र प्रयोजन परम सत् का ज्ञान कराना है। वे माया जगत् या जीव के नानात्व की उपेक्षा करते हैं, उनका विवेचन नहीं। किन्तु, कठ उपनिषद् बड़ा है और उसमें वेदान्त के लगभग सभी प्रश्नों का उत्तर मिलता है। उसमें ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहा गया है— "एकद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम्"[56] अर्थात् यह अक्षर ही तो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परम ब्रह्म है। इसका तात्पर्य है कि इसके अतिरिक्त सब कुछ क्षर है, अपर है, असत् है। ब्रह्म जीवों की हृदय-गुहा में आत्मा रूप से छिपा है।[57] वह "महान्तं विभुमात्मानं" अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापी सबका आत्मा है।[58] "नात्येति कश्चन"— कोई भी उसे लाँघ नहीं सकता है।[59] इस प्रकार ब्रह्म की अनन्तता और नित्यता सूचित कर नानात्व का स्पष्ट रूप में निषेध भी करते हैं। "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"[60] जो इस जगत् का नानात्व ही (सत् स्वरूप से) देखता है वह बारम्बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है। यह नाना रूप जगत् कुछ पृथक् सत्ता नहीं है, सब कुछ ब्रह्म ही है। "एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपों बहिश्च"[61]— समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा परब्रह्म एक होते हुए भी नाना रूपों में उन्हीं के जैसे रूप वाला हो रहा है और उनके बाहर भी है। इस प्रकार कठोपनिषद् में अद्वैत की प्रतिपादक अनेक श्रुतियाँ हैं। "नित्यों नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां"[62]— वह नित्यों का भी नित्य है, चेतनों का भी चेतन है और नानात्व के मूल में वही एक तत्त्व है। श्रुति जगत् को मिथ्या सिद्ध करने का श्रम नहीं करती है किन्तु उससे बड़ा सत्य और उसके अधिष्ठान रूप ब्रह्म का निरूपण करती है। इसी से जगत् की निष्तत्त्वता सिद्ध हो जाती है। "तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे [63]— सब लोक उसी के आश्रित हैं।

प्रश्न उपनिषद् में पाँच प्रश्नकर्त्ता पिप्लाद ऋषि के पास जाते हैं और परम तत्त्व के विषय में प्रश्न करते हैं। ऋषि के समस्त उत्तरों में ब्रह्म सर्वाधिष्ठान रूप में मिलता है। "विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वेः प्राणा भूतानि सप्रतिष्ठन्ति यत्र ····· तद् अक्षरं ·····"[64] अर्थात् जिसमें समस्त प्राण और पाँचों भूत तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और बुद्धि आश्रित रहते हैं वह अक्षर है। इस उपनिषद् में जगत् को नामरूप कहा गया है। "जिस प्रकार नदियाँ समुद्र की ओर लक्ष्य करके बहती हैं, समुद्र को पाकर उसी में लीन हो जाती हैं, उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं, फिर उनको समुद्र के नाम से ही पुकारा जाता है, वैसे ही इस पद्रिष्टा परमात्मा की सोलह कलायें प्रलयकाल में उसी में विलीन हो जाती हैं और समस्त नामरूप नष्ट हो जाते हैं। वह पुरुष (ब्रह्म) नाम से ही पुकारा जाता है। वह कलारहित और अमृतस्वरूप है।"[65]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मुण्डक उपनिषद् ब्रह्म और उससे उत्पन्न होने वाले जगत् का अद्वैतवादी निरूपण करने में बहुत स्पष्ट है। वह "नित्यं, विभुं सर्वगतं, सुसूक्ष्मं, अव्ययं"[66] है और वह "भूतयोनिम्" अर्थात् समस्त प्राणियों का कारण है। "जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है और निगल जाती है तथा जिस प्रकार पृथ्वी में नाना प्रकार की ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जिस प्रकार जीवित मनुष्य से केश और रोएं उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से इस सृष्टि का सब कुछ उत्पन्न होता है।" "तदेतत्सत्यं तदमृतं"[67] अर्थात् वह सत्य है, वह अमृत है। शेष सब कुछ नाम रूप मात्र है, जो उस सत्य से उत्पन्न होकर उसी में लय हो जाता है। जैसे समुद्र से उत्पन्न बादल बरस कर नहीं बनते हैं और फिर उन नदियों का जल नाम रूप त्याग कर समुद्र में एकीकृत हो जाता है, इसी प्रकार सत् से उत्पन्न नामरूपात्मक जगत् उसी में मिल कर एक हो जाता है, "परेऽव्यये सर्व एकीभवतिन्त"[68]— परम अविनाशी ब्रह्म में एक हो जाते हैं। "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"[69]— जो ब्रह्म को जानता है वह भी ब्रह्म हो जाता है। इसका तात्पर्य है कि अज्ञान में ही नानात्व सत्य भासित होता है, अन्यथा तत्त्वतः सर्वत्र एक ब्रह्म ही विद्यमान है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

माण्डूक्य उपनिषद् यद्यपि बहुत छोटा है किन्तु उसमें भी संक्षेप रूप से अद्वैत का प्रतिपादन मिलता है। उसका एक बहुत प्रसिद्ध मंत्र इस प्रकार है — "सर्व ह्येतद् ब्रह्मामात्मा ब्रह्म"[70] अर्थात् यह सब-का-सब ब्रह्म है, और यह आत्मा भी ब्रह्म है। इस वाक्य में पहले जगत् के नानात्व का निषेध कर सर्वत्र ब्रह्म का निर्देश किया गया और फिर समस्त प्राणियों की पृथक्ता का निषेध कर सब को ब्रह्म रूप बताया गया। इस प्रकार जीव और जगत् का मूल एक ब्रह्म तत्त्व ही है। उस ब्रह्म के लक्षण बताते हुए यह उपनिषद् कहता है— "अव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैवः[71] अर्थात् ओम् ही व्यवहार में न आने वाला, प्रपञ्च से अतीत, कल्याणस्वरूप, अद्वितीय और आत्मा है।

इस प्रकार इन समस्त उपनिषदों में एक परम सत् का प्रतिपादन मिलता है जिसे ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा या अक्षर कहा गया है। जगत् नामरूप मात्र है और उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वह निरतत्त्व है। इससे उपनिषदों की अद्वैत्तवादिता सिद्ध हो जाती है।

श्रुतियाँ परम तत्त्व का अनुसंधान और प्रतिपादन करने वाली मौलिक रचनायें हैं। उनके बाद स्मृति-ग्रन्थों की रचना हुई जिनका आधार श्रुति-ज्ञान ही था। स्मृतियों के अन्तर्गत समस्त पुराण, महाभारत, योगवासिष्ठ, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि ग्रन्थ आते हैं। महाभारत में कई गीतायें मिलती हैं। उनमें से प्रमुख श्रीमद्भगवदगीता है। अद्वैत वेदान्त में श्रुतियों के पश्चात् स्मार्त्तप्रस्थान के रूप में श्रीमद्भगवद्गीता की ही मान्यता है। अतः हम इस गीता में ही अद्वैतवाद के सूत्र खोजकर यहाँ प्रस्तुत करेंगे। अन्यान्य विस्तृत स्मृति-साहित्य में प्रवेश करना न सम्भव है और न उपयोगी ही।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार परम तत्त्व "अक्षरं ब्रह्म परमं"[72] अर्थात् ब्रह्म अविनाशी और अंतिम तत्त्व हैं। उसका लक्षण बताते हुए उसमें कहा गया है— "अनादित्वान्निर्गुर्णत्वात्परमात्मायमव्ययः"[73] अर्थात् अनादि और निर्गुण होने के कारण परमात्मा अव्यय है। वह आकाश की भाँति सूक्ष्म और सर्वव्यापक है।[74] वह चेतनस्वरूप होने के कारण समस्त जड-चेतन जगत् को सूर्य की भाँति प्रकाशित करता है।[75] श्रीकृष्ण अपने को उसी ब्रह्म से तादात्म्य रखते हुए कहते हैं— ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च"[76]— मैं ही अमृतस्वरूप और अव्यय बह्म की प्रतिष्ठा हूँ।

यह समस्त जगत् त्रिगुणात्मक माया के द्वारा निर्मित है। इसलिए इस जगत् को मायामय ही समझना चाहिए। जीव भी माया के वश में है। वे जगत् और जीवों की पृथक्ता को देखते हैं किन्तु अज्ञान के कारण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उस अविनाशी परम सत् को नहीं जानते हैं।[77] ज्ञानी पुरुष तत्त्वविद् होने के कारण परमात्मा से नित्ययुक्त[78] रहता है। वह अपने अविनाशी, नित्य, अव्यय स्वरूप को जानता है।[79]

यह समस्त परमात्मा की माया से उत्पन्न और परमात्मामय है। "यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वर"[80]— ईश्वर तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उनको धारण किये हुये है और उन्हें प्रकाशित भी करता है। ईश्वर अव्यय है और व्यक्त हुए नामरूपात्मक लोक क्षर हैं। अतः तत्त्वदृष्टि से परब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है। उसके अतिरिक्त जगत् का कारण कुछ अन्य नहीं है। जैसे मणियों में सूत्र पिरोया होता है वैसे ही परमात्मा सब जगत् में व्याप्त है।[81] इस प्रकार गीता में ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर एक ही परम तत्त्व के वाचक हैं और नानात्व मायाजनित, विनाशी, क्षर और पराश्रित है। यह अद्वैतवादी सिद्धान्त ही है।

श्रुतियों और स्मृतियों के दर्शन को व्यवस्थित रूप देने के लिए महर्षि वादरायण ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की। उन्होंने युक्तिपूर्वक समन्वित और व्यवस्थित दर्शन पद्धति की स्थापना की। उसका प्रारम्भ ब्रह्म की जिज्ञासा से होता है।[82] प्रारम्भ के चार सूत्रों में ब्रह्म को जगत् का कारण निर्धारित किया गया है और अचेतन कारणवाद को अस्वीकार किया गया है। चेतन सत्ता से जड़ जगत् की उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए श्रुतियों के प्रमाण तो दिये ही गये हैं, साथ ही युक्तियाँ भी दी गई हैं।

उसके एक सूत्र में कारण रूप ब्रह्म और कार्यरूप जगत् में अनन्यत्व स्वीकार किया गया है और श्रुति को भी उसी का प्रतिपादक माना है। "तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः"[83] अर्थात् श्रुतियों में आरम्भण शब्द का प्रयोग होने से उन दोनों (ब्रह्म और जगत्) में अनन्यत्व है। आरम्भण शब्द छान्दोग्य उपनिषद् के "वाचारम्भण"[84] का संक्षिप्त रूप है। वहाँ जगत् को वाणी से उत्पन्न नाममात्र माना गया है। सत्य एकमात्र ब्रह्म ही है।

माया शब्द का प्रयोग स्वप्न को मिथ्या बताने के लिए किया गया है।[85] स्वप्न का यह विवेचन बृहदारण्यक उपनिषद् के आधार पर है।[86] जैसे स्वप्न सृष्टि पारमार्थिक नहीं है, वैसे ही जाग्रत् का जगत् भी है।[87] जगत् की इस व्याख्या से ब्रह्म ही जगत् का एक मात्र कारण निर्धारित होता है और वही अद्वितीय सत् वस्तु सिद्ध होता है। "अक्षरमम्बरान्धृतेः"[88]— ब्रह्म अक्षर है, क्योंकि आकाश तक को धारण किये है और सबका आश्रय है। वह भूमा अर्थात् पूर्ण है। "भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्"[89]— ब्रह्म भूमा है क्योंकि सुषुप्ति में विद्यमान रहने वाले प्राण से भिन्न उसका वर्णन है। इसी प्रसंग में ब्रह्म के अन्य लक्षण जैसे :- चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप आदि का भी उल्लेख है। "आनन्दमयो भ्यासात्"[90] श्रुतियों में ब्रह्म को बार-बार आनन्दमय कहा गया है। "ज्योतिश्चरणाभिधानात्"[91] ज्योति शब्द उसी ब्रह्म के लिए प्रयुक्त है क्योंकि वह चेतनस्वरूप है। "भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्"[92] भूमा ब्रह्म का वाचक है क्योंकि संप्रदाय के अनन्तर उसका उपदेश है।

ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म के लक्षण ब्रह्म की तरह परम सत्यता निर्धारित करते हैं और जगत् को स्वप्न के समान तत्त्वहीन बताते हैं। इससे अद्वैत मत का ही प्रतिपादन होता है।

उपनिषदों में अद्वैतवाद के सूत्रों को खोजते समय हम देख चुके हैं कि माण्डूक्य उपनिषद् में परम सत् को "अद्वैत" शब्द से अभिहित किया गया है। गौडपाद ने उस उपनिषद् पर कारिका लिखकर भाष्य प्रस्तुत किया है, जो "माण्डूक्य-कारिका" के नाम से प्रसिद्ध है। इन कारिकाओं में गौडपाद ने विस्तार सहित यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि परम सत् अद्वैत "क्यों" और "कैसे" है। यह रचना अद्वैत सिद्धान्त का प्रथम निबन्ध कहलाती है। इसमें परम तत्त्व की सत्यता का प्रतिपादन और जगत् तथा जीव के नानात्व का निषेध किया गया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गौडपाद परम सत् को अद्वैत बताते हुए लिखते हैं :— "तुरीय आत्मा सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति में ईशान-प्रभु (समर्थ) है। वह अव्यय, अद्वैत, तुरीय और सब भावों में व्यापक देव रूप माना गया है।"[93] वे प्रपञ्च का अत्यन्त अभाव बताते हैं— "प्रपञ्च यदि होता तो निवृत्त हो जाता, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु वास्तव में यह द्वैत तो मायामात्र है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है।"[94] परमार्थ दृष्टि से "न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त ही है।"[95] अनादि मायाजनित अज्ञान में सो रहे मनुष्य को इस अद्वैत का अनुभव नहीं होता। अज्ञान निद्रा से जागने पर अज, अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत अल्पतत्त्व का स्पष्ट बोध होता है।[96]

गौडपाद जगत् की उत्पत्ति के अनेक प्रयोजन उद्धृत करते हैं जो विभिन्न दार्शनिकों के द्वारा प्रतिपादित किये जाते हैं और कहते हैं कि इन मतों के प्रतिपादक स्वयं एक-दूसरे का खण्डन करते हैं। वेदान्तमत के अनुसार तो यह परमात्मदेव का स्वभाव ही है जिससे जगत् उत्पन्न और लय होता हुआ भासित होता है। पूर्णकाम परमात्मा को कोई इच्छा हो ही नहीं सकती है।

वैतथ्य प्रकरण में गौडपाद स्वप्न का मिथ्यात्व सिद्ध होने के कारण इंगित करते हैं। स्वप्न का जितना विस्तार अनुभव में आता है वह न कहीं बाहर संसार में मिलता है और न स्वप्नद्रष्टा के शरीर के अन्दर ही स्थित हो सकता है। स्वप्न में जिन व्यक्तियों से भेंट होती है, जाग जाने पर कोई कहता है कि हम दोनों तुम्हारे स्वप्न में मिले थे।[97] इसी प्रकार जाग्रत् काल का जगत् भी भासित होता है किन्तु उसकी सत्ता सम्भव नहीं है। आत्मा में अविद्या के कारण जीव-भाव की उत्पत्ति होती है और जीव को अपनी ही कल्पना से नानात्व का अनुभव होता है।[98] "स्वयं प्रकाश आत्मा अपनी माया से स्वयं ही कल्पना करता है और वही सब भेदों को जानता है— यही अद्वैत वेदान्त का निश्चय है।"[99] जो आदि और अन्त में नहीं है। वह वर्तमान में भी वैसा ही है। ये पदार्थ समूह असत् के समान होकर सत् जैसे दिखाई देते हैं।[100] इसके अतिरिक्त कोई वस्तु न तो स्वतः उत्पन्न हो सकती है और न किसी अन्य से ही। यही नहीं, सत्-असत् अथवा सदसत् ऐसी कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती।[101]

इसी प्रकार अन्य तर्क देते हुए गौडपाद लिखते हैं कि अनादि फल से कोई हेतु उत्पन्न नहीं हो सकता और स्वभाव से भी अनादि हेतु से फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जिस वस्तु का कोई कारण नहीं होता उसका जन्म भी नहीं होता।[102] वे पुनः विचार प्रस्तुत करते हैं— न तो असत् कारण से असत् कार्य उत्पन्न होता है, न असत् से सत् की उत्पत्ति हो सकती है। इसी प्रकार सत् पदार्थ से सत् वस्तु नहीं उत्पन्न होती, फिर सत् वस्तु से असत् वस्तु ही कैसे उत्पन्न हो सकती है? अर्थात् नहीं उत्पन्न हो सकती है।[103] इनके सिवा किसी अन्य कारण-कार्य-भाव की न तो सम्भावना है और न कल्पना ही की जा सकती है। अतः तर्क से किसी कार्य-कारण-भाव की सम्भावना सिद्ध नहीं होती है। अतः जगत् का उत्पन्न होना या सद्रूप से विद्यमान होना सिद्ध नहीं होता है। एकमात्र ब्रह्म ही है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

जीवों की अनेकता का निषेध करते हुए गौडपाद कहते हैं— "आत्मा आकाश के समान है, वह घटाकाशों के समान जीवरूप से उत्पन्न हुआ है। मृत्तिका से घटादि के समान देह संघात रूप से ही उत्पन्न हुआ करता है। आत्मा की उत्पत्ति के विषय में यही दृष्टान्त है।"[104] घट की उपाधि से जो घटाकाश की उत्पत्ति प्रतीत होती है, वह भ्रांति ही है। आकाश अविभक्त है। वह घट आदि के कारण विभक्त नहीं हो सकता। वैसे ही परमात्मा भी अविभक्त है। वह विभक्त नहीं हो सकता है। उपाधि के कारण जीव रूपों में विभक्त-सा प्रतीत होता है। "घटादि के लीन होने पर जिस प्रकार घटाकाशादि महाकाश में विलीन हो जाते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं उसी प्रकार जीव परमात्मा में लीन हो जाता है।"[105] इसी दृष्टान्त को विस्तृत करते हुए गौडपाद लिखते हैं कि जस प्रकार घटाकाश के धूलि और धुएँ आदि से मुक्त होने पर समस्त घटाकाश उनसे युक्त नहीं होते उसी प्रकार एक जीव के सुखादिमान् होने पर सब जीव सुखादिमान् नहीं हो जाते हैं।[106] घटों की उपाधि से प्रतीत होने वाले भिन्न-भिन्न घटाकाशों के रूप कार्य और नामों में तो भेद है परन्तु मुख्य आकाश में न तो कोई भेद है और न विकार। उसी प्रकार जीवों के विषय में निश्चय समझना चाहिए।[107] घटाकाश के दृष्टान्त के बल पर गौडपाद जीव को न तो आत्मा से उत्पन्न मानते हैं और न उसका अंश स्वीकार करते हैं।

देहादि समस्त संघात तो जगत् के ही अंश हैं, जिनके मिथ्यात्व पर हम विचार कर चुके हैं। अतः देह, मन, बुद्धि का संघात स्वप्न के समान आत्मा की माया शक्ति से कल्पित हैं। कल्पित उपाधि से आत्मा का जीव भाव में विभाजन कल्पित ही हो सकता हे। उसमें सत्यता की गन्ध भी नहीं है।[108] निर्णय के रूप में गौडपाद लिखते हैं— "जीव और आत्मा के अभेदरूप से एकत्व की प्रशंसा और उनके नानात्व की निन्दा की गयी है। इसलिए यह एकता ही ठीक है।"[109]

युक्ति प्रस्तुत करते हुए गौडपाद कहते हैं कि अजन्मा अद्वैत वस्तु में भेद होना सम्भव नहीं है। यदि उसमें भेद उत्पन्न हो तो वह अमृतस्वरूप वस्तु मरणशीलता को प्राप्त हो जाय। माया के जादू से ही भेद की मिथ्या प्रतीत हो सकती है।[110] मरणहीन वस्तु कभी मरणशील नहीं होती और मरणशील कभी अमर नहीं होती। किसी भी प्रकार स्वभाव की विपरीतता नहीं हो सकती है।[111]

गौडपाद का यह मत उपनिषदों के अद्वैतवाद की विस्तृत व्याख्या है। उपनिषद् परम सत् का प्रतिपादन करने में और उसके लक्षण बताने में अधिक रुचि रखते थे। वे ब्रह्म को तो एकमात्र सत् वस्तु कहते थे, किन्तु जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने में अधिक रुचि नहीं दिखाई वरन् यह घोषणा की कि जगत की न तो उत्पत्ति हुई और न जगत् कहीं है। उनका यह मत अजातवाद कहलाता है।

अजातवाद के प्रतिपादन में वे दो तर्क प्रस्तुत करते हैं— प्रथम यह कि परम सत् से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता, दूसरे कार्य-कारण सिद्धान्त ही तर्क संगत नहीं है। इन दोनों तर्कों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। अतः गौडपाद का अजातवाद एक, अखण्ड परम सत् का प्रतिपादन कर नानात्व का निषेध करके अद्वैतवाद की सिद्धि करता है।

इस प्रकार हम अद्वैत वेदान्त के सूत्र वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों से प्रारम्भ होते हुए श्रीमद्भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र तथा गौडपाद-कारिकाओं में विकसित होते हुए पाते हैं। इनकी रचनाकाल में तथा इनके उपरान्त और शंकर के पूर्व लिखी गयी अनेक अद्वैतवेदान्ती रचनायें मिलती हैं, जिनमें लेखकों ने अद्वैतवेदान्त के प्रतिपादन में अपनी युक्तियाँ दी हैं या अपने अनुभव से उपनिषदों के अद्वैत का समर्थन किया है। विस्तार-भय से हम उनका उल्लेख नहीं कर रहे हैं। उनके कुछ नाम हैं— व्यास (श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत), वसिष्ठ (योगवासिष्ठ), भर्तृहरि आदि। अब हम अद्वैत वेदान्त के मुख्य आचार्य शंकर तथा उनके अनुवर्तियों का वर्णन करेंगे और देखेंगे कि उन्होंने अद्वैत-वेदान्त के प्रतिपादन में अपना क्या योगदान दिया।

(ख) अद्वैत-वेदान्त के आचार्य

अभी तक हमने प्राचीन भारतीय वाङ्मय में अद्वैत-वेदान्त के सूत्र खोजे। वहाँ यद्यपि एक परम सत् का प्रतिपादन मिलता है, किन्तु उसके साथ द्वैतवाद के समर्थन वाक्य भी मिल जाते हैं। यही कारण है कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रस्थानत्रयी पर विशिष्टाद्वैतवादी द्वैतवादी आदि भाष्य भी लिखे गये हैं। उन प्राचीन रचनाओं को निर्भ्रान्तरूप से एकमात्र अद्वैतवादी नहीं कहा जा सकता। यहाँ तक कि गौडपाद को व्यक्ति-विशेष ही नहीं मानता, कोई अलातशान्त प्रकरण को किसी बौद्ध का लिखा हुआ और बौद्धमत का ही प्रतिपादक मानता है। हम सर्वप्रथम शंकराचार्य को ही अद्वैत-वेदान्त का स्पष्ट, निर्भ्रान्त और सुनिश्चित प्रतिपादक पाते हैं। इसलिए हम उनके मत का तथा उनके उपरान्त उनकी परम्परा में आने वाले आचार्यों के मतों का ही प्रमुख अद्वैत-वेदान्ती के रूप में उल्लेख करेंगे।

आचार्य शंकर

जीवन-काल

शङ्काचार्य के जीवन-काल के विषय में इतिहासकारों के अनेक मत प्रचलित हैं। उनमें से दो तिथियों के समर्थक विद्वानों के दो पृथक् वर्ग बन गये हैं। सन् 1877 में जब प्रो. तेले ने "धर्मों के इतिहास की रूपरेखा" तैयार की तो उन्होंने शङ्कर का जीवन-काल 788-820 ईस्वी माना।[112] इसी तिथि का समर्थन डॉ. के.बी.पाठक ने किया।[113] उन्हें इसके समर्थन में एक प्राचीन हस्तलेख भी मिला। डॉ. पाल ड्रसन ने संस्कृत के एक ग्रन्थ "अद्वैत सुधाकर" के आधार पर यही तिथि स्वीकार की। पं. बल्देव उपाध्याय ने इसी मत के समर्थन में अनेक प्रमाण खोज निकाले।[114] प्रो. नीलकण्ठ शास्त्री को कम्बोडिया में शङ्कर के जीवन-काल के सम्बन्ध में यही तिथि उल्लेखित मिली। इस प्रकार शङ्कर का जीवन-काल 788-820 ई. माना जाने लगा।

न्यायमूर्ति के.टी. तैलंग ने शङ्कर के जीवन-काल पर पुनः विचार किया और प्रमाणों की खोज की। उन्होंने उपर्युक्त तिथि सही नहीं मानी।[115] उनके अनुसार शङ्कर का जीवन-काल 550-590 ई. होना चाहिए। कुछ विद्वानों ने, जो 788-820 ई. की तिथि से सहमत नहीं हैं, अपने अनुसन्धान के आधार पर विभिन्न तिथियाँ दी है। डॉ. टी. आर. चिन्तामणि के अनुसार वह तिथि 655-687 ई., श्रीकण्ठ शास्त्री के अनुसार 550-650 ई. और डॉ. बरनेल के अनुसार 652-680 ई. हैं। डॉ. जे.एफ.फ्लीट के अनुसार शङ्कर 630 और 655 ई. के मध्य नेपाल गये थे। राजेन्द्र नाथा घोष उनका जीवन-काल 686-720 ई. मानते हैं।[116]

किन्तु डॉ. दासगुप्त[117] और डॉ. राधाकृष्णन्[118] ने पूर्व-वर्णित परम्परागत मत ही स्वीकार किया है। वे शङ्कर का जीवन-काल 788-820 ई. मानते हैं। हम इन तिथियों के ऐतिहासिक विवाद में न पड़ कर परम्परागत मत को ही स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि इसी तिथि से संगति रखते हुए अन्य आचार्यों की जीवन-तिथियाँ स्वीकार करनी होंगी।

रचनायें

शङ्कराचार्य की समस्त रचनाओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं— (1) भाष्य और (2) स्वतन्त्र रचनायें। भाष्य-रचनाओं को चार वर्गों में बाँटा जा सकता है— (1) उपनिषदों पर भाष्य। उन्होंने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दस उपनिषदों पर भाष्य लिखे। (2) वादरायण के ब्रह्म सूत्रों पर उन्होंने जो भाष्य लिखा उसे "शारीरक-मीमांसा-भाष्य" कहते हैं। यह नाम स्वयं शङ्कर ने दिया है, जिसका उल्लेख प्रस्तावना में है। (3) श्रीमद्भगवद्गीता पर शङ्कर का भाष्य स्मृति-भाष्य है। विभिन्न स्मृतियों में से गीता को ही उन्होंने भाष्य रचना के लिए चुना। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं। उन पर भाष्य लिखने के अतिरिक्त उन्होंने (4) गौडपाद-कारिकाओं पर भी भाष्य लिखा हैं। यह भाष्य सम्भव है उन्होंने अपने दादा-गुरु की रचना को आदर देने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies (AAIS)

के लिए लिखा हो अथवा प्रस्थानत्रयी से उसमें विशिष्टता देखी हो। ये समस्त भाष्य गद्य में हैं। भाष्य रचना करते समय उन्होंने पद्य की काव्यात्मक शैली नहीं अपनायी। वे तथ्य के विवेचन में सत्यनिष्ठ रहे हैं।

भाष्यों के अतिरिक्त उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की, जो प्रकरण ग्रन्थ कहलाते हैं। ये ग्रन्थ अधिकांश रूप में पद्यों में लिखे गये हैं, जिससे उन्हें कण्ठस्थ करने में सुविधा हो और मौखिक रूप से उनका प्रचार हो सके। इस प्रकार की रचनाओं को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं— एक तो, सिद्धान्त ग्रन्थ जिनमें आत्मज्ञानोपदेश, विवेक-चूडामणि, आत्म-बोध, आत्मानात्म-विवेक, आत्मोदेश-विधि, आनन्द-लहरी, उपदेश-सहस्री, बोध-विधि, दश-श्लोकी, दृग्दृष्य-प्रकरण, पंचीकरण-प्रक्रिया, वाक्य-वृत्ति, अपरोक्षानुभूति, तत्त्वोपदेश, प्रौढानुभूति, अद्वैतानुभूति आदि ग्रन्थ आते हैं। इनमें से अधिकांश रचनायें एकांगी और छोटी हैं। विवेक-चड़ामणि बड़ा ग्रन्थ है। इसे सर्वांगपूर्ण कहा जा सकता है। इन सभी ग्रन्थों पर एक या एकाधिक भाष्य लिखे गये हैं जिससे इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता और महत्ता सिद्ध होती हैं।[119] दूसरे वर्ग में शङ्कराचार्य की वे रचनायें आती हैं जिनमें देवताओं की स्मृतियाँ हैं और सदाचार के गुण पाये गये हैं। "भजगोविन्दम्" ऐसी ही एक प्रसिद्ध रचना है। ये रचनायें दर्शन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, किन्तु शङ्कर का अद्वैतवादी दृष्टिकोण इतना दृढ और सुनिश्चित है कि उनकी समस्त रचनाओं में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अवश्य दिखाई देता है।

सिद्धान्त

यद्यपि अद्वैत-वेदान्त के सूत्र श्रुतियों, स्मृतियों और गौडपाद-कारिकाओं में पहले से विद्यमान थे और शंकर ने उन पर भाष्य लिखकर उनका समर्थन और विश्लेषण किया है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे उन रचनाओं के सिद्धान्तों का पिष्टपेषण ही करते रहे। शंकराचार्य का अद्वैतवाद उपनिषद्-दर्शन पर आधारित होते हुए भी अपनी नवीनता रखता है।

उपनिषदों में अद्वैतवाद के सूत्र अवश्य हैं, किन्तु विशिष्टाद्वैतवाद आदि अन्य सिद्धान्तों के सूत्र भी वहाँ मिलते हैं। शंकर ने इस विरोध को उपनिषदों पर भाष्य लिखकर दूर करना चाहा और सभी उपनिषदों में अद्वैतवादी मत का निरूपण किया। ब्रह्मसूत्र के समन्वयवाद में भी इस समस्या के निराकरण का प्रयास किया गया था, किन्तु एक तो वह रचना सूत्र रूप में थी, इसलिए पाठकों के लिए स्पष्ट नहीं थी, दूसरे उन सूत्रों की व्याख्या अन्य मतों के आधार पर भी की जा सकती थी। इसलिए शंकर ने ब्रह्मसूत्र पर भी भाष्य लिखा और उसमें प्रतिपादित समन्वय को अद्वैतवादी सिद्ध किया।

दूसरे, उपनिषदों की रचना शैली वर्णन-प्रधान हैं। तत्कालीन ऋषियों ने अपने अनुभव की उद्घोषणा मात्र की हैं उन्होंने तर्क का आश्रय नहीं के बराबर लिया है। अतः उपनिषदों का अद्वैतवाद अपनी प्रकृति में रहस्यवादी अधिक और दार्शनिक कम है। शंकराचार्य ने उसे तर्कीय आवरण पहना कर शुद्ध दार्शनिक बना दिया यही कारण है कि अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन का प्रथम प्रतिपादक शंकर को ही माना जाता है। शंकराचार्य की विचार प्रक्रिया बुद्धि की भूमि पर तर्क के पैरों से चलती है, किन्तु उनके एक हाथ में दिग्सूचक यंत्र के रूप में उपनिषद् अवश्य रहता है। वे बुद्धि को इतना सक्षम नहीं मानते हैं कि वह बिल्कुल स्वतन्त्र रूप से विचार कर सकें।

अद्वैतवाद के ब्रह्मसूत्र और श्रीमदभगवद्गीता में अपेक्षाकृत अधिक तर्क का सहारा मिला, किन्तु गौडपाद ने पहली बार सिद्ध कर दिया कि अद्वैतवाद तर्क की कसौटी पर पूर्णतः खरा उतर सकता है। लेकिन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गौडपाद तर्क के आधार पर अद्वैतवाद के सभी पक्षों का निरूपण करने का अवसर न पा सके। उस कार्य को शंकराचार्य ने पूरा किया। उन्होंने उपनिषदों की सभी उद्घोषणाओं को तर्क की कसौटी पर कस दिखाया।

तीसरे, उपनिषदों की रुचि तत्त्व के प्रतिपादन और ब्रह्मात्मैक्य भाव के निरूपण में अधिक थी। वहाँ जगत् के मिथ्यात्व और जीवों के नानात्व का निषेध करना महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं माना गया। ब्रह्मसूत्र और गीता के रचयिताओं ने भी इसमें रुचि नहीं दिखाई। गौडपाद ने मायावाद का विकास कर अजातवाद का प्रतिपादन किया। शंकराचार्य ने अपनी समस्त रचनाओं में जगत् का मिथ्यात्व, जीव के नानात्व का निषेध और ब्रह्म को आत्मस्वरूप बताकर उसकी सत्यता का निरूपण किया। भले ही उपनिषदों आदि का यही तात्पर्य रहा हो किन्तु शंकर ने उसे स्पष्ट, मुखरित और व्यवस्थित रूप अवश्य प्रदान किया।

शंकर के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र परम सत् है। माया उसकी अनिर्वचनीय शक्ति है जिसकी उपाधि से वह अपरब्रह्म या सगुणब्रह्म कहलाता है। दोनों ही अवस्थाओं में वह एक, अखण्ड और अद्वितीय है। "एकमेवाद्वितीय"[120] कह कर छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण किया गया है। उसकी व्याख्या करते हुए शंकर सृष्टि के पूर्व और सृष्टि की अवस्था में एकमात्र ब्रह्म की सत्ता ही स्वीकार करते हैं। "नास्य द्वितीयं वस्त्वन्तरं विद्यते"-इससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है।[121] "स्वकार्य पतितमन्यन्नास्तीत्येकमेवत्युच्यते"— अपने कार्य में कोई दूसरा नहीं है, इसलिए एक ही है, ऐसा कहा जाता है।[122] मिट्टी और घट के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए शंकर कहते हैं कि जैसे प्रातः घट बनने से पहले सब मिट्टी ही थी और अब घटों के रूप में सब मिट्टी है, वैसे जगत् की उत्पत्ति के पूर्व एक ब्रह्म ही था और अब भी जगत् के रूप में ब्रह्म ही है। "जब वह द्वितीय रहित अकेला ही है, फिर किससे किसको विशेषित किया जाय?"[123]

परब्रह्म ही आत्मा है। "परं ब्रह्म आत्मात्मन': सर्वभूतानां च"[124]— हम सबका आत्मा परब्रह्म है, अतः वह सर्वभूतात्मा है। हम अपने अस्तित्त्व पर शंका नहीं कर सकते, इसलिए ब्रह्म का अस्तित्त्व सर्व प्रसिद्ध है।

उपनिषद् में यह ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त इन तीनों लक्षणों से युक्त बताया गया है।[125] शंकर इन तीनों लक्षणों की व्याख्या करते हैं और उनकी परिभाषा देते हैं। साथ ही वे यह भी बताते हैं कि ये तीनों पद समानाधिकरण हैं।[126]

छान्दोग्य उपनिषद् में जगत् की रचना को वाचारम्भण कहा था।[127] शंकर उसे स्पष्ट करते हुए जगत् को नाम रूपात्मक कहते हैं,[128] और उसकी उत्पत्ति परमेश्वर की अव्यक्तनाम्नी त्रिगुणात्मिका शक्ति से बताते हैं।[129] वह शक्ति माया कहलाती है। उपनिषदों में माया की अधिक व्याख्या नहीं मिलती है, किन्तु शंकर माया की स्पष्ट परिभाषा देते हैं। उसकी अनिर्वचनीयता का भी निरूपण करते हैं।[130]

जीव के संसर्ग से वही माया अविद्या है। जीव उसके वश में होकर अति निर्मल तेजोमय आत्म तत्त्व को भूल जाता है और देह से तादात्म्य कर लेता है। वह विषयों की कामना करने लगता है और अपने राग-द्वेषात्मक संसार की रचना कर लेता है। उसी में घिर कर वह नाना प्रकार के दुःख भोगता है। इस संसार के रहते, वह अपने दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता है।

जीव के सम्बन्ध में शंकर ने अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का हल प्रस्तुत किया है। वे उपाधि भेद से जीवों की अनेकता स्वीकार करते हैं,[131] किन्तु उसे नित्य नहीं मानते हैं। ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध बताते हुए शंकर अविद्या-मुक्त जीव का वास्तविक रूप ब्रह्म ही मानते हैं। इसकी व्याख्या के लिए वे प्रतिबिम्ब[132]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies (AAIS)

और अवच्छेद[133] के दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। वे जीव का आकार निर्धारित करने के लिए विस्तृत विचार करते हैं और उसे विभु बताते हैं। वे जीव के मध्यम या अणु आकार के मत का खण्डन करते हैं।[134] उपनिषदों में जहाँ जीव को ईश्वर का अंश बताया गया है, वहाँ वे उसका तात्पर्य "अंश के समान" बताते हैं। कारण यह है "न हि निरवयवस्य मुख्योऽशः सम्भवति"[135]— निरवयव वस्तु का मुख्य अंश संभव नहीं है। किन्तु निरवयव परमात्मा जीवों में निरवयव नहीं दिखाई देता, उसका कारण है उपाधियों का नानात्व। "अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः" अतः भेद और अभेद के अवगम से अंशत्व अवगम होता है।

शंकर ने विभिन्न प्रमाणों पर विचार किया, उनकी सीमा निर्धारण की और अपने चिन्तन में उनका सावधानीपूर्वक प्रयोग भी किया। उन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलिब्ध और उपमान छः प्रमाण स्वीकार किये, किन्तु प्रथम तीन का ही अधिक प्रयोग किया है। परम तत्त्व के अनुसंधान में अनुमान और शब्द प्रमाणों का एक साथ उपयोग कर एक दूसरे का पूरक माना है। शब्द प्रमाण को आँख बंद कर शब्दशः स्वीकार नहीं करते हैं और अनुमान प्रमाण को स्वतन्त्र रूप से निर्णायक नहीं मानते हैं। फिर भी अन्य सभी प्रमाणों की अपेक्षा शंकर उपनिषदों के शब्द प्रमाण को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वही उनका विचार-पथ-प्रदर्शक है। उनकी समस्त भाष्य-रचनायें इसी तथ्य को प्रमाणित करती है।

नैतिकता का प्रश्न उपनिषदों की अपेक्षा ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता में अधिक गंभीरता और विस्तार से लिया गया है। शंकराचार्य ने उसके सभी प्रश्नों का विवेचन सम्यक् प्रकार से किया। कर्म-सिद्धान्त, व्यावहारिक जीवन में नैतिकता और परम पुरुषार्थ प्राप्त करने हेतु अधिकारी-लक्षण निर्धारित कर उन्होंने वेदान्त के नैतिक-दर्शन को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। विना प्रयोजन कोई मंद बुद्धि का व्यक्ति भी कहीं प्रवृत्त नहीं होता। अतः शंकर ने दर्शन को जीवन से सम्बद्ध रखा है और पद-पद पर उसका प्रयोजन स्पष्ट करते रहे हैं।

मण्डन मिश्र

मण्डन मिश्र शङ्कर के समकालीन थे। उनका जन्म-स्थान और जीवन-काल निश्चित नहीं किया जा सका है, किन्तु डॉ. दासगुप्त उन्हें 800 ई. में विद्यमान मानते हैं।[137] शंकर से मिलने के पूर्व वे मीमांसक थे। उन्होंने कुछ मीमांसा-प्रतिपादक ग्रन्थ भी लिखे हैं। शंकर से उनका शास्त्रार्थ होने और उनसे पराजित होने पर वे अद्वैतवादी हो गये। तब उन्होंने "स्फोट-सिद्धि" और "ब्रह्म-सिद्धि" नामक ग्रन्थ लिखे।[138]

ब्रह्म-सिद्धि वेदान्त का महत्त्वपूर्ण गन्थ है। उसके चार खण्ड हैं—ब्रह्म-खण्ड, तर्क-खण्ड, नियोग-खण्ड और सिद्धि-खण्ड। इस पर शंखपाणि की टीका उपलब्ध है।

ब्रह्म-खण्ड में ब्रह्म के लक्षणों का विवेचन किया गया है। तर्क-खण्ड में कहा गया है कि हम इंद्रियों से "भेद" का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, इसलिए उपनिषदों का भेदवादी अर्थ इस आधार पर नहीं किया जा सकता है कि भेद इंद्रिय-गोचर है। नियोग-खण्ड में मण्डन ने मीमांसा के इस मत का खण्डन किया है कि उपनिषदों का तात्पर्य-निर्णय विधि-निषेध के आधार पर ही होना चाहिए। इसमें मण्डन ने अपनी प्रतिभा का विशेष प्रदर्शन किया है। सिद्धि-खण्ड में मण्डन कहते हैं कि उपनिषदों के अनुसार नानात्वपूर्ण जगत् का कोई अस्तित्त्व नहीं है, किन्तु जीव की अविद्या के कारण वह भासित होता है।[139]

मण्डन मिश्र ब्रह्म-खण्ड में परम सत् का प्रतिपादन करने के लिए द्रष्टा और दृश्य का विवेचन करते हैं और उन्हें आभास मात्र सिद्ध करते हैं। यदि द्रष्टा और दृश्य का भेद सत्य होता तो उन दोनों में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता था।[140] यदि विकल्प रूप में केवल द्रष्टा होता तो समस्त दृश्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पदार्थ आत्मा पर भ्रान्ति रूप से अध्यारोपित होते और द्रष्टा की सत्यता ही अनुभव में आती। अन्तःकरण के स्पन्दन से द्रष्टा-दृश्य का भेद उत्पन्न होता है। यह अन्तःकरण कुछ भी हो और उसकी यह प्रकृति चाहे जैसी हो, किन्तु शुद्ध निर्विकार चैतन्य इसके अथवा इसमें भासित होने वाले पदार्थों के विकास के साथ विकृत नहीं होता है। आत्मा कूटस्थ और ध्रुव है। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने पर उसमें विकार की प्रतीति होती है। वस्तुतः पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता है, केवल प्रत्यक्ष का आभास ही रहता है। यदि दृश्य पदार्थों का वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं होता है तो आत्मा से स्वतंत्र उनका अस्तित्त्व मानना भूल है। जैसे दर्पण में मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब अपने से पृथक् देखता है वैसे ही आत्मा नाना विषय अपने से बाहर देखता है।[141] कोई विषय चैतन्य से बाहर हो ही नहीं सकता क्योंकि उस अवस्था में वह दुरवगाह्य होगा।[142]

माया और अविद्या के विषय में भी मण्डन की अपनी अपूर्व दृष्टि है। उनके विचार से अविद्या न ब्रह्म का स्वभाव है और न उससे पृथक्। वह न अस्तित्त्ववान् है और न अस्तित्त्वहीन। यदि ऐसा न हो तो अविद्या सत्य सिद्ध होगी अथवा वह आकाश-कुसुम के समान अलीक होगी। ऐसी अविद्या व्यवहार-बीज नहीं हो सकती है। अतः अविद्या को अनिर्वचनीय मानना होगा।[143]

मण्डन मिश्र अविद्या का आश्रय जीव मानते हैं। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि इस मत में अन्तःविरोध है, इसलिए वह उपपद्यमान नहीं है, किन्तु फिर भी वे तर्क देते हैं कि अविद्या ऐसी ही अन्तःविरोधी वस्तु है, वह अनिर्वचनीय है। जीव अपने मूल रूप में ब्रह्म है और जीव कल्पना के कारण अनेक हैं। किन्तु ब्रह्म में यह कल्पना नहीं हो सकती है, क्योंकि वह कल्पनाशून्य है। जीव भी कल्पना नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वयं कल्पना की उत्पत्ति है।[144] इसके समाधान में मण्डन दो युक्तियाँ देते हैं— एक तो माया व्याघात पूर्ण है तभी यह व्याघात अनुभव में आता है,[145] दूसरे,अविद्या से जीव की उत्पत्ति होती है और जीव से अविद्या की। जीव और अविद्या अनादि है। इसलिए दो में से किसी एक को पहले नहीं कहा जा सकता है।[146] वेदान्त श्रवण से यह अविद्या नष्ट हो जाती है और जीव को ब्रह्मज्ञान हो जाता है।

"शंकर-दिग्विजय" के आधार पर यह परम्परागत मान्यता आ रही है कि मण्डन ही शंकर से संन्यास लेकर सुरेश्वर के नाम से विख्यात हुए थे, किन्तु, ब्रह्म-सिद्धि पुस्तक के प्रकाशित होने पर इस मत का विरोध होने लगा। उसके सम्पादक पं. कुप्पुस्वामी शास्त्री सुरेश्वर को मण्डन से पृथक् मानते हैं, क्योंकि सुरेश्वर-रचित "नैष्कर्म्यसिद्धि" में ब्रह्मसिद्धि के कुछ मतों का खण्डन मिलता है। सुरेश्वर प्रस्थानत्रय और शंकर के पक्के अनुयायी हैं किन्तु मण्डन की ब्रह्मसिद्धि से उनका विरोध आता है। डॉ. दासगुप्त ने इन दोनों आचार्यों को पृथक् माना है।[147]

सुरेश्वर

सुरेश्वर शंकर के प्रमुख शिष्यों में से एक है। अपने गुरु की आज्ञान से उन्होंने भाष्यों पर वार्तिक लिखे हैं। इसलिए वे "वार्तिककार" के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनकी रचनाओं में बृहदारण्यकोपनिषद्-वार्तिक, तैत्तिरीय श्रुति-वार्तिक, ब्रह्मसूत्रभाष्यवार्तिक, वार्तिकसारसंग्रह, नैष्कर्म्य-सिद्धि, इष्टसिद्धि आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। डॉ. दासगुप्त के अनुसार ये 800 ई. में विद्यमान थे। जन्म और मृत्यु की तिथियाँ निश्चित नहीं हैं।

शंकराचार्य ने सुरेश्वर को अपने भाष्यों पर वार्तिक लिखने की स्वीकृति दी। इससे सिद्ध होता है कि वे शंकर के अद्वैत वेदान्त से भली-भाँति अवगत ही नहीं थे वरन् उसी में उनकी निष्ठा थी। फिर भी उन्होंने अपनी रचनाओं में अपनी स्वतंत्र प्रतिभा का परिचय दिया है। ऐसा प्रसिद्ध है कि उनके "नैष्कर्म्य-सिद्धि" ग्रन्थ की प्रशंसा स्वयं शंकराचार्य ने की थी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies (AAIS)

नैष्कर्म्य-सिद्धि चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में कर्म का विवेचन है। कर्म के द्वारा अधिक से अधिक अभ्युदय और चित्त-शुद्धि प्राप्त की जा सकती है, मुक्ति नहीं। उन्होंने जैमिनि के "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्"[148] अर्थात् वेद वाक्यों की सार्थकता क्रियापरत्व ही है अन्यथा नहीं— सूत्र पर अपना विरोध प्रकट किया और उसके खण्डन में अनेक तर्क दिये हैं।[149]

कुछ विद्वान् कर्म-ज्ञान समुच्चय सिद्धान्त को मानते हैं। शंकर ने भगवद्गीता-भाष्य में उसका खण्डन किया है। सुरेश्वर भी कर्म-ज्ञान-समुच्चय का विरोध करते हैं और अपने तर्क देते हैं।[150]

दूसरे अध्याय में आत्म-ज्ञान का लक्षण बताया गया है। अन्तःकरण के कारण नानात्व का आभास होता है और उसमें अहंता अनुभव होती है। आत्मज्ञान होने पर उस अहं-बुद्धि का लय हो जाता है।[151] अहं-बुद्धि न रहने पर मम-बुद्धि भी नहीं रहती है क्योंकि प्रथम के अधीन ही द्वितीय है। अंधकार के अभाव में भ्रांति का सर्प नहीं रह सकता है। "तमोऽभिभूतचित्तो हि रज्ज्वां पश्यति रोषणम्"[152] तम से अभिभूत चित्त ही रस्सी में सर्प (रोषण) देखता है।

तीसरे अध्याय में सुरेश्वर ने अज्ञान का विस्तृत विश्लेषण किया है और आत्म-चैतन्य से उसका सम्बन्ध बताया है। आत्मा और अनात्मा दो पक्ष हैं। अनात्मा अज्ञान की उत्पत्ति है। अतः अज्ञान अनात्मा पर आश्रित नहीं हो सकता है। उसे आत्मा पर ही आश्रित होना चाहिए। यहाँ सुरेश्वर स्पष्ट रूप से वाचस्पति मिश्र और मण्डन मिश्र से भिन्न मत रखते हैं। दोनों मिश्र जीव में ही अविद्या मानते हैं।[153] सुरेश्वर के अनुसार यह अविद्या सुषुप्ति में अपने शुद्ध रूप में उपलब्ध होती है। जागने पर वह अविद्या ही नानात्व का विजृंभण करती है। चौथे अध्याय में इन अध्यायों का सार है।

शंकर के उपरान्त अद्वैत वेदान्त की तीन धाराएँ हो गयीं, जिन्हें आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद कहते हैं। सुरेश्वर आभासवाद के समर्थक हैं। वे जगत् को आभासमात्र मानते हैं।[154] उनके अनुसार आन्तरिक और बाह्य जगत् की प्रतीति उसी प्रकार आभास है जैसे रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत अथवा कोई इन्द्रजाल की रचना की हो। उनके शब्दों में "क्रियाकारकफलात्मक आभासः"[155] अर्थात् क्रिया, कारक और फलरूप संसार आभास है। शंकर संसार की परिभाषा देते हुए कहते हैं— "क्रियाकारकफलभेदा हि संसारः"।[156] दोनों की तुलना करने से स्पष्ट है कि सुरेश्वर के मतानुसार संसार आभास है।

पद्मपाद

पद्मपाद शंकर के प्रधान शिष्य थे, इसलिए उन्हें डॉ. दासगुप्त ने सन् 820 ई. में विद्यमान माना है। उनका वास्तविक नाम सनन्दन था। इनका जन्म दक्षिण में तत्कालीन चोल प्रदेश में हुआ था। बाल्यकाल में अध्ययन के लिए काशी गये और वहीं शंकराचार्य से उनकी भेंट हुई। पद्मपाद ने उनसे संन्यास की दीक्षा ले ली। इस प्रकार ये शंकर के प्रथम शिष्य बने। बाद में ये गोवर्धन मठ के प्रथम आचार्य हुए।[157]

इनका ग्रन्थ "पंचपादिका" सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त उन्होंने विज्ञान-दीपिका, विवरण-टीका और पञ्चाक्षरी-भाष्य भी लिखा है। पद्मपाद ने पंचपादिका में ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार सूत्रों पर लिखे शंकरभाष्य की व्याख्या की है। पंचपादिका पर प्रकाशात्ममुनि का विवरण और उस विवरण पर अखण्डानन्द की तत्त्वदीपन नामक टीका मिलती है। डॉ. दासगुप्त ने पंचपादिका पर लिखी गयी अन्य कई व्याख्याओं का उल्लेख किया है।[158]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पद्मपाद ने शंकर के मत को भली-भाँति समझा और उसका समर्थन भी किया है, किन्तु उन्होंने अपनी प्रतिभा से अद्वैत-वेदान्त की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उसके फलस्वरूप "विवरण सम्प्रदाय" का उद्भव होता है। प्रकाशात्ममुनि ने जब पंचपादिका पर "विवरण" लिखा, तभी से विवरण सम्प्रदाय का नामकरण हो गया।

पद्मपाद के अनुसार माया, अव्याकृत, प्रकृति, अव्यक्त, तम, कारण, जय शक्ति, महासुप्ति, निद्रा, क्षर और आकाश सभी पद अविद्या के वाचक हैं। इसी से परिच्छिन्न होकर स्वयं-प्रकाशरूप ब्रह्म जीवभाव धारण कर लेता है। वह बुद्धि और प्राण की शक्तियों से कर्म करता हुआ सुख-दुःख भोगता रहता है। यह कर्त्ता-भोक्ता ही अहंकार रूप से अनुभव होता है। अहंकार और शुद्ध आत्मा का तादात्म्य, लाल जपा-पुष्प के सान्निध्य ये रंजित स्फटिक के समान ग्रन्थि बन जाता है।

प्रकाशात्म मुनि पद्मपाद के इस मत की विस्तृत व्याख्या करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि आश्रय और विषय ब्रह्म ही है। यहीं से वाचस्पति मिश्र का मतभेद प्रारम्भ हो जाता है। वे जीव को अविद्या का आश्रय और ब्रह्म को उसका विषय मानते हैं। इसी मतभेद के कारण अद्वैत वेदान्त के दो पृथक् सम्प्रदाय बन गये[159] और दोनों अपने-अपने मत के समर्थन में युक्तियाँ खोजने लगें।

पद्मपाद ने सम्भवतः प्रथम बार अविद्या को जडात्मिका माना और शंकर के "मिथ्या-ज्ञान-निमित्त" का अर्थ यह बताया कि अविद्या ही जड उपादान कारण है जिससे जगत्-आभास उत्पन्न हुआ। प्रकाशात्म ने तो अविद्या को भावरूप भी माना है।

विवरण सम्प्रदाय के अनुसार ईश्वर और जीव की व्याख्या प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से की गयी है। माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है और अविद्या या अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है। इन दृष्टान्तों से ईश्वर की एकता, जीवों की अनेकता और मूल में एक अविकारी चेतना का परिचय मिलता है। इस मत को प्रतिबिम्बवाद कहते हैं।[160]

वाचस्पति मिश्र

भारतीय दर्शन में वाचस्पति मिश्र का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने वैशेषिक को छोड़कर शेष पाँच दर्शनों पर टीकाएँ लिखी हैं। वे शंकर के ही समकालीन थे। "न्यायसूची निबंध" की रचना करते हुए उन्होंने उस वर्ष का नाम वस्वङ्कवसु बताया है जिसके अनुसार वह 898 विक्रमी और 842 ई. निर्धारित होता है।

वेदान्त दर्शन पर उनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं— "भामती" और "तत्त्व-समीक्षा"। तत्त्व-समीक्षा मण्डन की ब्रह्म-सिद्धि पर टीका है और वह अभी अप्रकाशित है। उनकी दूसरी रचना भामती अद्वैतवेदान्त के साहित्य में बहुत प्रसिद्ध और आदरणीय है। यह ब्रह्म-सूत्र शांकरभाष्य पर सब से पहली पूरी टीका है। इस पर अमलानन्द ने (1247-1260 ई.) "वेदान्त-कल्प-तरु" नाम से व्याख्या लिखी और फिर अप्पय दीक्षित ने (1600 ई.) उस पर भी टीका लिखी जिसका नाम है वेदान्त-कल्प-तरु-परिमल। इनके अतिरिक्त भामती और कल्प-तरु पर अन्य कई व्याख्याएँ भी लिखी गयी हैं।

भामती की अपनी विशिष्टता के कारण "भामती-सम्प्रदाय" ही प्रारम्भ हो गया जो "विवरण सम्प्रदाय" से पृथक् अपनी कुछ विशेष मान्यताएँ रखता है। वाचस्पति मिश्र की अपनी रचना शैली भी आकर्षक और उपयोगी है। वे मूल-ग्रन्थ की व्याख्या सत्यनिष्ठा के साथ करते हैं। उसकी संभाव्य सभी शंकाओं का समाधान करते हैं। जहाँ कहीं अन्य दर्शनों का संदर्भ होता है, वे उन पर अधिकार रखने के कारण सही रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिससे विभिन्न दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन हो जाता है।[161]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, AAIS(USA)

वाचस्पति मिश्र के अनुसार परम सत् के लक्षण "स्वप्रकाशता" और "अबाधिता" हैं। ये लक्षण प्रत्येक् आत्मा में ही हैं। अतः वही परम सत् है। उन्होंने नैयायिकों और बौद्धों की सत् विषयक परिभाषाओं का खण्डन किया है, जिनमें क्रमशः "सामान्य" और "अर्थ-क्रिया-कारित्व" को ही सत् माना गया है।

वे अज्ञान को दो प्रकार का मानते हैं। भामती के मंगलाचरण में परमात्मा को सम्बोधन करते हुए वे "अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य"[162] पद का प्रयोग करते हैं। अमलानन्द उसका तात्पर्य बताते हुए कहते हैं कि अविद्या दो प्रकार की है, एक तो "अनादिर्भावरूपा" और दूसरी "पूर्व-पूर्वविभ्रमसंस्कारः"। यह दोनों प्रकार की अविद्या अनिर्वाच्य है— "सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वाच्य"[163]— इसे सत् या असत् या सतसत् नहीं कहा जा सकता है। "सचिव" का अर्थ है सहकारी। सम्पूर्ण पद का अर्थ हुआ— "वह ब्रह्म जिसकी सहकारी दो प्रकार की अनिर्वचनीय अविद्या है"।

भावरूपा अनादि अविद्या का परिचय स्वयं वाचस्पति मिश्र देते हैं। "महाप्रलयसमयेनान्तःकरणादयः समुदारचरद् वृत्तयः सन्ति"[164] अर्थात् महाप्रलय के समय जीवों का अन्तःकरण लय हो जाता है, इसलिए उसमें वृत्तियों का उदय नहीं होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उस समय जीव का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है। "स्वकारणे निर्वाच्यायामविद्यायां लीनाः सूक्ष्मेण शक्तिरूपेण कर्मविक्षेपिकाऽविद्यावासनाभिः सहावतिष्ठन्तु एव"[165]— वह अन्तःकरण अपने कारणरूप अनिर्वाच्य अविद्या में लीन हो जाता है, उस समय सूक्ष्म रूप से और शक्तिरूप से कर्म का विक्षेप करने वाली अविद्या वासना के साथ स्थित रहती है। अपने इस मत के समर्थन में वे श्रुति भी उद्धृत करते हैं। अपनी अवधि समाप्त कर वे वासनाएँ कूर्म-अंग-विस्तार की भाँति व्यक्त होने लगती हैं। "पूर्ववासनावशात्पूर्वसमाननामरूपाण्युत्पद्यन्ते"[166]— पूर्व वासना के वशीभूत हुए पहले के समान ही नामरूप पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। यह सर्जन कार्य यद्यपि ईश्वर करता है किन्तु वह प्राणियों के कर्मानुसार ही सर्जन करता है। इस प्रकार सृष्टि प्रलय के चक्र रूप में संसार अनादि है।

यह भावरूपा अविद्या बहुत कुछ योगदर्शन की प्रकृति के समान है जिसमें प्रलयकाल में समस्त जगत् वस्तुएँ लीन हो जाती हैं। वाचस्पति की इस अविद्या से ही भावरूप प्रतीत होने वाला संसार निर्मित होता है। दूसरी अविद्या जो पूर्व-पूर्व विभ्रम संस्कार रूपा है। वह जीव में रहती है और शरीरादि में आत्म-भाव उत्पन्न करती है। इसी के कारण राग-द्वेष और कर्म में प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार अविद्या का आश्रय जीव है, जहाँ यह कार्य करती है और इसका विषय ब्रह्म है जिसे वह आच्छादन करती है। इस सम्प्रदाय में पद्मपाद के प्रतिबिम्बवाद का खण्डन कर अवच्छेदवाद की स्थापना की गयी है। इसके अनुसार ब्रह्म अविद्या की उपाधि से वैसे ही जीव भाव प्राप्त किया प्रतीत होता है जैसे घट की उपाधि से आकाश विभक्त होने की भ्रांति होती है।[167]

इन आचार्यों के अतिरिक्त सर्वात्ममुनि (9वीं शताब्दी) ने संक्षेपशारीरक, श्री हर्ष (12वीं शताब्दी) ने खण्डन खण्डखाद्य, चित्सुखाचार्य (13वीं शताब्दी) ने भाष्यभावप्रकाशिका एवं प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका, मधुसूदन सरस्वती (15वीं शताब्दी) ने अद्वैतासिद्धि, प्रकाशानन्द (15 वीं शताब्दी) ने वेदान्तासिद्धान्तमुक्तावली, सदानन्द (16 वीं शताब्दी) ने वेदान्तसार धर्मराजाध्वरीन्द्र (16 वीं शताब्दी) ने वेदान्तपरिभाषा और अप्पयदीक्षित (17वीं शताब्दी) ने सिद्धान्तलेशसंग्रह जैसे अद्वैत-वेदान्त के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर उसके साहित्य को समृद्ध किया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संदर्भ-सूचि

1. Six Systems of Indian Philosophy, Pp. 51-57.
2. पुरुष-सूक्त (ऋग्वेद 10.90.I)
3. "नासदासीन्तों सदासीत् तदानीम्"— नारदीय-सूक्त।
4. ऋग्वेद, .47.18.
5. बृ.उ., 2.5.19.
6. बृ.उ. शाङ्करभाष्य, 2.5.19.
7. तदिहास भुवनेषु ज्येष्ठं यतोजज्ञ उग्रसत्वेष नृम्ण,सामवेद 6.3.17.
8. यजर्वेद, 20.32.
9. अथर्ववेद-सायणभाष्य, 2.1.1.1.
10. श्वेताश्वतर उपनिषद् 1/1.
11. छान्दोग्य उपनिषद्, V, II, I.
12. बृहदारण्यक उपनिषद्, III, IV. I.
13. मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ बृ. उ. 4.4.19.
14. यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ कठ. उ. 2.1.10.
15. यदा ह्येवैष एकस्मिन्नु दरयन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तै. उ., 2.7.
16. यत्र नान्यत्पश्यति सभूमा यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम। छा.उ. 7.24.
17. छान्दोग्य उपनिषद्, 9.2.1.
18. बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.4.1. (आत्मैवेदमग्र आसीत्)
19. ऐतरेय उपनिषद्, 1.1.1. (आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्)
20. वही, 1.3.12.
21. वहीं, 3.1.3.
22. तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली, अनुवाक 1.
23. वही, शिक्षा वल्ली, अनुवाक, 66.
24. वही, ब्रह्मानन्द वल्ली, अनुवाक, 1.
25. वही, अनुवाक 6.
26. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 1.7.
27. वही, 2.2.15.
28. वही, 3.3.7.
29. वही, 4.4.4.
30. वही, 4.4.9.
31. वही, 4.4.10.
32. बृहदारण्यक उपनिषद् 2.3.6.
33. वही, 4.4.22.
34. वही, 2.4.12.
35. वही, 4.4.16.
36. वही, 4.4.20.
37. वही, 4.3.23.
38. वही, 4.4.19.
39. वही, 2.5.19.
40. वही, 4.5.7.
41. वही.
42. वही, 2.5.19.
43. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.2.1.
44. वही, 6.2.2.
45. वही, 6.1.4.
46. वही, 3.14.1.
47. वही, 6.8.4.
48. ईशावास्य उपनिषद्, 1.
49. वही, 4.
50. वही, 6.
51. वही, 7.
52. वही, 16.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, AAIS(USA)

53. केन उपनिषद्, 1.
54. वही, 4.
55. वही, 5.
56. कठ उपनिषद्, 1.2.16.
57. वही, 1.2.20.
58. वही, 2.1.4.
59. वही, 2.1.9.
60. वही, 2.1.10.-11.
61. वही, 2.2.9-10-11.
62. वही, 2.3.1.
63. प्रश्न उपनिषद्,4.11.
64. वही, 6.5.
65. वही.
66. मुण्डक उपनिषद्, 1.1.6.
67. वही, 1.1.7.
68. वही, 3.2.7.
69. वही, 3.2.9.
70. माण्डूक्य उपनिषद् 2.
71. वही, 12.
72. श्री मद्भगवदगीता, 8/3.
73. वही, 13/31.
74. वही, 13/32.
75. वही, 13/33.
76. वही, 14/27.
77. वही, 7.13-14.
78. वही, 7.17.
79. वही, 2.21.
80. वही, 15.17.
81. वही, 7.7
82. ब्रह्मसूत्र, 1.1.1.
83. वही, 2.1.14.
84. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.1.1.
85. ब्रह्मसूत्र, 3.2.3. (मायामात्रं तु कात्स्न्येन)।
86. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4.3.9.
87. ब्रह्मसूत्र, 3-2.8.
88. वही, 1.3.10.
89. वही, 1.3.8.
90. वही, 1.1.12.
91. वही, 1.1.24.
92. वही, 1.3.8.
93. निवृत्ते सर्वदुःखानाभीशानः प्रभुरव्ययः।
अद्वैतः सर्वभावानां देव स्तुर्यो विभुः स्मृतः॥(गौ. का. 1.10.)
94. प्रपञ्चो यदि विद्यते निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।
(गौ. का. 1.17.)
95. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बुद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।
(गौ. का. 2.32.)
96. गौ. का., 1.16.
97. गौ. का. 2.1 से 9.
98. वही, 2.16.
99. कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वामायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः॥ (वही, 2.12.)
100. वही, 4.31.
101. वही, 4.22.
102. वही, 4.23.
103. गौ. का., 4.40.
104. वही, 3.3.
105. गौ. का., 3.4.
106. वही, 3.5.
107. वही, 3.6.
108. वही, 3.10. और 11.
109. वही, 3.13.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

110. गौ. का., 3.19.
111. वही, 3.2.1.
112. Sri. Sangam Lal Pandey Pre-Shankara Advaita Philosophy. p.59.
113. श्री शंकराचार्य, बल्देव उपाध्याय, पृ. 42.
114. वही, पृ. 42-49.
115. Kuppuswami, Sri Bhagavadpada Shankaracharya, p. 21 and Dr. Radhakrishnan Indian Phil. Vol. II, p. 44
116. Ibid, p. 22.25.
117. Dr. S.N. Dasgupta, A History of Indian Philosophy, Vol. II. p. 84.
118. Dr. Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol. II, pp. 447 to. 450.
119. Dr. S.N. Dasgupta History of Indian Philosophy. Vol. II, p. 78.
120. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.2.1.
121. छान्दोग्य उपनिषद्, शांकर भाष्य, 6.2.1.
122. वही.
123. बृ. उ. शांकर भाष्य, 3.8.8.
124. ऐतरेय उपनिषद्, शांकर भाष्य, 2.1.
125. तैत्तिरीय उपनिषद्, 2.1.
126. तै. उ. शांकर भाष्य, 2.1.
127. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.1.6.
128. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, 1.1.2.
129. विवेक चूडामणि, 110.
130. वही, 111.
131. ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य, 1.2.6.
132. वही, 2.3.50.
133. वही, 1.1.5.
134. वही, 2.2.29 से 36.
135. वही, 2.3.43.
136. वही.
137. Dr. S.N. Dasgupta History of Indian Phil. Vol II, p. 87.
138. श्री बल्देव उपाध्याय, श्री शंकराचार्य, पृ. 88.
139. Dr. S.N. Dasgupta History of Indian Philosophy. Vol. II, p. 87,88.
140. "नानात्वे तु विविक्तस्वभावयोः असंसृष्टपरस्पर स्वरूपयोः असम्बद्धयोः कीदृशो द्रष्टदृश्यभावः"— मण्डन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि ब्रह्मकाण्ड, पृ. 8.
141. "तत्त्वेकस्यैवात्मनस्तथा तथा विपरिणामाद्विवर्तनाद्वा दर्पणतल इवात्मनः, तथा हि दर्पणतलस्थमात्मानं विभक्तमिवात्मनः प्रत्येति।" वही, पृ. 8.
142. "चिदेस्तु विभक्तमसंसृष्टं तथा चेत्यत इति दुःखगमम्"। वही पृ. 8.
143. "नाविद्या ब्राह्मणः स्वभाव नार्थान्तरम्, नात्यन्तमसती, नापि सती, एवमेवेयम-विद्या माया मिथ्यावभास इत्युच्यते। स्वभावश्चेत् कस्यचित्, अन्योऽनन्यो वा परमार्थ एवेति नाविद्या अत्यन्तासत्त्वे खपुष्पसदृशी न व्यवहाराङ्गम् तस्माद-निर्वचनीया"। वही, पृ. 8.
144. यत्तु कास्याविद्येतिः जीवानामिति ब्रभः। ननु च जीवा ब्रह्मणो भिद्यन्ते·····सत्यं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies (AAIS)

परमार्थतः कल्पना तु भिद्यन्ते। कस्य पुनः कल्पना भेदिका? न तावद् ब्राह्मणः,
तस्य विद्यात्मनः कल्पनाशून्यत्वात्,
नापि जीवानाम्, कल्पनायाः प्राक् तदभावात् इतरेतर आश्रयप्रसङ्गात्,-
कल्पनाधीनो हि जीवविभागः,
जीवाश्रया
कल्पनेति"। वही, पृ. 10.

145. "अनुपपद्यमानार्थैव हि माया"। वही, पृ. 10.
146. "अनादित्वादुभयोरविद्या जीवयोर्बीजाङ्कुर सन्तानयोरिव नेतरेतरा-
श्रयत्वमप्रक्लृप्तिमावहतीति वर्णयन्ति"। वही, पृ. 10.
147. Dr. S.N. Dasgupta, History of Indian Philosophy, Vol, II, p. 82.
148. नैष्कर्म्य-सिद्धि, 1.17.
149. वही, 1.23.
150. वही, 1.55 और उसके आगे।
151. वही, 2.30.
152. वही, 2.31.
153. Dr. S. N. Dasgupta, History of Indian Philosophy, Vol. II,p. 101.
154. बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक, पृ. 1245.
155. नैष्कर्म्य-सिद्धि, 2.75.
156. छान्दोग्य उपनिषद्, भाष्य, 7.24.1.
157. श्री बल्देव उपाध्याय, श्री शंकराचार्य, पृ. 180.
158. Dr. S.N. Dasgupta, History of Indian philosophy, Vol. II, p. 103.
159. Ibid., p. 105.
160. पंचदशी, 1.16 और 17.
161. Dr. S.N. Dasgupta, History of Indian philosophy, Vol. II, p. 108.
162. भामती, मंगलाचरण, 1
163. कल्पतरु, भामती, मंगलाचरण, 1
164. भामती,1.3.30.
165. वही.
166. भामती, 1.3.30.
167. वही, 1.2.6 (अनादि अविद्याऽवछेदलब्धजीवभावः)

■

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय 2

अद्वैत-वेदान्त की तर्कना-पद्धति

(1) पृष्ठभूमि

वैदिक-काल के ऋषियों का चिन्तन मुख्य रूप से दार्शनिक नहीं कहा जा सकता, किन्तु एकाधिदेववाद या एकदेववाद की उद्भावना के मूल में उनकी दृष्टि दर्शन की कुछ महत्त्वपूर्ण मान्यताओं से प्रभावित दिखाई देती है। उनकी दार्शनिक-दृष्टि का उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर आये हैं। वे नानात्वपूर्ण जगत् के मूल में एक परम सत् का दर्शन करते थे। उस सत् तक पहुँचने में अथवा उसका निर्वाचन करने में उन्होंने जिस तर्कना-पद्धति का प्रयोग किया उसे द्वन्द्वन्याय कह सकते हैं।

द्वन्द्वन्याय हमें अनेकता से एकता की ओर ले जाता है और फिर अनेकता को एकता पर आश्रित करता है या अनेकता का निषेध कर देता है। पुरुष-सूक्त में इसका प्रयोग स्थूल और दृष्टान्त रूप में हुआ है। परम तत्त्व की कल्पना एक पुरुष में की गयी है और सम्पूर्ण जगत् का नानात्व उस पुरुष के अंग माने गये हैं। यहाँ एकत्व और नानात्व के बीच अंग-अंगी सम्बन्ध है। अंग जैसे अंगी पर आश्रित होते हैं और अंगी में एकत्व का बोध रहता है, वैसे ही पुरुष-सूक्त के रचयिता के मतानुसार जगत् के नानात्व के मूल में एक परम तत्त्व है। वह तत्त्व अमृत स्वरूप अर्थात सत् है। "पादोस्य विश्वा भूतानि मिपास्यिामृतं दिवि"।[1] उसके चतुर्थांश में समस्त विश्व और प्राणियों का नानात्व है और उसके शेष तीन अंश अमृत स्वरूप और दिव्य हैं।

नासदीय-सूक्त में द्वन्द्वन्याय का प्रयोग अधिक विकसित रूप में हुआ है। इसमें परम तत्त्व की एकता और विशिष्टता का अधिक सफलतापूर्वक निरूपण हुआ है। उसका रचयिता कहता है "नासदासीन्नोसदासीत्तदानी"[2]— तब वहाँ न असत् था और न सत् ही था और वह फिर इस निर्णय पर पहुँचता है— "आनीदवातं स्वधया तदेकं"[3]— तब केवल एक था जो वायु के विना अपने में स्वयं श्वांस लेता था। "तस्माद्वान्यन्न परः किं चनास"[4] — उससे पृथक् और परे कुछ भी नहीं था।

इस विवेचन में द्वन्द्वन्याय स्पष्ट उपलब्ध है। सत् और असत् पक्ष और विपक्ष है तथा "तदेकं" उन दोनों के परे और उन दोनों में व्याप्त है। ऋषि ने द्वन्द्वन्याय के द्वारा उस एक का प्रतिपादन तो किया किन्तु उसे इसका भी ज्ञान था कि वह किसी देवता आदि के द्वारा ज्ञेय नहीं है। "को अद्धा वेद क इह"[5] — कौन जानता था कि वह क्या था। देवता आदि तो सब उसके बाद की उत्पत्ति (अर्वाग्देवा) हैं।[6] सम्भव है वह (चेतन होने के कारण) अपने आपको जानता हो अथवा वह (ज्ञान के उपकरण न होने के कारण) न भी जानता हो।[7] इस ज्ञेय-अज्ञेय की समस्या का समाधान यहाँ अधूरा रह गया और उपनिषदों के ऋषियों के लिए एक चुनौती बन गया।

वैदिक सूक्तों के ऋषियों की अपेक्षा उपनिषदों के ऋषि अधिक स्पष्ट चिन्तन करने वाले थे और सूक्ष्म रूप से परम तत्त्व का निरूपण कर सकते थे। उनकी उद्घोषणाओं का आधार उनकी आन्तरिक अनुभूतियाँ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indian Studies and eGangotri

थी। उनके चिन्तन में तर्क का स्थान नीचे उतर कर दूसरे स्तर का था। डॉ. दासगुप्त के अनुसार तर्क का कार्य केवल अनुभूत सत्य को व्यक्त करना था।[8]

फिर भी, उपनिषदों की दार्शनिक चिन्तन-विधि का अध्ययन करने पर प्रो. आर.डी. रानाडे ने यह निष्कर्ष निकाला कि उसमें दस प्रकार की विचार-विधियों का प्रयोग किया गया है।[9] संक्षेप में वे इस प्रकार हैं— (1) कूट विधि (Enigmatic Method), जैसे— श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि ने ध्यान योग का अनुवर्णन कर उस परमात्मा को जो एक नेमि, तीन वृत, सोहल अन्न, पचास अरों, बीस प्रत्यरों, छः अष्टकों, विश्वरूप एकपाश, तीन मार्गों तथा पाप-पुण्य दोनों के निमित्तभूत एक मोह वाला कारण है।[10] (2) सूत्र विधि, जैसे— माण्डूक्य उपनिषद्। (3) धात्वर्थ विधि (etymological method), जैसे— स्वपिति का अर्थ "सता संपन्नों भवति" या "स्वमपीतो भवति"— सत् से सम्पन्न हो जाता है, अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।[11] (4) पौराणिक विधि (mythical method), जैसे— केन उपनिषद् में यक्ष की कहानी के द्वारा बताया गया है कि विनम्रता के बिना कोई ब्रह्म का ज्ञान नहीं पा सकता। (5) दृष्टान्त विधि (analogical method) जैसे— जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्र में नामरूप त्याग कर एक हो जाती हैं उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से मिलकर एक हो जाता है।[12] (6) द्वन्द्वन्याय विधि (dialectical method) यह प्रश्नोत्तर विधि है जैसे— राजा जनक के दरबार में याज्ञवल्क्य, गार्गी, शाकल्प आदि का सभी से वाद-विवाद।[13] (7) समन्वय विधि (synthetic method), अश्वयति कैकय ने यही विधि अपनाकर सृष्टि-विज्ञान के छः मतों में समन्वय किया। (8) स्वतः सम्वाद विधि (monological method), जैसे— अन्तर्यामी-बाह्मण में याज्ञवल्क्य के भावों की अभिव्यक्ति (9) यथावसर विधि (Adhoc method), जैसे— इन्द्र और विरोचन को प्रजापति आत्मज्ञान एक-एक अंश में कई बार देते हैं।[14] (10) प्रतिगमन विधि (Regressive method),— एक प्रश्न के समाधान के साथ अनेक प्रश्नों की उत्पत्ति होती है; जैसे जनक और याज्ञवल्क्य सम्वाद।[15]

प्रो. रानाडे के अनुसार उपनिषदों मे तत्त्व-विवेचन की विविध विधियाँ अपनायी गयी हैं, किन्तु उन्होंने द्वन्द्वन्याय की विधि को सम्वाद मात्र मानकर न्याय नहीं किया है। हम देखेंगे कि उपनिषदों की तर्कना-पद्धति एक विशेष प्रकार के द्वन्द्ववाद का प्रयोग करती है। वह भले ही प्लेटो और हीगल के द्वन्द्वन्याय से साम्य न रखती हो, किन्तु उसमें द्वन्द्वन्याय के तत्त्व अवश्य विद्यमान है।

नासदीय-सूक्त का "तदेकं" उपनिषद् के ऋषियों के सामने एक पक्ष के रूप में विद्यमान था। उसके विपरीत उन्हें विपक्ष के रूप में जगत् का "नाना" प्राप्त हुआ। यह एक और नाना का भाव सापेक्ष है। दोनों में से एक भी निरपेक्ष परम सत् नहीं हो सकता है। अतः इन दोनों के मूल में विद्यमान "अद्वैत"[16] परम सत् निर्धारित किया गया। यह अद्वितीय एक और अनेक की सापेक्षता से मुक्त और दोनों का आश्रय है।

उपनिषद् वैदिक-सूक्तों के प्रभाव से मुक्त नहीं थे। अतः वे उस अद्वितीय वस्तु को "एकमेवाद्वितीय" भी कहते हैं। श्री संगम लाल पाण्डेय के अनुसार यह द्वन्द्वन्याय अगली सीढ़ियों पर अद्वैत और द्वैत से अनन्त पर, अनन्त और सान्त से भूमा पर, भूमा और अल्प से ब्रह्म पर, ब्रह्म से अहं से तत्त्व पर और तत्त्व तथा विषय-विषयी भाव से आत्मा पर पहुँचा है। उसी को सम्बोधन कर "एतद्वैतद", "सोऽहमस्मि", "तत्त्वमसि", "अयम् आत्माब्रह्म" आदि उद्घोषणाएँ की गयी हैं।[17]

श्री पाण्डेय उपनिषदों के द्वन्द्वन्याय की हेगेलीय रूप देने के प्रलोभन में उसे कई सोपानों में विकसित होते हुए देखते हैं, किन्तु इस सम्भावना पर ध्यान नहीं देते कि प्रत्येक उपनिषद् का ऋषि एक ही द्वन्द्वन्याय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विधि को अपने ढंग से प्रयोग में लाता है और वह अपने सामने वर्तमान किसी दो साक्षप पक्षों को लेकर निरपेक्षता के स्तर तक उठना चाहता है और निरपेक्ष सत् को, नामरूप विहीन होते हुए भी अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से एक नाम देता है। उस नाम के प्रति उनका आग्रह नहीं है।

उपनिषदों के द्वन्द्वन्याय की सब से बड़ी विशेषता परम सत् में विरोधी लक्षणों का आरोप या निषेध करना है। इस प्रकार के द्वन्द्वन्याय का अन्वेषण और विकास नासदीय-सूक्त के "न सत्— न असत्" निर्वचन से हुआ और सफलतापूर्वक विकसित होकर अनिर्वचनीय सत् के निर्वचन में समर्थ हुआ है। उदाहरण के रूप में, ईश उपनिषद् कहता है, "वह (परम सत्) अपने स्वरूप से विचलित न होने वाला, किन्तु मन से तीव्र गति वाला है। इसे इंद्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं क्योंकि यह उन सब से पहले (आगे) गया हुआ (विद्यमान) है। वह स्थिर होने पर भी अन्य सब गतिशीलों को अतिक्रम कर जाता है।[18] पुनः "वह चलता है और नहीं भी चलता है। वह दूर है और समीप भी है। वह सब के अन्तर्गत है और वही सब के बाहर भी है।"[19]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उपनिषदों का द्वन्द्वन्याय परम तत्त्व के निरूपण में ही नियुक्त रहा है। उसकी प्रवृत्ति खण्डनात्मक नहीं है या बहुत कम है, किन्तु उनके बाद की रचनाओं में इसका खण्डनात्मक रूप उग्रता धारण करता गया। प्राचीन दार्शनिकों में गौडपाद और आधुनिक दार्शनिकों में श्रीहर्ष, चित्सुख आदि इसे खण्डन का तीक्ष्ण अस्त्र बना लेते हैं।

वादरायण ब्रह्मसूत्रों में जो तर्कना-पद्धति प्रयोग में लाते हैं, वह उपनिषदों से भिन्न है। इसे "पक्षिांति-निरूपण" विधि [20] कह सकते हैं। इस विधि में समस्त सम्भावित विपरीत मतों का खण्डन कर प्रतिपाद्य विषय को प्रमाणिक मान लिया जाता है। सांख्य के अचेतन-कारणवाद का खण्डन कर ब्रह्मसूत्र में चेतनकारणवाद की स्थापना इसी विधि से की गयी है। उसके अनुसार अचेतन वस्तु से जगत् की उत्पत्ति इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि श्रुतियों के अनुसार जगत् का कारण ईक्षण-कर्त्ता है। (सूत्र 1.1.5), उसके लिए आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है। (सूत्र 1.1.6), उसके ज्ञान से मोक्ष का उपदेश है (सूत्र 1.1.7), उसे हेय नहीं कहा गया है (सूत्र 1.1.8) वह सत् शब्द वाच्य है (सूत्र 1.1.9) सब वेदान्तों का कारण ज्ञान समान है। (सूत्र 1.1.10)। इस प्रकार चेतनकारणवाद का यह प्रतिपादन शंकर की दृष्टि में न्यायपूर्वक प्रतिपादन (न्यायपूर्वकं प्रतिपादितम्) है।[21]

ब्रह्मसूत्र के तर्क का प्रयोग वेदान्त से पृथक् सांख्य आदि के मतों का खण्डन करने के लिए भी किया गया है। यह खण्डनात्मक प्रयोग उसके दूसरे अध्याय में देखने में आता है। उदाहरण के लिए, स्मृतियों की प्रमाणिकता का प्रश्न उठता है।[22] पूर्वपक्ष कहता है कि यदि ब्रह्म को जगत् का कारण माना जाता है तो कपिल प्रणीत सांख्य स्मृति में अनवकाश दोष आ जायगा अर्थात् वह व्यर्थ हो जायगी। कपिल जैसे शिष्ट पुरुष द्वारा प्रणीत होने के कारण यह उचित नहीं है। इसके उत्तर में वादरायण कहते हैं कि यदि सांख्य स्मृति का आदर किया जाये तो मनुस्मृति आदि अन्य स्मृतियों में अनवकाश दोष आ जायगा, क्योंकि वे ब्रह्म को ही जगत् का कारण मानती हैं। अतः वही स्मृति आदरणीय है, जो श्रुति के अनुकूल है। सांख्य स्मृति श्रुति के विरुद्ध है। यदि उसमें अनवकाश दोष आ जाये तो कोई हानि नहीं है।

ब्रह्मसूत्र के इसी अध्याय में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, जैन, बौद्ध, आदि मतों का खण्डन किया गया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भगवद्गीता में परम तत्त्व के विषय में सामान्य रूप से उद्घोषणाएँ मात्र हैं। कई स्थानों में उपनिषदों के श्लोक ही उद्धृत कर दिये गये हैं अथवा उपनिषद् के भाव पुनः श्लोकबद्ध कर लिये गये हैं। तर्क देने की आवश्यकता नहीं समझी गयी है।

परमात्मभाव में स्थित श्रीकृष्ण कहते हैं— "माया ततमिदं सर्वं"[23]— यह समस्त जगत् मुझ से ही परिपूर्ण है। यहाँ सब कुछ मैं ही हूँ। "अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन"[24]— मैं अमृत (अविनाशी) और मृत (विनाशी) तथा सत् और असत् दोनों ही हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि परम तत्त्व वह वस्तु है जो सत् और असत् दोनों रूपों में व्यक्त हो रही है और वह स्वयं न सत् है और न असत्। उनका स्पष्ट उल्लेख करते हुए कहा है— "अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्येत"[25] — अनादि परब्रह्म न सत् कहा जा सकता है और न असत्। सत् और असत् सापेक्ष और विरोधी हैं। निरपेक्ष तत्त्व इन दोनों से परे और इनका आश्रयभूत है।

उस निरपेक्ष तत्त्व के प्रतिपादन के लिए भगवद्गीता में विरोधी लक्षणों का प्रयोग उसी प्रकार किया गया है, जैसे उपनिषदों में मिलता है। प्रायः शब्दों की योजना भी वहीं से ली गयी है। "वह दूर है और अत्यन्त निकट भी है"[26] तथा "वह अविभक्त रहता है किन्तु प्राणियों में विभक्त-सा है"[27] आदि।

(२) गौडपादाचार्य की तर्कना-पद्धति

गौडपाद के जीवन-काल तक दर्शन की सभी शाखाओं में पर्याप्त विकास हो चुका था, अतः खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया में तर्क का आश्रय लेना स्वाभाविक था। बौद्ध-दर्शन की माध्यमिक शाखा ने समस्त अन्य दर्शनों में अन्तःव्याघात दिखाने के लिए चतुष्कोटि न्याय का सर्जन किया। इस पृष्ठभूमि में गौडपाद ने अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में चिन्तन किया और उसे रहस्य की कोटि से उतार कर दर्शन में आलोक में ला खड़ा किया।

गौडपाद को इस कार्य में द्वन्द्वन्याय से बड़ी सहायता मिली। द्वन्द्वन्याय तर्क की वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा परम तत्त्व का ज्ञान होता है। डॉ. एडवर्ड केयार्ड के अनुसार "यह विरोधी दर्शन-पद्धतियों के विभाजन के मध्य पूर्वमान्य एकत्व के सिद्धान्त की ओर ले जाता है जिससे एक ऐसा समुच्चयी प्रत्यय प्राप्त हो सके जिसमें समस्त विरोध और नानात्व समा सकें।"[28] इस प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए द्वन्द्वन्याय नानात्व को मिथ्या सिद्ध करता है और विभिन्न मतों को बौद्धिक प्रकल्पना मात्र मानता है।

गौडपाद के दर्शन में द्वन्द्वन्याय इस कार्य में पूर्णता सफल रहा। उसके द्वारा जहाँ एक ओर अद्वैत का प्रतिपादन हुआ, वहीं दूसरी ओर जगत् का अजातवाद सिद्ध हो गया। अन्य किसी दर्शन-पद्धति में द्वन्द्वन्याय को यह पूर्णता नहीं मिली। अधिकांश दर्शन द्वैतवादी हैं, वे पदार्थों की सत्ता मानते हैं और एक अंतिम सत् तक नहीं पहुँच पाते। नागार्जुन ने समस्त पदार्थों का निषेध कर द्वन्द्वन्याय का एकपक्षीय प्रयोग किया, किन्तु वे सब का समन्वयकारी परम तत्त्व नहीं खोज पाये। उनका "अद्वय" उनके एकपक्षीय द्वन्द्वन्याय का सूचक है। इसके विपरीत गौडपाद का "अद्वैत" वह परम सत् है जिसमें समस्त नानात्व समाहित हो जाते हैं और उन्हें किसी से विरोध नहीं होता।[29] अन्य सब मत कल्पित या वैतथ्य हैं। "न पृथक् नापृथक् किंचित्"[30]— कोई भी वस्तु न तो परम तत्त्व से पृथक् है और न अपृथक् हैं वह सब आभास मात्र है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जगत् के नानात्व को आभास सिद्ध करने के लिए गौडपाद उसकी तुलना स्वप्न से करते हैं। जैसे स्वप्न मनःकल्पित है, इसलिए मिथ्या है, वैसे ही जगत् भी मनःकल्पित है और मिथ्या है।[31] इसके अतिरिक्त, जो आदि और अन्त में नहीं है वह वर्तमान में भी वैसा ही है। ये पदार्थ-समूह असत् के समान होकर भी सत् - जैसे दिखाई देते हैं।[32] इतना ही नहीं, "अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, नास्ति-नास्ति, ये क्रमशः चल, स्थिर, उभयरूप और अभावरूप चार कोटियाँ हैं, जिनसे अस्पृष्ट परम तत्त्व अद्वितीय और असंग है।"[33]

ब्रह्मसूत्र के अनुसार ब्रह्म जगत् का कारण है, किन्तु गौडपाद का द्वन्द्वन्याय न जगत् की सत्ता मानता है और न ब्रह्म को उसका कारण। अजन्मा ब्रह्म से कुछ उत्पन्न ही नहीं हो सकता। अजन्मा से किसी वस्तु के जन्म होने का कोई दृष्टान्त नहीं है।

(३) शंकर का द्वन्द्व न्याय

बौद्धों के तर्क-जाल का जितना प्रभाव गौडपाद पर था उतना शंकर पर नहीं रह गया। "शंकर ने गौडपाद के निर्णय स्वीकार कर लिये,किन्तु उनके द्वन्द्वन्याय को अपने मत-प्रतिपादन में प्रयुक्त नहीं किया। उन्होंने केवल अन्य मतों का खण्डन करने के लिए द्वन्द्वन्याय का प्रयोग किया।"[34] शंकर के लिए उपनिषदों की शिक्षा स्वतः प्रमाण थी। यदि कहीं उपनिषदों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय से भिन्न कोई मत भ्रम उत्पन्न करता था तो शंकर ने वहाँ तर्क का सहारा लेकर उनके बीच एकवाक्यता लाने का प्रयास किया।

शंकर के अनुसार शब्द प्रमाण सर्वोपरि है। तर्क उससे नीचे दूसरी कोटि का है। यही दृष्टि उपनिषदों के ऋषियों की भी थी। परम सत् का ज्ञान तर्क या द्वन्द्वन्याय से नहीं हो सकता।[35] शंकर को जहाँ तक निभ्रान्त वेदान्त-वचन मिलता है, वे तर्क की आवश्यकता नहीं समझते। यदि उपनिषदों के वचनों में ही विरोध दिखाई देता है तो वे तर्क के द्वारा अद्वैत परक अर्थ निर्धारित करते हैं।

ब्रह्मसूत्र में "तर्काप्रतिष्ठानात्"[36] पर भाष्य लिखते हुए शंकर कहते हैं— "निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्र निबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठा भवन्ति" श्रुति का आश्रय लिये विना केवल पुरुष कल्पना मूलक तर्क प्रतिष्ठित नहीं होते। वे तर्क तो कल्पना मात्र होते हैं और कल्पना निरंकुश होती है। एक व्यक्ति के द्वारा दिये गये तर्कों को दूसरा व्यक्ति आभासमात्र सिद्ध कर सकता है। दूसरे व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्क तीसरे से निरस्त हो जायेंगे। इसलिए तर्क के द्वारा किसी अंतिम निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता।

शंकर के इस मत पर जो आक्षेप हो सकते हैं, उनके प्रति वे सावधान हैं और उनका खण्डन भी करते हैं। लोक व्यवहार में भले ही तर्क उपयोगी हो या उसकी प्रतिष्ठा हो किन्तु परमार्थ वस्तु में तर्क का निर्णय अंतिम नहीं हो सकता। अतः यदि उपनिषद् "सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म" घोषित करते हैं तो शंकर उसी रूप में मान लेने का आग्रह करते हैं। ब्रह्म को सत्य स्वीकार कर लेने पर जगत् जैसा भासित होता है, सत्य नहीं हो सकता है। उसे इन्द्रजाल की रचना या मायिक होना ही चाहिए। शंकर जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए कभी उस प्रकार तर्कों का प्रयोग नहीं करते जैसे गौडपाद या माध्यमिक करते हैं। उनकी दृष्टि में इतना ही तर्क पर्याप्त है कि यदि ब्रह्म या परमात्मा सत्य है तो शेष सब नानात्व मिथ्या ही होना चाहिए।

शंकर अपने तर्क सीधे संसार को मिथ्या सिद्ध करने की अपेक्षा संसार को सत्य मानने वालों के मत का खण्डन करने में लगाते हैं। वे उनके मत में स्वतः व्याघात-प्रदर्शन कर उसे अप्रतिष्ठित घोषित कर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

देते हैं। यही शंकर का द्वन्द्वन्याय उपयोगी सिद्ध होता है। उन्होंने मीमांसा, सांख्य आदि दर्शनों में ही नहीं वरन् बौद्धों के विषयिनिष्ठवाद और शून्यबाद में भी, उन्हीं से ग्रहीत द्वन्द्वन्याय के द्वारा, अन्तःव्याघात दिखाया है। तर्क की सब से सुन्दर और प्रभावशाली पद्धति यही हो सकती है कि प्रतिवादी तर्क के जिस अस्त्र का प्रयोग करे, उसके द्वारा उसी के मत का खण्डन कर दिया जाय।

उदाहरण के लिए, हम परमाणुवाद पर शंकर के द्वन्द्वन्याय का प्रयोग देखेंगे।[37] परमाणु प्रवृत्ति स्वभाव वाले, निवृत्ति स्वभाव वाले, उभय स्वभाव वाले अथवा अनुभव स्वभाव वाले माने जा सकते हैं। इन चार के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं हो सकती। इन चारों में कोई प्रकार उत्पन्न नहीं होता है। प्रथम, प्रवृत्ति स्वभाव होने पर परमाणु नित्य प्रवृत्त रहने से प्रलय का अभाव प्रसंग होगा। दूसरे, निवृत्ति स्वभाव के होने पर परमाणुओं से सृष्टि का अभाव प्रसंग होगा। तीसरे, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों स्वभाव युगपत होने पर परस्पर विरुद्ध होने के कारण असंगत है। चौथे, यदि प्रवृत्ति और निवृत्ति उभय स्वभाव न मानें तो किसी अन्य कारणवश प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वीकार करने में अदृष्ट आदि निमित्त के नित्य सन्निहित होने पर भी नित्य-अप्रवृत्ति प्रसंग होगा। इससे भी परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है।

शंकरोत्तर अद्वैत-वेदान्त

हम देख चुके हैं कि शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में, कुछ उपनिषदों और माण्डूक्यकारिका-भाष्य में द्वन्द्वन्यात्मक आलोचना पद्धति अपनायी थी, किन्तु उन्हें तर्क में अधिक निष्ठा नहीं थी। शंकर के उपरान्त उनके कुछ शिष्यों तथा अन्य अद्वैतवादी दार्शनिकों में द्वन्द्वन्यायात्मक तर्कना-पद्धति विशेष रूप से देखने में आती हैं। शंकर के शिष्यों में मण्डन मिश्र अद्वितीय हैं। उनसे आनन्दबोध, श्रीहर्ष, आनन्दज्ञान, चित्सुख, नृसिंहाश्रम आदि प्रायः सभी प्रभावित दिखाई देते हैं।

(1) मण्डन मिश्र—ब्रह्मसिद्धि मण्डन की प्रमुख रचना है। इसमें उन्होंने अपनी द्वन्द्वन्यात्मक तर्क-पद्धति का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। ग्रन्थ के दूसरे अध्याय का नाम ही "तर्ककाण्ड" है। इसमें उन्होंने प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाले भेद का बलपूर्वक निषेध किया है। तर्ककाण्ड का प्रारम्भ इस आपत्ति से होता है— "भेद प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है और प्रत्यक्ष प्रमाण ही मुख्य हैं, अतः श्रुतियों के अर्थ की कल्पना उसी के अनुसार करनी चाहिए।"[38]

इसके उत्तर में मण्डन सिद्ध करते हैं कि प्रत्यक्ष के द्वारा भेद सिद्ध नहीं होता। इसलिए उपनिषदों का एकत्व, जैसे— "एक एवायमद्वितीयः" प्रत्यक्ष का विरोधी नहीं है।[39] अपने मत को सिद्ध करने के लिए मण्डन प्रत्यक्ष का विश्लेषण करते हैं। प्रत्यक्ष के तीन विकल्प सम्भव हैं— (1) वस्तुस्वरूप विधिः, (2) वस्त्वन्तस्य व्यवच्छेदः, (3) उभयं वा।[40]

वस्तुस्वरूप विधि का अर्थ है प्रत्यक्ष के द्वारा किसी वसतु का अस्तित्व ज्ञान होना, जैसे यह घट है।[41] अन्य वस्तु से व्यवच्छेद का अर्थ है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भिन्न ज्ञान होता है, जैसे यह पट नहीं है। उभय का तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तु का अस्तित्व अन्य वस्तुओं से भिन्नता, ये दोनों ज्ञान होते हैं।[42]

तीसरे विकल्प "उभयथा" के पुनः तीन विकल्प हो सकते हैं— (1) युगपत्, (2) व्यवच्छेदपूर्वक विधि अथवा (3) विधि पूर्वक व्यवच्छेद। प्रत्यक्ष यदि युगपत् हो तो वस्तु "घट" के होने और "पट" से भिन्न होने का ज्ञान एक साथ होगा। यदि व्यवच्छेदपूर्वक विधि का प्रत्यक्ष होता है तो पहले वस्तु "घट"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का ज्ञान होगा फिर "पट" से उसके भिन्न होने का ज्ञान होगा। यदि विधिपूर्वक व्यवच्छेद का प्रत्यक्ष होता है तो पहले "पट" से भिन्न होने का ज्ञान और फिर "घट" का ज्ञान होगा।[43]

यह विभाजन मण्डन इसलिए करते हैं कि प्रत्यक्ष में यदि वस्तु से व्यवच्छेद गोचर होता है अथवा वस्तु और उसका अन्य वस्तु से व्यवच्छेद दिखाई देता है, तब तो भेद प्रत्यक्ष गोचर हुआ और उसका उपनिषद् के एकत्व से विरोध होगा किन्तु इसके विपरीत यदि यह सिद्ध हो कि प्रत्यक्ष से वस्तुस्वरूपविधि ही गोचर होती है और वह समस्त व्यवच्छेद से रहित होती है, तो प्रत्यक्ष के द्वारा भेद का ज्ञान होना प्रमाणित नहीं होगा। व्यवच्छेद के बिना भेद सिद्ध नहीं हो सकता। अतः इस स्थिति में एकत्ववादी शास्त्र से प्रत्यक्ष का कोई विरोध न होगा।[44]

मण्डन इस दूसरे विकल्प को ही सत्य सिद्ध करते हैं। "न तावद्व्यवच्छेद मात्रं प्रत्यक्षं व्यापारः"[45]— व्यवच्छेद मात्र प्रत्यक्ष का व्यापार नहीं है। ऐसा सम्भव नहीं है कि वस्तु का ज्ञान न हो और केवल भेद ही प्रत्यक्ष गोचर हो। जिस वस्तु से भेद का ज्ञान हो वह वस्तु विशेष पहले ज्ञात होनी चाहिए। "न युगपदुभयम्"[46] व्यवच्छेद और विधि का एक साथ भी ज्ञान नहीं हो सकता है। यह दूसरा विकल्प भी संभव नहीं है। मण्डन इसे भी निरस्त करते हैं। कारण यह है कि प्रत्यक्ष की क्रिया में एक बार में एक ही बोध हो सकता है। "न व्यवच्छेदपूर्वकं विधानम्"[47]— न विधि के पहले व्यवच्छेद का प्रत्यक्ष हो सकता है। इस स्थिति में प्रथम विकल्प का ही तर्क लागू होता है। पहले क्षण में व्यवच्छेद का बोध हो और दूसरे क्षण में वस्तु का बोध हो, तो यह मानना पड़ेगा कि वस्तु का बोध हुए विना ही व्यवच्छेद का बोध हो सकता है जिसका निराकरण ऊपर कर चुके हैं।

इन तीन विकल्पों का निषेध करने के उपरान्त केवल यही दो विकल्प शेष रहे कि प्रत्यक्ष में केवल वस्तु गोचर होती है या वस्तु गोचर होने के बाद भेद गोचर होता है। इन दोनों विकल्पों में प्रत्यक्ष के प्रथम एक क्षण में वस्तु का बोध होता है, यह स्वीकार किया गया है। यही सत्य है। मण्डन यही सिद्ध करना चाहते थे कि प्रत्यक्ष में केवल वस्तु का बोध होता है। वस्तु के बोध के उपरान्त भेद का भी बोध होता है, इसका निराकरण करने के लिए अलग तर्क देंगे।

भेद द्विविध वस्तुओं के बीच का सम्बन्ध है, जैसे गाय और घोड़े में भेद अथवा किसी वस्तु के होने और न होने का भेद; जैसे घट नहीं है। दोनों ही प्रकार के भेद में प्रतिषेध विद्यमान है। "यह गाय है घोड़ा नहीं" अथवा "यहाँ घट नहीं है"। घोड़ा नहीं है, घट नहीं है— इस प्रकार का प्रतिषेध कैसे सम्भव है? मण्डन इस पर विचार करते हुए कहते हैं— "न प्रतिषेध्यात् प्रतिषेधविषयाच्च विना प्रतिषेधोऽवकल्पते"[48]— प्रतिषेध्य और प्रतिषेध-विषय के विना प्रतिषेध की कल्पना नहीं हो सकती। उदाहरण में गाय और घोड़े दोनों हों, तब कहा जा सकता है कि गाय है घोड़ा नहीं। घोड़ा जैसी कोई वस्तु न हो तो प्रतिषेध नहीं हो सकता है। "सिद्धरूपमेव निषिध्यते"— सिद्ध रूप वस्तु का ही निषेध होता है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि क्या आकाश-कुसुम जैसी अत्यन्त असत् वस्तुओं का निषेध नहीं हो सकता है? इसके उत्तर में मण्डन कहते हैं कि आकाश और कुसुम दोनों सिद्ध वस्तुएँ हैं। मिथ्या केवल दोनों का सम्बन्ध है। इसलिए आकाश-कुसुम का निषेध हो सकता है। अत्यन्त असत् वस्तु की सिद्धि ही नहीं होती है।[49] अतः उसके निषेध का प्रश्न भी नहीं उठता है।

कुछ लोग अपनी बुद्धि में किसी वस्तु का रूप प्राप्त कर उसका बाहर निषेध करते हैं।[50] यहाँ भी वस्तु बुद्धि-लब्ध है। तभी उसका निषेध सम्भव है। यदि वस्तु बिल्कुल असत् है तो वह शून्यता प्राप्त कर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of India Studies, AAIS(USA)

लेगी और उसका किसी वस्तु से भेद नहीं हो सकता है। उसका सर्वत्र सब वस्तुओं से भेद एक समान निषिद्ध रहेगा (सर्वस्य सर्वत्राविशेषण निषेधात्)। अतः निर्णय यह है कि यदि दो वस्तुओं में एक दूसरे से पृथक् होने का भेद है तो जिन वस्तुओं के बीच भेद है; वे पहले ज्ञात होनी चाहिए (स भेद्यवोः सिद्धिमपेक्षते)।[51]

अब एक विकल्प शेष रह गया— "विधिपूर्वक व्यवच्छेद"। पहले वस्तु का प्रत्यक्ष हो, फिर अन्य वस्तुओं से उसका व्यवच्छेद हो। मण्डन इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान क्रमिक होता है, एक प्रत्यक्ष में दो वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता और एक प्रत्यक्ष ज्ञान में दूसरा ज्ञान संनिहित भी नहीं होता है।[52] प्रत्यक्ष एक ज्ञान व्यापार है। इसमें दो ज्ञान विधि और व्यवच्छेद एक क्षण में नहीं हो सकते हैं। कारण यह है कि "क्षणिकत्वात्" ज्ञान क्षणिक है। यदि कहा जाय कि क्षणिक होने पर भी एक के उपरान्त दूसरा ज्ञान क्रम से हो सकता है, तो इसके उत्तर में मण्डन कहते हैं कि दूसरी वस्तु का ज्ञान दूसरे ही प्रत्यक्ष से होगा, क्योंकि दोनों में व्यवधान (व्यवधानात्) है। इस विवेचन का निर्णय यह हुआ कि प्रत्यक्ष में एक क्षण में एक ही वस्तु गोचर होगी, व्यवच्छेद का ज्ञान सम्भव नहीं है।

भ्रांति में ऐसा प्रतीत होता है कि मानों दो वस्तुओं का एक साथ बोध हो रहा है। भ्रान्ति निवृत होने पर मनुष्य कहता है कि "यह चांदी नहीं, सीप है"। यहाँ भी एक प्रत्यक्ष में दो ज्ञान नहीं हैं। पहले जिस वस्तु को देखकर रजत माना था उसका निषेध कर देने पर अर्थात् यह चांदी नहीं ऐसा जान लेने पर सीप का प्रत्यक्ष होता है।[53] अतः भ्रान्ति की स्थिति में भी एक प्रत्यक्ष में दो बोध नहीं हैं, वरन् दो पृथक् प्रत्यश बोध हैं।[54]

मण्डन के द्वन्द्वन्याय का यह एक उदाहरण है। इसी क्रम में उन्होंने भेद-प्रतिपादक अन्य मतों का भी खण्डन किया है। बौद्धमत के अनुसार "एकविधिरेवान्यव्यवच्छेदः"[55]— एक वस्तु का प्रत्यक्ष होने में दोनों कार्य होते हैं, वस्तु का बोध और अन्य से व्यवच्छेद। मण्डन इस बात का खण्डन करते हैं कि एक प्रत्यक्ष में समस्त सम्भव-असम्भव वस्तुओं का भेद ज्ञात हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक मत यह है कि "प्रकृत्यैव भिन्ना भावाः"[56]— वस्तुएँ स्वभाव से ही एक-दूसरे से भिन्न हैं। इसलिए उनके प्रत्यक्ष होने से उनके भेद का भी ज्ञान होता है। मण्डन कहते हैं कि यदि ऐसा हो तो सब वस्तुएँ भेद स्वरूप होंगी और एक वस्तु से दूसरी वस्तु में भेद नहीं होगा। दूसरे भेद "अरूप" हैं, इसलिए सब वस्तुएँ भी अरूप होंगी। तीसरे, भेद निषेधात्मक होता है, अतः वस्तुएँ भी निषेधस्वरूप होंगी। चौथे, भेद में द्वैत, त्रैत अवश्य होना चाहिए, अतः कोई वस्तु एक नहीं हो सकती है। कोई वस्तु एक और अनेक एक साथ नहीं होती है।[57]

इस प्रकार मण्डन ने तर्ककाण्ड के सम्पूर्ण अध्याय में भेद-सम्बन्धी विभिन्न मतों का खण्डन द्वन्द्वन्याय से किया है। अद्वैत वेदान्त की परम्परा में सम्भवतः यह प्रथम प्रयास है, जिसमें द्वन्द्वन्याय के द्वारा भेद का निराकरण इतनी गहनता, गंभीरता, विस्तार और सफलता के साथ किया गया है।

कुछ विद्वानों ने समस्त वेदान्त साहित्य को दो भागों में विभाजित किया हैं— "प्राचीन वेदान्त" और "नव्य वेदान्त"। प्राचीन वेदान्त में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता पर शंकर के भाष्य, मण्डन, सुरेश्वर, पद्मपाद, वाचस्पति मिश्र आदि के वार्तिक और प्रकरण ग्रन्थ आते हैं। इन्हें "प्रमेय" ग्रन्थ भी कहा जाता है, क्योंकि इनमें प्रमेय— अद्वैत ब्रह्म ही प्रधान है। श्रीहर्ष से एक नया युग प्रारम्भ होता है। उसे नव्यवेदान्त कहते हैं इसके अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थ अधिकतर "प्रमाण" ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में प्रमाणों पर विशेष रूप से विचार किया गया है और परपक्ष के खण्डन में अधिक रुचि रही है। अतः इनमें तर्क की प्रधानता होना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्वाभाविक है। श्रीहर्ष का "खण्डनखण्डखाद्य", चित्सुखाचार्य की "चित्सुखी" अथवा "तत्त्वप्रदीपिका", मधुसूदन सरस्वती की "अद्वैतसिद्धि" आदि ग्रन्थों की गणना इसी कोटि में की जाती है।[58]

(2) श्रीहर्ष—इनका समय तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ का माना जाता है।[59] वे महाराजा विजयचन्द्र (कन्नौज) की पण्डित सभा के अध्यक्ष थे। वे अद्वैतवेदान्ती और महाकवि थे। उनके वेदान्त के ग्रन्थ "खण्डनखण्डखाद्य"[60] और काव्य-रचना "नैषधचरित" ने उन्हें अमर बना दिया।

खण्डनखण्डखाद्य में श्रीहर्ष ने मुख्यरूप से न्यायसूत्रों का ही खण्डन किया है। नैयायिकों के अनुसार 16 पदार्थ माने गये हैं,जिन्हें वे परमार्थ सत्-स्वीकार करते हैं। उनमें प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि भी हैं। श्रीहर्ष इनकी सत्ता नहीं मानते। ग्रन्थ का प्रारम्भ इसी विचार से होता है कि यदि नैयायिक प्रमाण मानते हैं और श्रीहर्ष प्रमाण नहीं मानते हैं, तो दोनों के बीच किस आधार पर वाग्व्यवहार होगा? इसके उत्तर में श्रीहर्ष कहते हैं कि प्रमाणादि की सत्ता न स्वीकार करना विचारणीय विषय के साधन बाधन की अयोग्यता का हेतु नहीं है, किन्तु सद्वचनाभास लक्षण से युक्तत्व ही उस अयोग्यता का हेतु है।[61] अतः सद् वचन के आधार पर वाद-विवाद हो सकता है। विचार दृष्टि से देखा जाय तो प्रमाणादि के सत्त्व को मानने वाले को ही प्रमाणादि के सत्त्वार्थक सब नियम भार की महती पीड़ा उपस्थित होती है।[62] प्रतिवादी तो किसी निग्रहस्थान का उद्भाव न कर देने मात्र से विजयी हो सकता है। यदि वह कोई निग्रहस्थान नहीं दिखलाता तो वादी विजयी होता है।

इस प्रकार यद्यपि श्रीहर्ष का मुख्य पूर्वपक्षी न्याय— दर्शन है, किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त द्वन्द्वन्याय का अस्त्र समस्त विरोधी मतों का खण्डन करने में सक्षम है। श्रीहर्ष स्वयं स्वीकार करते हैं कि "ये मेरी खण्डन-युक्तियाँ सब दर्शन-सिद्धान्तों में यथेष्ठ प्रवृत्त होती है। ईश्वराधीन विश्व की व्यवस्था कोन मान कर खण्डन करना अशक्य है। उन युक्तियों के प्रदर्शन के ही लिए यह वादियों के बाद का कथन किया जाता है। वह इस प्रकार है कि यदि शून्यवाद और अनिर्वचनीयवाद पक्षों का आश्रयण होता है तो इन खण्डन-युक्तियों की सर्वपथगामिता निर्बाध रहती है।"[63] इन दोनों पक्षों में पदार्थ को साधने की आवश्यकता नहीं रहती हैं। अनिर्वचनीयवाद मायिक जगत् के सम्बन्ध में अद्वैतवेदान्त का मत है।

श्रीहर्ष बौद्ध और अद्वैतवेदान्त का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं— "दोनों में यह विशेषता है कि सौगत सब कुछ अनिर्वचनीय मानते हैं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि विज्ञान स्वरूप ब्रह्म से भिन्न यह सब विश्व सदसद् से विलक्षण है।"[64] अनिर्वयनीयता दो प्रकार की हो सकती है— एक तो वक्ता के दोष से अनिर्वचनीयता कही जाती है और दूसरी प्रमेय से स्वभावानुगामिनी। विश्व सदसद् से विलक्षण है, अतः वह स्वयं अनिर्वचनीय है कोई भी निरूक्ताभिमानी उसका निर्वचन नहीं कर सकता है।[65] वक्तव्य वस्तु में ही ऐसा दोष है कि उसका निर्वचन किसी से नहीं हो सकता है।

हम देख चुके हैं कि मण्डन मिश्र ने प्रत्यक्षादि में भासित होने वाले द्वैत का खण्डन किया है। श्रीहर्ष भी द्वैत के खण्डन में द्वन्द्वन्याय का प्रयोग करते हैं। उसका एक उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं। प्रत्यक्ष में घट-पट आदि का जो बोध होता है, उसे अद्वैत श्रुतियों का बाधक कहा जाता है। विचार करना चाहिए कि प्रत्यक्ष वस्तुओं का भेद कैसे निश्चय कराता है। भेद— (1) वस्तु के स्वरूप का, (2) अन्योन्याभावरूप, (3) विरोधी धर्म का अथवा (4) पृथक्त्व रूप का हो सकता है। श्रीहर्ष इन चार विकल्पों पर विचार करते हैं। प्रथम विकल्प के अनुसार यदि भेद वस्तुस्वरूप ही हो (भेदस्वरूप), तो घट में ही पट भी प्रविष्ट हुआ दिखाई देना चाहिए। यदि कदाचित् ऐसा ही दिखाई देता हो तो भेद की अपेक्षा घट-पट का अभेद ही हुआ।[66]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, AAIS(USA)

यदि यह कहा जाये कि पट से घट भिन्न है, दोनों एक ही हैं, तो यह विचार करना होगा कि यह "भिन्नता क्या है? क्या "पट से भिन्नता" यह घट का धर्म है? यदि ऐसा ही है तो धर्म-धर्मी में अभेद से अद्वैत ही सिद्ध होगा। दूसरे, घट में "पट से भिन्नता" का धर्म या लक्षण अपेक्षित भी नहीं है, क्योंकि घट देखने से ही घट का बोध हो जाता है, पट आदि की अपेक्षा नहीं होती है। जो स्वरूप से नील है वह पीत से निरूपित होता हुआ नील नहीं होता है।[67] इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष गोचर वस्तु से भेद का कोई सम्बन्ध नहीं है, वह बिल्कुल भिन्न है।[68] घट और पट से "भेद" पृथक् ही है। यदि पृथक् है, तो उसकी सत्ता कहाँ है और उसका क्या स्वरूप है। यह निश्चित नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि पदार्थ का स्वरूपमात्र भेद नहीं है। इसी से अन्योन्याभाव स्वरूप भेद का भी प्रत्याख्यान हो गया। जिससे भेद मन्तव्य है, उस प्रतियोगी को विशेषरूप से अपने स्वरूप में अन्योन्याभाव भी अन्तर्भाव करेगा तो फिर भेद नहीं रहेगा।[69] अन्योन्याभाव का अर्थ है एक वस्तु से दूसरी वस्तु के तादात्म्य का निषेध। जब पट से घट को अन्य कहा जाता है, तो इसका अर्थ होता है कि घट और पट में तादात्म्य नहीं है। यह अन्योन्याभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से समझने योग्य नहीं है। शशशृङ्ग के समान असत् कोई पदार्थ प्रमाण से जानने योग्य नहीं होता।[70]

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि घट में पटत्व नहीं है और पट घटत्व नहीं है। नैयायिकों के अनुसार जाति में कोई विशेष गुण नहीं होते। अतः घट और घटत्व में तादात्म्य होगा और उन दोनों के अभेद होने से, घट में पटत्व और पट में घटत्व का निषेध करता हुआ प्रमाण घटत्व-पटत्व से शून्य घट-पट दोनों को सिद्ध करता है। अतः विरोधी धर्म और स्वरूप भेद के असम्भव होने से किसको प्रतियोगी या आलम्बन का विषय बनाकर घट-पट का अन्योन्याभाव प्रमाण का विषय होगा?[71]

तीसरा विकल्प वैधर्म्य का है। इसका अर्थ है भेद में विरोधी धर्म होते हैं। श्रीहर्ष के मत में ऐसा भी होना सम्भव नहीं है। वैधर्म्य में भेद की सिद्धि के लिए घटत्व-पटत्वादि रूप वैधर्म्य में अन्य वैधर्म्य मानना होगा। ऐसा मानने पर वैधर्म्य में वैधर्म्य मानने का अनवस्था दोष होगा।[72] यदि अन्त में कहीं एकत्व मानें, तो मूल में भी वैधर्म्य मानने की आवश्यकता न रहेगी। वहीं एकत्व मानकर भेद का निराकरण हो जायगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद सिद्ध नहीं होता है, इसलिए भेद मिथ्या है। भेद मिथ्या होने के कारण वह अद्वैत श्रुति का बोध नहीं कर सकता। अनुमान आदि प्रमाण प्रत्यक्ष के ही उपजीव्य हैं, अतः वे अपेक्षाकृत अधिक दुर्बल हैं और वे भी अद्वैत का बोध नहीं कर सकते।[73]

इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रीहर्ष द्वैत किसी रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं, "हम भेद का सर्वथा अभाव नहीं मानते हैं, किन्तु हम उसके पारमार्थिक सत्त्व को स्वीकार नहीं करते हैं।[74] अपारमार्थिक (व्यावहारिक) बुद्धि पारमार्थिक बुद्धि का बाध नहीं कर सकती है, जैसे शुक्ति-बुद्धि का रजत-बुद्धि से बाध नहीं होता है।[75] इस प्रसंग में, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्ष पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रतिभासिक भेद उसी प्रकार स्वीकार करते हैं जैसे शंकर। उन्होंने पारमार्थिक और व्यावहारिक भेद का बार-बार उल्लेख किया है।

श्रीहर्ष ने अपनी इस तर्कना-पद्धति का प्रयोग लक्षण, प्रमाण, करण, व्यवहार आदि में सर्वत्र किया हैं यहाँ हम संक्षेप में उनमें से कुछ का उल्लेख करते हैं। सामान्य रूप से लक्षण के द्वारा लक्ष्य की व्यवस्था की जाती है और लक्षण से लक्ष्य रूप अधिकरण के ज्ञात होने पर अन्य भेद निरूपित किये जाते हैं। पृथिवीत्व

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पृथिवी का लक्षण है। इसलिए जहाँ पृथिवीत्व देखने में आये उसे पृथिवी मानेंगे। जहाँ पृथिवीत्व नहीं है वहाँ पृथिवी भी नहीं है। जलत्व जल का लक्षण है और वह जल का ज्ञान कराता है। पृथिवी में जलत्व न होने के कारण पृथिवी जल से भिन्न है। इस प्रकार भेद ज्ञान होता है।

श्रीहर्ष इसका खण्डन इस प्रकार करते हैं लक्षण के ज्ञान से लक्ष्य का ज्ञान होता है। भिन्न-भिन्न लक्ष्यों के पृथक् लक्षण हैं। इसलिए उनका भेद ज्ञान होता है। किन्तु यह भी सत्य है कि लक्षणों का भेद भी लक्ष्यों की पृथक्ता से ही होता है। अतः लक्षण से लक्ष्य और लक्ष्य से लक्षण का ज्ञान आत्माश्रय दोष है।[76] दो में से प्रथम कौन है? प्रथम लक्षण के द्वारा इतरव्यावृत्ति का ज्ञान होता है या लक्षणान्तर के द्वारा। यदि प्रथम लक्षण के द्वारा मानें तो स्व मे स्व की अपेक्षा से आत्माश्रय दोष होगा। यदि लक्षणान्तर के द्वारा इतरव्यावृत्ति का ज्ञान मानें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। यदि अन्योन्याश्रय दोष की निवृत्ति के लिए तृतीय लक्षण के द्वारा मानें तो चक्रक दोष होगा। यदि इसकी निवृत्ति के लिए चतुर्थ लक्षण मानें तो अविश्रान्ति दोष होगा। इसलिए लक्ष्य-लक्षण की व्यवस्था त्रुटिपूर्ण और असम्भव है।[77]

परमत में "प्रमा" की अनेक परिभाषायें हैं। तत्त्वानुभूतिः प्रमा,[78], यथार्थानुभवः प्रमा[79] सम्यक् परिच्छित्ति, अव्यभिचारी अनुभव,[80] आदि कई परिभाषाएँ लेकर श्रीहर्ष ने उनका खण्डन किया है। "प्रमाकरणं प्रमाणम्" इस परिभाषा के अनुसार प्रमा का करण (व्यापार वाला असाधारण कारण) प्रमाण होता है। यदि प्रमा ही सिद्ध नहीं होती तो प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकता।[81] फिर भी श्रीहर्ष समस्त प्रसिद्ध प्रमाणों का अलग-अलग खण्डन करते हैं।

शब्द प्रमाण पर विचार करते हुए वे कहते हैं— शब्द प्रमाण भी क्या है? यदि कहा जाय कि आप्त वाक्य शब्द रूप प्रमाण (आप्तवाक्यं हि शब्दः) है, तो यह युक्त नहीं है। किसी संभव विकल्प की उपपत्ति नहीं हो सकती। आप्त किसे माना जाय? भ्रान्त पुरुष भी अपने वचन को आप्त समझता है। प्रमाण से देखा हो तो उसके वचन आप्त होंगे— ऐसा माने तो पहले प्रमाण सिद्ध करना होगा। यथार्थ ज्ञान भी पूर्णरूप से सत्य होना सम्भव नहीं है। उसकी कुछ बात सत्य और कुछ असत्य हो सकती है। यदि जितना यथार्थ ज्ञान है उतना ही प्रमाण मानें तो भी यह निश्चय नहीं हो सकता है कि उसका कितना ज्ञान यथार्थ है। इसी प्रकार अन्य अनेक विकल्पों की उद्भावना कर श्रीहर्ष उन सबका खण्डन करते हैं। यहाँ उन सबका विवरण देना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार श्रीहर्ष ने न्याय-वैशेषिक के वस्तुवादी समस्त सिद्धान्तों का खण्डन किया है। इसका निर्णय यह निकाला कि समस्त विश्व अनिर्वचनीय है, इसलिए माया है। यही कारण है कि उनका ग्रन्थ अनिर्वचनीयतासर्वस्व भी कहलाता है। ग्रन्थ में सर्वत्र वे कई बार इसका उल्लेख कर ब्रह्म की सत्यता प्रतिपादित करते हैं। उनकी खण्डन-शैली नागार्जुन की प्राचीन खण्डन-पद्धति का स्मरण दिलाती है और दोनों में बहुत साम्य दिखाई देता है।[82]

(3) चित्सुख—अद्वैत-वेदान्त को समृद्ध बनाने वाले चित्सुखाचार्य का जीवन-काल 1220 ई. माना जाता है। उन्होंने कई भाष्य-ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु "तत्त्वप्रदीपिका", जो बाद में चित्सुखी के नाम से प्रसिद्ध हुई, उनकी सब से महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें उन्होंने वेदान्त के कुछ प्रत्ययों की उपयोगी व्याख्या करके परमत खण्डन में द्वन्द्वन्याय का प्रयोग किया। ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में चित्सुख ने न्याय के पदार्थ, भेद, गुण, कर्म, जाति, विशेष, समवाय, प्रत्यक्ष, संशय, भ्रम, स्मृति, अनुमान, व्याप्ति, व्याप्ति-ग्रह, पक्ष-धर्मता, हेतु, उपमान, सत्, असत्, द्वैत, परिणाम, कार्य-कारण, देश, काल आदि समस्त भावों का खण्डन किया है। इसमें सर्वत्र द्वन्द्वन्याय का प्रयोग दिखाई देता है।[83] इस अध्याय के प्रारम्भ करते ही वे भेद का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रश्न उठाते हैं और उनके चार विकल्प लगभग उसी प्रकार मानते हैं जैसे श्रीहर्ष ने माने थे, और उनके खण्डन में लगभग उसी प्रकार की युक्तियाँ भी दी हैं। यहाँ हम उनकी पुनरावृत्ति न कर केवल "कारणत्व" का खण्डन दिखाते हैं।

कारण के विषय में सात प्रकार की मान्यतायें हो सकती हैं— (1) पूर्वकाल-भावित्व, (2) नियतप्राक्कालसत्त्व, (3) सहकारि वैकल्पप्रयुक्त कार्याभावत्त्व, (4) अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वं, (5) सामग्री का एकदेशत्व, (6) व्यापारवत्त्व अथवा (7) जिसको न मानने से कार्य की नित्य सत्ता या नित्य असत्ता प्राप्त हो। विचार करने से इन सभी विकल्पों का खण्डन हो जाता है।

दूसरे पक्ष में, "नियतप्राक्कालसत्त्व" का अर्थ है कार्य से पूर्व काल में कारण का विद्यमान रहना। इस स्थिति में काल की अहेतुता की आपत्ति होगी, क्योंकि काल एक ही है। यदि उपाधि के कारण काल का भेद करें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। काल स्वयं अपने में नहीं रह सकता। नियतत्व का भी निर्वचन नहीं किया जा सकता।[85] यदि नियत का अर्थ कार्य के पूर्व कारण को सदा रहना चाहिए तो गर्दभ को भी धूम-विशेष के प्रति नियत कारण मनाना पड़ेगा, क्योंकि गर्दभ के रहने पर ही धूम उत्पन्न होता है, और गदर्भ तथा धोबी के चले जाने पर धूम नहीं होता है। यदि नियत का अर्थ अनन्यथासिद्धत्व मानें तो भी गर्दभ और आकाश आदि में अतिप्रसंग बना रहता है। यदि कहें कि नियत कारण वह है जिसके रहने पर कार्य अवश्य हो, तो बीजादि में अकारणता की आपत्ति होगी, क्योंकि बीज के रहने पर अंकुर का नियमित रूप से होना नहीं देखा जाता है। यदि कहा जाय कि सहकारी कारणों के मध्य में स्थित बीज के होने पर अंकुर होता ही है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सहकारी कारणों के मध्य में गर्दभ आदि की भी स्थिति हो सकती है।

तीसरे पक्ष में, "सहकारिवैकल्प प्रयुक्तकार्याभावत्व" का अर्थ है कि कारण वह है जो सहकारी तत्त्वों के बीच विद्यमान हो और जिसके होने से कार्य उत्पन्न हो। कारण का यह लक्षण भी ठीक नहीं है। हेतु-साकल्यरूप सामग्री में यह लक्षण नहीं घटता है। इसके अतिरिक्त कारणत्व का निर्वचन न होने से सहकारी पदार्थ का निरूपण नहीं हो सकता है।[86] सहकारी-साकल्य का नाम ही सामग्री है। उसके रहने पर सहकारी-वैकल्य सम्भव नहीं है। सहकारी कारण का अर्थ है दूसरा कारण। जब एक कारण ही निश्चित नहीं है, तो अन्य कारण कैसे निश्चित होंगे?

चौथे पक्ष में, "अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वम्" का अर्थ है, कारण के होने पर कार्य का होना और कारण के न रहने पर कार्य का न होना। यह भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का अन्वयव्यतिरेक न होने पर भी तृण, अरणि और मणि में अग्नि की हेतुता मानी जाती है।[87] तृणादि में से एक न हो तो भी दूसरे में अग्नि की उत्पत्ति देखी जाती है। यदि तृण आदि में भिन्न प्रकार की अग्नि माना जाय तो भी यह दोष दूर नहीं होता। उस भेद का कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण तो है ही नहीं। इन्द्रियसन्निकर्ष से कोई निपुण व्यक्ति भी तृण आदि में अव्यक्त अग्नियों का भेद नहीं जान सकता।

पाँचवें पक्ष में, "सामग्रयैकदेशत्व" का अर्थ है सामग्री की एकदेशता का होना ही कारण है। यह भी युक्त नहीं है। वस्तु-साकल्य को सामग्री मानने में अतिव्याप्ति दोष और कारण-साकल्य को सामग्री मानने में आत्माप्र दोष प्रसक्त होते हैं। साकल्य पदार्थ को कारणों से भिन्न या अभिन्न मानना संभव नहीं है। कार्य तो अपने कारणों से सिद्ध हो जाता है, तो साकल्य की कल्पना व्यर्थ है। साकल्य-जनक कारणों से ही मुख्य कार्य की उत्पत्ति हो जायगी, तो मध्य में साकल्य नाम की व्यर्थ वस्तु मानने की क्या आवश्यकता है।[88]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

छठवें पक्ष में "व्यापारवत्त्व" का अर्थ है जो कारण से जन्य हो एवं कारण से जन्य का जनक हो। चित्सुख व्यापार में अव्याप्ति दोष मानते हैं। अन्तिम व्यापार में व्यापारान्तरवत्ता न होने से कारणत्व की अव्याप्ति होती है। व्यापार का जनकत्व के विना निरूपण न हो सकने के कारण आत्माश्रय दोष हैं फिर, व्यापारत्व का निर्वचन भी नहीं हो सकता है। वह व्यापार-समवायित्व है अथवा व्यापार-जनकत्व? प्रथम पक्ष में यज्ञ आदि से स्वर्ग की कारणता नहीं बनेगी और दूसरा पक्ष मानने से जनकत्व में श्नकत्व की अपेक्षा होने से आत्माश्रंय दोष होगा।[89]

सातवें पक्ष में, कारण वह है जिसके न मानने से कार्य की नित्य सत्ता या नित्य असत्ता प्राप्त हो। यह भी युक्तिसंगत नहीं है। कारणानभ्युपगम (कारण का न मानना) की और नित्य सत्त्व या नित्य असत्त्व की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। कारणानभ्युपगम को भावरूप मानने से कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता। प्राग्भाव में अहेतुकत्व रहने पर भी नित्य सत्त्व या नित्य असत्त्व नहीं रहता है। कारण-अनभ्युपगम अर्थात बिना हेतु के शशविषाण हो सकता है, किन्तु उसमें नित्य सत्त्व नहीं रहता है। यदि कहें कि केवल अहेतुकत्व की व्याप्ति न होने पर भी भावरूप अहेतुकत्व की व्याप्ति नित्य सत्तव के साथ हो सकती है, जैसे आकाश आदि में, तो इसके उत्तर में चित्सुख कहते हैं कि इस दृष्टान्त को लोकायत स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि वे आकाश की सत्ता ही नहीं मानते हैं, इसके अतिरिक्त, इसका विपर्यय सम्भव नहीं है। उस दशा में अहेतुकत्व का सहेतुकत्व हो जायेगा और परिभाषा ही घटित न होगी।[90]

चित्सुख द्वारा परमत का इस प्रकार खण्डन कर देने से समस्त भेद, अभेद या भेदाभेद निरस्त हो जाते हैं। अतः उनके अनुसार निर्णय यह होता है कि यह सकल प्रपञ्च अनादि अविद्या का विलास-मात्र है। इस प्रकार के प्रपञ्च के ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध न रहने से वेदान्त-वाक्य अबाधित होकर अद्वितीय ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करते हैं, यह निर्दोष सिद्धान्त है।[91]

(4) मधुसूदन सरस्वती— श्रीहर्ष और चित्सुख की तार्किक-परम्परा में मधुसूदन सरस्वती का नाम उल्लेखनीय है। उनका जीवन-काल सन् 1540-1647 ई. माना जाता है।[92] इन्होंने अद्वैत-सिद्धि, वेदान्त-कल्प-लतिका, अद्वैत-मंजरी, अद्वैत-रत्न-रक्षण, आत्मबोध-टीका, आनन्द-मंदाकिनी, कृष्ण-कुतूहल-नाटिका, सिद्धान्त-तत्त्व-बिन्दु आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "अद्वैत-सिद्धि" है, जिसमें उन्होंने व्यासतीर्थ रचित "न्यायामृत" का खण्डन किया है। अद्वैत-सिद्धि सम्भवतः वेदान्त की अन्तिम महान् रचना है।

"न्यायामृत" ग्रन्थ न्याय-दर्शन के समर्थन में अद्वैत-वेदान्त का खण्डन करता है। इसकी रचना मधुसूदन से कुछ काल पूर्व ही हुई थी। अतः उसमें श्रीहर्ष और चित्सुख को भी खण्डन का लक्ष्य बना लिया गया है। मधुसूदन ने इस ग्रन्थ का खण्डन कर पुनः अद्वैत की रक्षा की, अतः इसका नाम "अद्वैत-सिद्धि" रखा। ग्रन्थ में मधुसूदन की तर्कना-पद्धति का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उदाहरण के रूप में हम प्रपञ्चमिथ्यात्ववाद पर उनका तर्क-वितर्क प्रस्तुत कर रहे हैं।

व्यासतीर्थ के सामने विचार करने के लिए मिथ्यात्व के पाँच लक्षण हैं जिनको उन्होंने प्राचीन जद्वैत-वेदान्तियों से चुना है। पद्मपादाचार्य सत्त्वासत्त्वानधिकरणत्व, प्रकाशात्य मुनि त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व और ज्ञाननिवर्त्यत्व, चित्सुख स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व और आनन्दबोध सिद्धि-विक्तत्व ही प्रपञ्च के मिथ्यात्व का लक्षण मानते हैं। व्यासतीर्थ इन पाँचों मतों का खण्डन करते हैं और मधुसूदन उनके खण्डन का खण्डन प्रस्तुत करते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of India Studies, AAIS(USA)

पद्मपाद की पंचपादिका के अनुसार, "मिथ्याशब्दोंऽनिर्वचनीयतावचनः"— मिथ्या शब्द अनिर्वचनीयता का वाचक है। इसे व्यासतीर्थ सत्त्व-असत्त्व का अनधिकरणत्व मानकर आलोचना करते हैं। उनके अनुसार इसके तीन अर्थ हो सकते हैं— (1) सत्त्व-विशिष्ट असत्त्व का अभाव, (2) सत्त्व का अत्यन्ताभाव और असत्त्व का अत्यन्ताभावरूप धर्मद्वय अथवा (3) सत्त्वात्यन्ताभाव-विशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभावरूप एक धर्म की आधारता।[93]

प्रथम पक्ष (सत्त्व-विशिष्ट असत्त्व का अभाव) मानने से सिद्ध-साधनता दोष आता है, क्योंकि प्रपञ्च को केवल सद्रूप माना गया है। असत्त्व का अभाव होने से और सत्त्व की विशिष्टता होने से जगत् सत्य सिद्ध होता है। यह आलोचना ठीक ही है, मधुसूदन इसका विरोध नहीं करते हैं। अद्वैत-वेदान्त में मिथ्यात्व की यह परिभाषा अभिप्रेत नहीं है।

दूसरे पक्ष में सत्त्व के अत्यान्ताभाव और असत्त्व के अन्यन्नाभावरूप दो धर्मों की आधारता से मिथ्यात्व में यह दोष हो सकता है, कि दोनों का एकत्र रहना विरुद्ध पड़ता है। सत्त्वाभाव का नाम असत्त्व और असत्त्वाभाव का नाम सत्त्व होता है। अतः तात्पर्य हुआ कि सत्त्व और असत्त्व दो विरोधी भाव एक साथ रहते हैं। यह सम्भव नहीं है। इसके उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म एक दूसरे के अभाव नहीं हैं। वे दोनों ही स्वतन्त्र भावरूप धर्म हैं।[94] सत्त्व का स्वरूप है त्रिकालाबाध्यत्व अर्थात् जिसका तीनों काल में बाध न हो।[95] किसी भी आधार में (उपाधि) किसी भी सद्रूप से प्रतीत न होने वाले पदार्थ को असत् कहते हैं। ब्रह्म सत्त्व का और गगन-कुसुम असत्त्व के उदाहरण हैं। प्रपञ्च में सत्त्व और असत्त्व दोनों का अभाव है।

तीसरे पक्ष में व्यासतीर्थ को व्याघात दोष वैसे ही दिखाई देता है, जैसे दूसरे पक्ष में। जब सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव एकत्र रह ही नहीं सकते, तो सत्त्वाभावविशिष्ट असत्त्वाभाव कैसे सम्भव होगा? इसके उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि आपके मत में त्रिकालाबाध्यत्व रूप सत्त्व प्रपञ्च में सिद्ध नहीं हो सकता, अतः वहाँ सत्त्वाभाव के रहने में क्या आपत्ति है? शुक्ति-रजत में असत्त्वाभाव के रहने पर भी सत्त्व नहीं माना जाता है। ब्रह्म की सदरूपता प्रपञ्च में प्रतिभासित होती है, इतने से ही "घटःसन् पटः सन्" आदि व्यवहार निभ जाता है।[96]

मिथ्याकत्व की दूसरी परिभाषा "त्रैकालिनिषेधप्रतियोगित्व" है। इस परिभाषा में त्रैकालिक निषेध के तीन विकल्प हो सकते हैं— (1) ब्रह्म में प्रपञ्च का त्रैकालिक अभाव यदि ब्रह्म के समान तात्विक है, तब अद्वैत हानि होती है। (2) प्रपञ्च का वास्तविक अभाव न मानकर प्रातिभासिक अभाव मानने से सिद्धसाधन दोष है। (3) प्रपञ्च का व्यावहारिक अभाव भी वस्तुतः बाधित ही होता है। अतः बाधित अभाव की प्रतियोगिता प्रपञ्च में मान लेने से वास्तविक सत्ता का अपहार नहीं होता, इसलिए सिद्ध-साधनता और अर्थान्तरता दोष रहते हैं।

मधुसूदन इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि द्वैतवादी का यह आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च निषेध अधिकरणीभूत ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण निषेध तात्त्विक होने पर भी अद्वैत-घाती नहीं है। तात्त्विक निषेध के प्रतियोगी प्रपञ्च में तात्त्विकत्त्व प्रसक्त न होकर कल्पित ही होता है, जैसे रजतादि में।[97] यह भी कह सकते हैं कि प्रञ्च का निषेध अतात्त्विक ही है। ऐसा होने पर भी वह प्रतिभासिक नहीं है, किन्तु वह व्यावहारिक ही माना जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

द्वैतवादी का यह कथन उचित नहीं हैं कि व्यावहारिक निषेध बाधित होने के कारण प्रपञ्च की पारमार्थिक सत्ता का विरोधी नहीं, अतः अर्थान्तरता दोष है। कारण यह है कि स्वप्नारोपित गजादि पदार्थों का स्वप्न-निषेध के द्वारा बाध देखा जाता है। प्रपञ्चगत परिमार्थिकता का भ्रम दूर करने के लिए ही मिथ्यात्व-साधक अनुमान प्रयोगों की सर्जना हुई है।

मिथ्यात्व की तीसरी विचारणी परिभाषा "ज्ञाननिवर्त्यत्व" है। विवरणाचार्य ने लिखा है, "अपने वर्तमान या प्रविलीन कार्य के सहित अज्ञान की ज्ञान से निवृत्ति बाध है।"[98] इसलिए ज्ञान-निवर्त्यत्व ही मिथ्यात्व का लक्षण सिद्ध होता है। व्यासतीर्थ के अनुसार मिथ्यात्व का यह लक्षण उस ज्ञान में अतिव्याप्ति है जिसकी निवृत्ति अपने उत्तरवर्ती ज्ञान के द्वारा होती है। इसके अतिरिक्त मुद्गर की चोट से फूटे घटादि में भी उसकी अव्यक्ति दोष है। घट मिथ्या होने पर भी ज्ञान से निवृत्त न होकर मुद्गर के प्रहार से नष्ट हुआ है।

इसके अतिरिक्त, ज्ञानगत निवर्तकता ज्ञानहींन विवक्षित है अथवा ज्ञानत्व-व्याप्त धर्मेण? यदि प्रथम पक्ष के अनुसार ज्ञानत्वेन मानें तो शुक्ति-रजकादि में उसकी अव्याप्ति है, क्योंकि उनकी शुक्तिज्ञान में विवर्तकता अधिष्ठान-साक्षात्कार के द्वारा होती है, ज्ञान के द्वारा नहीं। द्वितीय पक्ष के अनुसार संस्कारों में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उसकी निर्वतकता स्मृतिरूप ज्ञान में ज्ञानात्व-व्याप्त स्मृतिरूप से होती है।

इन आक्षेपों का निवारण करते हुए मधुसूदन कहते है कि ज्ञान-निवर्त्यत्व का अर्थ है। ज्ञान-प्रयुक्त अवस्थिति सामान्य के अभाव की प्रतियोगिता।[99] निवृत्ति का अर्थ अत्यन्ताभाव होता है। उसके प्रतियोगी को निवर्त्य कहते हैं। ज्ञान और अत्यन्ताभाव का व्याप्य-व्यापकभाव विवक्षित है। इसलिए ज्ञान का निवर्त्यत्व मिथ्यात्व है। इसमें कोई दोष नहीं है। कार्य की अवस्थिति दो प्रकार की होती है— कार्यरूप में और कारणरूप में। उत्पत्ति के पूर्व और नाश के पश्चात् भी कार्य की स्थिति कारण में तब तक मानी जाती है, जब तक कारण बना रहता है। अतः मुद्गर पात के अनन्तर घट की स्थिति कारण रूप मिट्टी में रहती है। मृत्तिका की अपने कारण में, उस कारण की अपने कारण में और अन्ततः समस्त प्रपञ्च कारण में स्थित रहता है। कारणरूपेण अवस्थिति का अभाव तो ब्रह्मज्ञान के पश्चात् ही होता है।[100] अतः विनष्ट घट में ज्ञान-निवर्त्यत्व या अधिष्ठानसाक्षात्कारप्रयुक्त अवस्थिति सामान्य विरह-प्रतियोगित्व लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता। अधिष्ठानसाक्षात्कार आदि भी ज्ञान की कक्षा में ही आ जाते हैं। उत्तर ज्ञान के द्वारा पूर्वज्ञान की जो निवृत्ति होती है, वह निवृत्ति सामान्य या अत्यन्त निवृत्ति नहीं, क्योंकि संस्कार आदि रूप से ज्ञान की अवस्थिति बनी रहती है, अतः उनमें भी अतिव्याप्ति नहीं है।

चौथे, अपने आश्रय में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है।[101] तात्पर्य यह कि मिथ्या वस्तु का अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमानत्व है। व्यासतीर्थ इसे पूर्वोक्त द्वितीय लक्षण के समान ही मानकर इसे भी निरस्त मान लेते हैं। मधुसूदन कहते हैं कि द्वितीय और चतुर्थ परिभाषाएँ एक समान नहीं हैं, फिर भी यदि विपक्ष कोई नये आक्षेप नहीं करता और पुराने ही दुहराता है तो हम भी उन्हीं उत्तरों को दुहराते हैं। यदि वह कहें कि अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमान शश-विषाण आदि भी हैं, उन्हें भी मिथ्या कहना चाहिये किन्तु वेदान्त उन्हें असत् मानता है, मिथ्या या अनिर्वचनीय नहीं; तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में केवल प्रतीयमानता नहीं अपितु सत्त्वेन प्रतीयमानता विवक्षित है।[102]

मिथ्यात्व का पाँचवा लक्षण सद्विविक्तत्व कहा गया है। प्रमाण-सिद्ध वस्तु को सत् कहते हैं। अतः प्रमाण-सिद्ध वस्तु से भिन्न होने के कारण प्रपञ्च मिथ्या सिद्ध हो जाता है। न्यायामृतकार सत्ता के तीन विकल्प

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of India Studies (AASHCA)

मान लेते हैं और उनमें दोष दिखाते हैं। सत्त्व का अर्थ सत्ता-जाति की अधिकरणता हो सकता है, अबाध्यत्व हो सकता है और ब्रह्मरूपत्व भी हो सकता है। सत्ता-जाति के आधार को सत् मानने से प्रपञ्च में उसकी अव्याप्ति होगी, क्योंकि जिसमें सत्ता-जाति मानी जायेगी वह सत् होगा, सद्विविक्त नहीं होगा। सत्ता-जाति न होने पर सद्विविक्त होगा और न्यायामृतकार के अनुसार अद्वैतवादी भी घटादि में आविद्यक (अविद्या-प्रयुक्त) जाति मानते हैं। इसलिए विरोध उत्पन्न होता है। मधुसूदन कहते हैं कि घटादि में सत्ता-जाति का भाव अविद्या के कारण अवश्य है, किन्तु वस्तुतः सत्ता में घट है, घट में सत्ता नहीं।

द्वितीय कल्प के अनुसार अबाध्यरूप सत् से भिन्न बाध्य को मिथ्या कहना होगा। वह प्रञ्च में सम्भव नहीं है और तीसरे विकल्प में ब्रह्म रूप सत् वस्तु का भेद प्र[illegible] सम्मत होने के कारण तृतीय कल्प में भी सिद्धसाधनता है। मधुसूदन सत्त्व के इन तीनों वैकल्पिक अर्थों को न मानकर सत्त्व की परिभाषा-प्रमाण-सिद्धत्व मानते हैं और सभी दोषों का निरादर कर देते हैं।[103]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैत-वेदान्त पर किये गये आक्षेपों का खण्डन कर अपने मत की रक्षा में मधुसूदन ने अपनी तर्कना-शक्ति का प्रयोग किया। यहाँ परमत खण्डन की अपेक्षा स्वमत रक्षण की ओर अधिक ध्यान रहा। यही परम्परा इसके आगे भी चली। अद्वैत-सिद्धि का खण्डन श्री रामाचार्य ने न्यायामृततरंगिणी में किया, और उसका खण्डन श्री गौड़ ब्रह्मानन्द ने 17वीं शताब्दी में अद्वैतसिद्धिचन्द्रिका लिख कर किया। इस चन्द्रिका की आलोचना वनमाली मिश्र ने न्यायामृत-सौगन्ध्य में की। उसके खण्डन में विट्ठलेश उपाध्याय और अनन्तकृष्ण शास्त्री ने विट्ठलेशी और सौगन्ध्यविमर्श ग्रन्थ लिखे। इस खण्डन-मन्डन की परम्परा में द्वन्द्वन्याय का अस्त्र अत्यधिक तीक्ष्ण हो गया और उसके द्वारा किसी भी मत का खण्डन सरल हो गया।

उपनिषद् काल के ऋषियों को सम्भवतः द्वन्द्वन्याय की इस दुधारूमार का ज्ञान था और वे इससे सावधान थे। इसीलिए वे अपरोक्षानुभूति पर भरोसा रखकर उसी का निर्वचन करते रहे। उन्होंने खण्डनात्मक प्रवृत्ति नहीं अपनायी। सूत्रकाल में मतों का विभाजन होने लगा। जैमिनि अपने तर्क के बल पर उपनिषदों की व्याख्या कर्मपरक करने लगे और ज्ञान को कर्म का सहायक तथा उपकारी मान लिया। वेदान्तसूत्र को उपनिषदों का एक प्रकार से उद्धार करना पड़ा और ज्ञान को कर्म से स्वतन्त्र किया तथा साँख्य आदि मतों का खण्डन कर वेदान्त मत की स्थापना की। यहाँ तर्क का प्रयोग आवश्यक हो गया था किन्तु अभी उसके ऊपर अधिक भरोसा नहीं किया गया था।

जब बौद्ध आदि सम्प्रदायों में तर्क ने द्वन्द्वन्याय का घोर रूप धारण कर लिया तो गौडपाद उसकी और आकृष्ट हुए, किन्तु उन्होंने माण्डूक्य उपनिषद्, को आधार बनाकर अपने ग्रन्थ की रचना की और उसमें अपनी तर्कना-शक्ति का प्रयोग, सृष्टि को मिथ्या सिद्ध कर, परमात्म-तत्त्व की स्थापना में ही किया। शंकर ने उनके ग्रन्थ पर भाष्य लिखा और उसकी तर्कना-शक्ति को अधिक सशक्त बनाया। उन्होंने उसका प्रयोग ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते हुए पुनः किया, किन्तु उसमें उनकी अधिक रुचि नहीं दिखाई देती है। ब्रह्मसूत्र में परमाणुवाद आदि का खण्डन सूत्रों की माँग के कारण करना पड़ा अन्यथा उन्हें किसी मत से द्वेष नहीं था। शून्यवाद के प्रति उनके मन में विशेष रोष था जो उनकी कटूक्तियों से सूचित होता है। मूल रूप में उन्हें तर्क पर अधिक भरोसा नहीं था। वह उन्हें "अप्रतिष्ठित" और "वाग्वैरवरी" मात्र प्रतीत होता है।

वीणाया रूपसौन्दर्यं तन्त्रीवादन सौष्ठवम्।
प्रजारञ्जनमात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते॥[104]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वदभुक्तये न तु मुक्तये॥[105]

"जिस प्रकार वीणा का रूप-लावण्य तथा तन्त्री को बजाने का सुन्दर ढंग मनुष्यों के मनोरंजन का कारण होता है, उससे किसी साम्राज्य की प्राप्ति नहीं हो जाती; उसी प्रकार विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों की धारावाहिकता, शास्त्र-व्याख्यान की कुशलता और विद्वता भोग ही का कारण हो सकती है, मोक्ष का नहीं।"

शंकर के उपरान्त अद्वैत वेदान्तियों की एक धारा उपनिषद् और शंकर के मत के प्रतिपादन और व्याख्या में लग गयी। इसमें पद्मपाद, सुरेश्वर, प्रकाशात्म मुनि, वाचस्पति मिश्र आदि की गणना होती हैं। इनमें तर्क खण्डनात्मक की अपेक्षा मण्डनात्म और विश्लेषाणात्मक अधिक है। दूसरी धारा मण्डन से प्रारम्भ होकर श्रीहर्ष, चित्सुख, मधुसूदन आदि की रचनाओं में प्रवाहित हुई। इसमें तर्क के प्रति आस्था दिखाई देती है। यहाँ तर्क द्वन्द्वन्याय का रूप धारण कर अद्वैत-वेदान्त के सैनिकों का घातक अस्त्र बन गया। इसका प्रमुख कार्य न्याय आदि दर्शनों के साम्रज्य पर आक्रमण कर विश्व-विजय प्राप्त करना हो गया। श्रीहर्ष ने अपने ग्रन्थ का नाम "खण्डनखण्डखाद्य" रख कर खण्डन को मिश्री जैसा मधुर बताया और उसका एक प्रयोजन दिग्विजय भी माना—

शब्दार्थनिर्वचनखण्डनया नयन्तः
सर्वत्र निर्वचनभावमरवर्वगर्वान्।
धीराः यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा
लोकेषु दिग्विजय कौतुकमातनुध्वम्॥[106]

"हे धीर! शब्द और अर्थ के सत्य रूप से निर्वचनों (कथन) के खण्डन द्वारा अखण्ड गर्व वालों को सब वादों में निर्वचनभाव (मूकता) को प्राप्त कराते हुए इस खण्डन को जिस प्रकार मैं कहता हूँ उस प्रकार कीरवत् कह कर ऊहापोह के विना भी लोक में दिग्विजय रूप कौतुक फैलाओ।"

दिग्विजय की लालसा विना द्वन्द्वन्याय का अस्त्र उठाये पूरी नहीं हो सकती थी। अतः इन दार्शनिकों ने अपने अस्त्र को खूब पैना किया और प्रतिद्वन्द्वी को चारों और से घेर कर निग्रहस्थान में डालने का अच्छा अभ्यास कर लिया। शंकर और श्रीहर्ष आदि के द्वन्द्वन्याय में यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता हैं। शंकर के खण्डनात्मक तर्कों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शंकर ने न्याय आदि दर्शनों का सम्यक् अध्ययन भी नहीं किया था और उनके तर्कों में अधिक बल भी नहीं है, किन्तु श्रीहर्ष आदि ने इसमें अच्छी निपुणता प्राप्त की थी। वे अन्य दर्शनों को गहराई से समझते थे और उनके दोषों को भी जानते थे। इसीलिए श्रीहर्ष के बाद का अद्वैतवेदान्त नव्यवेदान्त कहलाया और वह प्रमाण-प्रधान हो गया। इसके विपरीत प्राचीन वेदान्त प्रमेय-प्रधान था।

नव्य वेदान्ती अपनी एक विशेष तर्कना पद्धति रखते हैं। ये विपक्षी के दर्शनों से, विशेष रूप से न्याय-दर्शन से एक-एक शब्द लेकर उसके विभिन्न सम्भावित अर्थों की कल्पना करते हैं और उन सबमें कोई न कोई तर्कीय दोष दिखाते हैं। यही विधि वे विपक्षियों के मत में प्रयुक्त लक्षण, परिभाषा आदि के खण्डन में भी अपनाते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, AAIS(IISA)

संदर्भ-सूचि

1. पुरुष-सूक्त, 3.
2. नासदीय-सूक्त— 1.
3. वही, 2.
4. वही, 2.
5. वही, 6.
6. वही, 6.
7. वही, 7.
8. "Reason had only to unravel it in the light of experience." Dr. S.N. Dasgupta, History of Indian Philosophy, Vol. I. Page 41.
9. Prof. R.D. Ranade, A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy, Page 23.
10. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 1.4.
11. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.8.1.
12. वही, 6.10.1.
13. वृहदारण्यक उपनिषद, 3.9.26.
14. छान्दोग्य उपनिषद्, 8.8.1.
15. वृहदारण्यक उपनिषद्, 4.3.1.
16. माण्डूक्य उपनिषद्, 7 और 12.
17. Prof. Sangam Lal Pandey Pre - Shankar Advaita Philosophy, Page 103.
18. ईश उपनिषद्, 4.
19. ईश उपनिषद्, 5.
20. "Proof. by Exhaustion', Prof. Sangam Lal Pandey, Pre-Shankar Advaita Philosophy, p. 157.
21. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य, सूत्र 1.1.12 की प्रस्तावना।
22. ब्रह्मसूत्र, 2.1.1.
23. श्रीमद्भगवद्गीता, 9.4.
24. वही, 9.19.
25. वही, 13.12.
26. वही, 13.15.
27. वही, 13.16.
28. Dr. Edward Caird, The Critical Philosophy of Kant, Vol. I page 1.
29. "परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते" गौ. का. 3-17.
30. गौड़पाद कारिका, 2.34.
31. वही, 2.10.
32. वही, 1.6.
33. वही, 4.83.
34. Dr. S.N. Dasgupta, History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 435.
35. "न तार्किक पंरिकल्पितातमवत्पुरुषबुद्धि प्रमाणगम्यः" गौडपाद कारिका शंकर भाष्य 3.11.
36. ब्रह्मसूत्र, 2.1.11.
37. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य, 2.2.14.
38. मण्डन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि, तर्ककाण्ड, पृष्ठ 39 (मुख्या हि प्रत्यक्षादयः.....यदनुसारेण वार्थकल्पनामहर्ति).
39. वही, (नैकत्व आगमस्तेन प्रत्यक्षेण विरुध्यते).
40. वही, पृ. 44.
41. शंखपाणि की व्याख्या, तर्ककाण्ड, पृष्ठ 127.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

42. मण्डन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि, तर्ककाण्ड, पृष्ठ 44.
43. वही, पृष्ठ, 44.
44. "तत्र वस्त्वन्तरव्यवच्छेदे उभयस्मिन् वा भेदः प्रत्यक्ष गोचर इति भवति विरोधः।
स्वरूपविधिमात्रे तु कस्यचित् व्यवच्छेदेन शून्ये न भेदः प्रमाणार्थः, न हि
व्यवच्छेदाइते भेद सिद्धिः। विधि-मात्रव्यापारं च प्रत्यक्षम्: अतो न विरोधः।"
वही, पृष्ठ. 44.
45. मण्डन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि तर्ककाण्ड, पृष्ठ 44, पंक्ति 19.
46. वही, पृ. 44 पंक्ति 19.
47. वही, पृ. 44 पंक्ति 20.
48. मण्डन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि, तर्ककाण्ड, पृ. 44, पंक्ति 21-22.
49. "नापि कुतश्चित् सिद्धिः अत्यन्तासत्त्वात्" वही, पृ. 44.
50. "कुतश्चिन्निमित्ताद् बुद्धौ लब्धरूपाणां बहिर्निषिधः क्रियते",
वही, पृ. 45, पंक्ति 1.
51. मण्डन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि तर्ककाण्ड, पृ. 45. पंक्ति 5.
52. "क्रमः संगच्छते युक्त्या नैकविज्ञानकर्मणोः।
न संनिहितजं तच्च तदन्यामर्शि जायंते॥"
वही, तर्ककाण्ड, कारिका 3, पृ. 45.
53. "पूर्वविज्ञानविहिते रजतादौ "इदम्" इति च सन्निहितार्थ सामान्ये निषेधो विधिपूर्व एव"। वही, पृ. 54.
54. "न च तत्रैकज्ञानस्य क्रमवद्धयापारता, उभयरूपस्योत्पत्तेः"
वही, पृ. 46.
55. मण्डन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि तर्ककाण्ड, पृ.46.
56. वही, पृ. 47.
57. "नभेदो वस्तुनो रूपं तदभावप्रसंगतः। अरूपेण च भिन्नत्वं वस्तुनो नावकल्पते॥" वही, पृ. 47.
58. डॉ. नविकान्त झा, सम्पादक खण्डनखण्डखाद्य, प्रस्तावना, पृ. 28.
59. डॉ. दासगुप्त ने इनका समय 1150 माना है। भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 2, पृ. 125.
60. शाब्दिक अर्थ— "खण्डन की मिश्री जैसा स्वादिष्ट खाद्य"। वैद्यक में "खण्डखाद्य"
एक पौष्टिक पाक है। उसी प्रकार यह शंकाओं रूपी दुर्बलताओं को दूर कर स्वस्थ (आत्मज्ञान में स्थिति) करने वाला है।
61. "प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वं तदीयसाधनबाधनाक्षमतायां न नियामकं, किन्तु सद्वचनाभास लक्षण योगित्वमित्यवश्याभ्युपेयं भवता।"
श्रीहर्ष, खण्डनखण्डखाद्य, 1.4, पृ. 8.
62. "प्रमाणाद्यभ्युपगन्तुरेव यावन्नियमभारयन्त्रणा महती स्यात्"
वही, 1.6, पृ. 10.
63. "तदेतादृशीषु सर्वास्वपि दर्शनस्थितिषु काममास्माकीनाः खण्डनयुक्तयः प्रगल्भन्ते,
यासामीश्वरपरवशा.
विश्वव्यवस्थाम्अनास्थाय निरसनमशक्यं तासामेवावतार-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

णार्थमयं प्रावादुकप्रवादोपन्यासः।
तथाहि-यदि शून्यवादनिर्वचनीय
पक्षयोराश्रयणं, तदा तावदमूषां
निराबाधैव सार्वपकनीयता ।" वही,
1.45, पृ. 126.

64. "सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषो यदादिमः
सर्वमेवान्निर्वचनीयं वर्णयति,.....
विज्ञानत्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं
सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिनः
संगिरन्ते।"
श्रीहर्ष, खण्डनखण्डखाद्य, 3 पृ. 68.

65. "यदि
मेयस्वभावाऽनुगामिनीयमनिर्वचनीयतेति
न ब्रयुः वक्तृदोषादिति च वदेयुः।"
वही, पृ. 69.

66. "यदि तावत् स्वरूपं भेदः स नाम
घटपटयोर्हि स्वरूपं यत्परस्परस्माद्भेदः
तत्परस्परमनन्तर्भाव्य न संभवति"।
वही, पृ. 103.

67. "नहि यत्स्वरूपेणैव नीलं, तत् पीतेन
निरूप्यमाणं नीलं भवति।"
वही, पृ. 105.

68. "घटादिकमित्येवं भूत प्रतीतेस्तावद् भेद
प्रतीतिर्विलक्षणा", वहीं,
पृ. 108.

69. "अन्योन्याभावोपि यस्माद्भेद
एष्टव्यस्तमात्मन्येवान्तर्भाव-
येदुक्तयुक्तिभिः।" वही, पृ. 109.

70. "अन्योन्याभावोपि न प्रमाणेन प्रत्येतुं
शक्यः। नहि शशविषाण विशिष्टः
तदुपलक्षितो वा कश्चित्प्रमाणिको
भवितुमर्हति"। वही, पृ. 110.

71. "तथा सति घटत्वे पटत्वे च न
कश्चित्तादृशो धर्मोभ्युपगम्यते
योऽन्योन्यस्मिनिषेद्धुं
योग्य इति तपोस्तादात्म्यपत्तौ सत्यां घटे
पटत्वं, पटे घटत्वं च निषेधात् प्रमाणं
घटत्वपटत्वशून्यत्वं द्वयमप्यावेदयति।"
वही, पृ. 112.

72. "वैधर्म्ये वैधर्म्य विश्रान्त्यनवस्थयीः"
वही, पृ. 112.

73. "तदद्वैत श्रुतेस्तावद्बाधः प्रत्यक्षतः
क्षतः।
नानुमानादि तं कुर्त तवापि क्षमते
मते॥" वही, पृ. 118.

74. "न वयं भेदस्य सर्वथैवा
सत्त्वमभ्युपगच्छामः, किंनाम,
पारमार्थिकं सत्त्वम्।"
वही, पृ. 118.

75. "न च पारमार्थिक मतिरपारमार्थिकधिया
शक्यबाधा, माभूत् शुक्तिरजतधिया
परमार्थशुक्तिमतिबाधः।" वही, 119.

76. "लक्षणव्यावृत्तिर्लक्ष्याधीना,
तदाऽन्योन्याश्रय,
लक्ष्यपरतन्त्रलक्षणान्ताराधीनत्वे
चक्रकं...।" वही, शांकर भाष्य, पृ.
130.

77. "लक्षणधीना
तावल्लक्ष्यव्वस्थितिर्लक्षणानि
चाऽनुपपन्नानि ज्ञाताधिकरणादि
लक्षणनिरूपणद्वारेण चक्रकाद्यापत्तेः।"
वही, पृ. 130.

78. वहीं, पृ. 130.

79. वही, पृ. 230.

80. "एवं प्रमितेरनिरुक्त्या प्रमाकरणं
प्रमाणमित्यययुक्तम्
करणार्थानिरुक्तेश्च।" पृ. 239

81. "भ्रान्ति प्रतिपन्न वादिवाक्येपि प्रसंगात्,
प्रमाण दृष्टेति विशेषणे च यथा-
भूतस्यान्यथावादव्यापनात्।" वही. पृ.
396.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

82. "Sriharsa's method was a continuation of Nagarjuna's and an application of it to the actual definitions of the NyayaVaisesika."
Dr. S.N. Dasgupta, History of Indian Philosophy, Vol. II. p. 163.

83. वही, पृ. 148.

84. "रासभस्यापि धूमादिकारणत्वप्रसंगात्" चित्सुख, तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 499.

85. "कालस्याहेतुतापत्तेर्नाधियतोऽन्योन्यसंश्रयात्॥ स्वात्मवृत्तेरयुक्तत्वान्नियतत्वानिरुक्तितः॥" वही, पृ. 500.

86. "हेतुसाकल्यरूपायां सामग्रयां तदसंभवात्। कारणत्वनिरूक्तौ च सहकार्यनिरुपणात्।" वही, पृ. 502.

87. "तद्भावेऽपि तृणारणिमणीनां दहनहेतुत्वाङ्गीकारात्", वही, पृ. 503.

88. "अतिव्याप्तेः स्ववृत्तित्वाद भेदे भेदेप्यऽसंभवात्। कार्यस्य हेतुभिः सिद्धेर्वृथा साकल्यकल्पना॥" वही, पृ. 504.

89. "व्यापाराव्यपनादात्माश्रयत्वादनिरुक्तिः। समवायेस्य हेतुत्वे पूर्वदोषानुषङ्गतः॥" वही, पृ. 506.

90. "असिद्धः प्रतिबन्धस्य नृशृङ्गादावभावतः। सत्त्वे सतीति चायुक्तं दृष्टान्तादेरसिद्धितः॥" वही, पृ. 507.

91. "अनाद्यविद्या तद्विलसितः सकलोऽप्ययं प्रपञ्च इति तद्ग्राहि प्रत्यक्षादि प्रमाण विरोधा भावद्वैदान्तवाक्यं निरपवादमेवाद्वितीये ब्रह्मण्यपरोक्षज्ञानं जनयतीति निरवद्यम्॥" वही, पृ. 526.

92. न्यायामृताद्वैतसिद्धि (सम्पादकीय) भाग 2, पृ. 15.

93. "मिथ्यात्वं हि त्वयैव पक्षान्तरनिषेधेन पंचधम् निरूक्तम्", न्यायामृत, पृ. 14.

94. "तदनङ्गीकारात्", अद्वैतसिद्धि, पृ. 16

95. "त्रिकालावाध्यत्वरूप सत्त्व", वही, पृ. 16

96. "एकेनैव सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्प्रतीति", वही, पृ. 17

97. "न च तात्त्विका भावप्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वापत्ति, तात्त्विकाभाव-प्रतियोगिनि शुक्तिरजतादौ कल्पिते।" वही, पृ.22

98. "अज्ञानस्य स्वकार्येण वर्तमानेन प्रविलीनेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिवधिः" पं. वि., पृ. 178

99. "ज्ञान प्रयुक्तार्वास्थति सामान्यविरह प्रतियोगित्वं हि ज्ञाननिवर्त्यत्वम्।" वही, पृ. 38

100. "अवस्थितिश्च द्वेधा, स्वरूपेण कारणात्मना च, सत्कार्यवादाभ्युपगमात्।" वही, पृ. 38

101. वही, पृ. 81

102. वही, पृ. 82

103. "सत्त्वं च प्रमाणसिद्धत्वम्, प्रमाणत्वं च दोषासहकृतज्ञानकरणत्वम्, तेन स्वप्नादिवत्प्रमाणसिद्धभिन्नत्वेन मिथ्यात्वं सिध्यति।" वही, पृ. 43

104. विवेक चूडामणि, 59.

105. वही, 60.

106. खण्डनखण्डखाद्य, 3, पृ. 4.

■

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय 3

शंकर द्वारा विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की आलोचना

अद्वैत-वेदान्त का प्रतिपादन करने के लिए यह अभीष्ठ था कि शंकर तत्कालीन विभिन्न दार्शनिक-मतों की आलोचना करते। भाष्य-ग्रन्थों में जहाँ कहीं अवसर मिला है शंकर ने उनके सिद्धान्तों का खण्डन किया है। उनके विचार से कपिल, कणाद आदि के दार्शनिक सिद्धान्तों में अन्तःव्याघात है। इन दर्शनों के प्रतिपादक अपने सिद्धान्तों में अनुरक्त होने के कारण अपने प्रतिपक्षी को देखकर द्वेष करते हैं और विरोध मानते हैं। किन्तु अद्वैत-वेदान्त उनको अपना ही अंग मानता है और उससे विरोध नहीं करता।[1]

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि किसी भी दर्शन-पद्धति में कोई दोष नहीं है। अद्वैत-वेदान्त को छोड़कर, शंकर के मतानुसार प्रायः सभी दर्शनों में यह सामान्य दोष है कि उनमें द्वैत को ही परमार्थ माना गया है।[2] उनकी दृष्टि एक अखण्ड अद्वितीय वस्तु तक नहीं पहुँचती। दूसरे, वे सब अपनी मानवीय बुद्धि का आश्रय लेकर कल्पना करते हैं। मनुष्य की बुद्धि विलक्षण होती है। उनकी तर्क-बुद्धि के द्वारा उपलब्ध विषय एक होना दुष्कर है।[3] अतः उनके मत स्वभावतः व्याघातपूर्ण होते हैं।[4]

सांख्य-दर्शन की आलोचना

सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्त्व हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। वह सत्त्व, रजस् और तमस् के संयोग से स्वयं जड होते हुए भी चेतन पुरुष के सान्निध्य से उसी के हेतु विश्व का सर्जन करती है।

(क) अचेतन प्रधान से सृष्टि सम्भव नहीं

सांख्यवादी मानते हैं कि घट, सकोरा आदि वस्तुयें मृत्तिकामय हैं, अतः वे मृत्तिका से ही निर्मित होती हैं। इसी प्रकार बाह्य और आन्तरिक समस्त पदार्थ सुख, दुःख और मोह रूप देखने में आते हैं, अतः वे सुख, दुःख और मोह रूप सत्त्व, रजस् और तमस् से ही निर्मित होने चाहिए।

शंकर इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि अचेतन प्रकृति विना किसी चेतन सत्ता का अधिष्ठान पाये स्वतन्त्र रूप से जगत् की रचना का कार्य नहीं कर सकती। लोक में गृह, महल, शयन, आसन, विहारभूमि आदि समय के अनुसार बुद्धिमान् शिल्पियों द्वारा सुख-प्राप्ति और दुःख से बचने के लिए रचे देखे जाते हैं। फिर भला भिन्न-भिन्न कर्मफल के भोग योग्य पृथ्वी आदि यह सम्पूर्ण जगत्, अनेक अवयवों से युक्त दृश्यमान शरीर और प्राण, मन, बुद्धि आन्तरिक जगत् की रचना अचेतन प्रधान कैसे कर सकता है? बड़े-बड़े बुद्धिमान् शिल्पियों द्वारा इस रचना को समझा भी नहीं जाता है। जैसे मिट्टी, पत्थर आदि अचेतन होने के कारण कोई रचना नहीं कर सकते किन्तु चेतन कुम्हार आदि द्वारा उनको

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विशिष्ट आकार की रचना देदी जाती है। इसी प्रकार प्रधान को भी अन्य चेतन से अधिष्ठित मानना पड़ेगा।[5]

(ख) विषय सुख, दुःख या मोहात्मक नहीं

सांख्य मत के अनुसार बाह्य जगत् की वस्तुयें सुख, दुःख या मोह उत्पन्न करती हैं, अतः उनकी रचना सत्त्व, रजस् और तमस् के उपादान से होनी चाहिए। सत्त्व सुख, रजस् दुःख और तमस् मोह उत्पन्न करता है।

शंकर इससे सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि बाह्य और आन्तरिक विकारों का सुखदुःखमोहात्मकता के साथ अन्वय उत्पन्न नहीं होता। सुख-दुःख की आन्तरिक प्रतीति होती है। इसके विपरीत शब्दादि विषय बाह्य प्रतीत होते हैं। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि सुखादि ही बाह्य विषय, अन्तःकरण और इन्द्रियाँ उत्पन्न करते हैं। एक ही बाह्य विषय व्यक्तियों की भावना के अनुसार सुख, दुःख या मोह उत्पन्न कर सकता है। अतः वह विषय आदि सुख से निर्मित नहीं माना जा सकता है।[6]

(ग) परिमित गुणों से स्वतः सृष्टि सम्भव नहीं

सांख्यवादी तर्क देते हैं कि सत्त्व, रजस् और तमस् परिमित होने के कारण एक दूसरे के संसर्ग में आते हैं और परिमित बाह्य तथा आन्तरिक विषयों की रचना कर लेते हैं; जैसे, परिमित बीज परिमित अंकुर उत्पन्न कर देता है।

शंकर इसे सम्भव नहीं मानते। शयन, आसन आदि का निर्माण लकड़ी आदि से तभी होता है जब कोई चेतन निमित्त विद्यमान् होता है। अतः कार्य कारण भाव होने से बाह्य और आध्यात्मिक (आन्तरिक) विकारों में अचेतन पूर्वकत्व की कल्पना नहीं की जा सकती है।[7]

(घ) प्रकृति में प्रारम्भिक प्रवृत्ति ही संभव नहीं

सांख्य ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानता। वह तीनों गुणों की साम्यावस्था स्वतः भंग होकर सृष्टि रचना होने की कल्पना करता है।

शंकर कहते हैं कि इस विचित्र संसार-रचना की तो बात ही रहने दो, उस रचना की सिद्धि के लिए जो प्रधान की साम्यावस्था का भंग होना और तीनों गुणों का अंग-अंगी भाव से मिलना है, वह भी स्वतन्त्र रूप से सम्भव नहीं है। अचेतन प्रधान में यह सृष्टि-रचना की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? जड मृत्तिका आदि और रथ आदि में स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। मिट्टी में प्रवृत्ति के लिए कुलाल (कुम्हार) और रथ में गति के लिए अश्व की आवश्यकता होती है। अतः प्रवृत्ति ही संम्भव होने से प्रधान से जगत् उत्पत्ति सम्भव नहीं है।[8]

(ङ) अचेतन में दृष्टि प्रवृत्ति उसकी नहीं

सांख्यवादी यह तर्क दे सकते हैं कि जड वस्तु के विना अकेले चेतन में भी प्रवृत्ति नहीं देखी गई है। शंकर इसे स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि फिर भी चेतन अश्व संयुक्त अचेतन रथ आदि की प्रवृत्ति देखी जाती है। यहाँ प्रवृत्ति का क्या कारण है? चेतन अश्व से अथवा अचेतन रथ से प्रवृत्ति होती है? सांख्यवादी कहते हैं कि जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है वह उसकी है— यही मानना उचित है। प्रवृत्ति और उसका आश्रय दोनों प्रत्यक्ष हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, CA, USA

शंकर के मतानुसार यह मानना उचित नहीं है। चेतन के विद्यमान् होने पर ही अचेतन में प्रवृत्ति देखी जाती है और चेतन न होने पर अचेतन में प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती, इसलिए अन्वय-व्यतिरेक से अचेतन में प्रवृत्ति का कारण चेतन ही मानना होगा। प्रकृति अचेतन है, अतः वह अपनी प्रवृत्ति का कारण स्वयं नहीं हो सकती।[9]

(च) चेतन से प्रवृत्ति की संभाव्यता

सांख्यवादी यह तर्क करते हैं कि वेदान्त के अनुसार जो परमात्मा एक, अनन्त, विज्ञानस्वरूप मात्र है, वह भी प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता है।

शंकर कहते हैं कि यह मानना युक्त नहीं है। सर्वगत, सर्वात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा प्रवृत्ति रहित होकर भी सब को प्रवृत्त करे यह युक्त है। उदाहरण के लिए, अयस्कान्तमणि स्वयं प्रवृत्ति रहित होते हुए भी लोहे का प्रवर्त्तक होती है।[10] रूपादि विषय स्वयं प्रवृत्ति रहित होते हुए भी चक्षु आदि के प्रवर्त्तक होते हैं।

सांख्यवादी पूछ सकते हैं कि प्रवर्त्य (जड़ पदार्थ) न होने पर एकत्व के कारण चेतन में स्वयं प्रवृति कैसे होगी?

इसके उत्तर में शंकर कहते हैं कि माया के कारण नामरूप उत्पन्न होते हैं और अविद्या से वे सत् भासित होते हैं। उनमें चेतन सत्ता से प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। अतः चेतन सर्वज्ञ को कारण मानने पर प्रवृत्ति सम्भव है किन्तु अचेतन को कारण मानने में नहीं है।[11]

(छ) दूध-बछड़े के दृष्टान्त का खण्डन

सांख्य का प्रसिद्ध तर्क है कि गाय के थनों में अचेतन दूध बछड़े की वृद्धि के लिए स्वयं आ जाता है। अचेतन जल स्वभाव से ही लोगों के उपकार के लिए बहता है। इसी प्रकार अचेतन प्रधान भी स्वभाव से ही पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए सृष्टि रचना में प्रवृत्त होता है।

शंकर कहते हैं कि ये दोनों दृष्टान्त असंगत हैं। दूध और जल में प्रवृत्ति चेतन के अधिष्ठान से ही है। जीवित गाय के थनों से ही दूध आता है। गाय अपने बछड़े के प्रेम के कारण दूध उतारती है। दूध स्वयं नहीं बहता। नदियों का जल गुरुत्वाकर्षण के कारण बहता है और गुरुत्वाकर्षण का अधिष्ठाता ईश्वर है। इसका प्रमाण श्रुति है— "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासेन गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यदन्ते" (बृ. 3. 8. 9.)। हे गार्गी, इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्ववाहिनी एवं अन्य नदियाँ बहती हैं। चेतन की अपेक्षा तो सर्वत्र दिखाई देती है।[12]

(ज) अनपेक्ष पुरुष से प्रवृत्ति संभव नहीं

सांख्यवादी चेतन पुरुष को प्रकृति का प्रवर्तक कह सकते हैं किन्तु वह भी युक्त नहीं है।

शंकर कहते हैं कि प्रधान तीनों गुणों की साम्यावस्था में रहता है। उससे भिन्न उसका प्रवर्तक या निवर्तक कोई नहीं दिखाई देता। प्रकृति से भिन्न अगणित चेतन पुरुषों की सत्ता हो सकती है, किन्तु वे उदासीन हैं। अतः वे प्रधान का प्रवर्तन या निवर्तन नहीं कर सकते। इस प्रकार पुरुष के अनपेक्ष होने से प्रधान कभी महदादि रूप में परिणत होगा और कभी न होगा— यह अयुक्त है।[13] ईश्वर तो सर्वज्ञ, सर्व

CC0. In Public Domain. Prof: Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शक्तिमान् और महामायामय होने से सृष्टि और प्रलय कर सकता है।

(झ) तृण-दुग्ध न्याय का खण्डन

सांख्यवादी कहते हैं कि जैसे तृण, पल्लव, जल आदि अन्य निमित्त की अपेक्षा किये बिना स्वभाव से ही दूध बन जाते हैं, वैसे ही प्रधान भी स्वभाव से महदादि रूप में परिणत हो सकता है। यदि तृण आदि से भिन्न कोई निमित्त उपलब्ध होता तो उसकी इच्छानुसार ही हम दूध पा सकते थे, किन्तु ऐसा कोई निमित्त नहीं है।

शंकर कहते हैं कि निमित्त तो स्पष्ट रूप से विद्यमान है। गाय के खाने पर ही तृण आदि दूध रूप में परिवर्तित होते हैं। मरी गाय या जीवित बैल द्वारा खाये जाने पर भी तृणादि का दूध नहीं बन सकता है। यदि बिना निमित्त के तृणादि से दूध बन सके तो गाय पालने और उसे खिलाने की क्या आवश्यकता है? मनुष्य अपनी इच्छानुसार उसे सम्पादन करने में समर्थ नहीं है, इतने मात्र से वह निर्निमित्त नहीं होता। कोई कार्य मनुष्य सम्पाद्य है और कोई कार्य देव सम्पाद्य है। मनुष्य भी उचित उपाय से तृण आदि लेकर दूध के सम्पादन करने में समर्थ होते हैं। पुष्कल दूध चाहने वाले पुरुष गौ को पुष्कल घास खिलाते हैं। अतः तृणादि के समान प्रधान का परिणाम स्वभाविक नहीं है।[14]

(ञ) स्वतः प्रवृत्त प्रधान में दोष

शंकर कहते हैं कि प्रधान की प्रवृत्ति स्वभाविक नहीं हो सकती, फिर भी सांख्यवादियों की श्रद्धा के अनुसार उसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति मान ली जाय तो भी अनेक दोष रहेंगे।

पहली कठिनाई तो प्रयोजन का अभाव है। यदि प्रधान विना किसी चेतन निमित्त के प्रवृत्त हो सकता है, उसे किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं हो, तो उसी प्रकार उसे प्रयोजन की भी अपेक्षा न होगी। यदि ऐसा है, तो सांख्य के इस मत की हानि होगी कि प्रधान पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए प्रवृत्त होता है।[15]

सांख्य अपने मत की रक्षा करने के लिए कह सकता है कि प्रधान सहकारी की अपेक्षा तो नहीं रखता, किन्तु प्रयोजन की अपेक्षा रखता है। यदि ऐसा है, तो शंकर उसकी परीक्षा करते हैं और यह जानने का प्रयास करते हैं कि भोग और मोक्ष दोनों प्रवृत्ति के प्रयोजन कैसे हो सकते हैं।

यदि भोग है तो असंग पुरुष को भोग कैसे प्राप्त होंगे और वह भोग में क्यों प्रवृत्त होगा? यदि भोग में प्रवृत्त होगा तो उसके मोक्ष के अभाव का प्रसंग आ जायेगा।

यदि मोक्ष ही प्रयोजन है तो सृष्टि होने और भोगों में लिप्त होने से पहले वह पुरुष मुक्त ही है, उसकी प्रवृत्ति निष्फल होगी और शब्द आदि विषयों की अनुपलब्धि का प्रसंग आ जायगा।

दोनों प्रयोजन मानने पर भोग के योग्य अनन्त विषय प्राप्त होने पर मोक्ष के अभाव का प्रसंग आयेगा। निर्मल, निष्कस पुरुष में उत्सुकता नहीं हो सकती। अतः उत्सुकतावश भी पुरुष भोगों में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त, यदि यह मानें कि पुरुष की दृक्शक्ति के कारण प्रधान में सर्वशक्ति उत्पन्न होती है, पुरुष की दृकशक्ति नित्य होने के कारण सृष्टि नित्य होगी और मोक्षाभाव का प्रसंग होगा; अतः प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के प्रयोजन के लिये है। यह उचित नहीं है।[16]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ट) अंध-पंगु न्याय का खण्डन

सांख्य अपने मत का प्रतिपादन करने के लिये पुनः युक्ति देते हुये कहता है कि पुरुष और प्रकृति के सहयोग से सृष्टि हो सकती है, क्योंकि अंध-पंगु न्याय से दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। जैसे अंधा मनुष्य अपने कंधे पर पंगु मनुष्य को बैठा कर सफलतापूर्वक यात्रा कर सकता है, वैसे ही चेतन किन्तु निष्क्रिय पुरुष जड प्रकृति को प्रेरित कर सकता है। चुम्बक भी स्वयं अप्रवृत्त रह कर लोहे को प्रवृत्त कर सकता है।

शंकर इन दृष्टान्तों का खण्डन करते हैं। पंगु पुरुष अन्धे पुरुष को वाणी आदि से प्रवृत्त करता है। किन्तु इस प्रकार पुरुष में कोई भी प्रवृत्तिजनक व्यापार नहीं है, क्योंकि वह निष्क्रिय और निर्गुण है।

चुम्बक के समान यदि पुरुष अपनी सन्निधि मात्र से प्रधान को प्रवृत्त करता है, तो पुरुष की सन्निधि नित्य होने के कारण सृष्टि भी नित्य होगी। यदि सृष्टि और प्रलय दोनों संभव मानें तो पुरुष और प्रकृति की सन्निधि को नियन्त्रित करने वाला कोई तीसरा तत्त्व होना चाहिये।[17]

(ठ) गुणों के स्वरूप के नाश का भय

प्रधान में सृष्टि-रचना की प्रवृत्ति न होने का एक कारण और भी है। सत्त्व, रजस् और तमस् जब समभाव से रहते हैं और उनमें से किसी एक गुण की अधिकता या प्रधानता नहीं होती है, तो उसे प्रधानावस्था कहते हैं। उस अवस्था में कोई गुण किसी दूसरे गुण पर आश्रित नहीं होता है। तब एक-दूसरे के स्वरूप की अपेक्षा से रहित सत्त्व आदि गुणों के अपने-अपने स्वरूप का नाश होने के भय से परस्पर के प्रति अङ्ग-अङ्गी भाव नहीं हो सकता। उनके अतिरिक्त ऐसी कोई बाह्य शक्ति भी नहीं है जो उनमें क्षोभ उत्पन्न कर विषमता लावे और महद् आदि की उत्पत्ति हो। अतः प्रधान से सृष्टि रचना नहीं हो सकती।[18]

(ड) चलस्वरूप गुणों से सृष्टि सम्भव नहीं

सांख्यवादी कह सकते हैं कि हम साम्यावस्था में गुणों के सर्वथा पृथक्, निरपेक्ष और स्थिर रहने की कल्पना नहीं करते हैं। इसलिए हमारे मत में उपर्युक्त दोष नहीं आ सकता है। कार्य के अनुसार गुणों का स्वभाव स्वीकार किया जाता है। अतः गुणों का स्वभाव चलस्वरूप है और उनमें विषमता उत्पन्न हो सकती है।

शंकर इसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि गुणों में ज्ञानशक्ति न होने के कारण पूर्व वर्णित दोष यथावत् रहेंगे। वैषम्य प्राप्ति के योग्य चलस्वरूप के गुण साम्यावस्था में निमित्त के न होने से वैषम्य को प्राप्त न होंगे। यदि कदाचित् सांख्य यह भी मान ले कि विना निमित्त के गुणस्वभावतः ही विषमता को प्राप्त होते हैं, तो उनमें सदा विषमता ही रहेगी, जैसी इस समय सृष्टि काल में है। ऐसी दशा में प्रलय सम्भव न होगा।[19]

जैन दर्शन की आलोचना

(1) सप्तभंगीनय अथवा स्याद्वाद का खण्डन

जैन-दर्शन की तर्कना-पद्धति के अन्तर्गत उनका सप्तभंगीनय आता है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मवाली होती है। उसके सम्बन्ध में अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं। वे परस्पर विरोधी होते हुये भी अपने-अपने प्रसंग के अनुसार सत्य हैं। यह उनका अनेकान्तवाद है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हर दृष्टिकोण के साथ "स्यात्" शब्द का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि वही एकमात्र दृष्टिकोण सत्य नहीं है। यह स्याद्वाद प्रतिपादित करता है कि हमारा ज्ञान पूर्ण सत्य नहीं है; वह पदार्थों की स्थिति-विशेष को लेकर ही है। हमारा ज्ञान सापेक्ष है। जैनों ने सात प्रकार के दृष्टिकोणों पर विचार किया है। अतः उनका स्याद्वाद सप्तभंगीनय कहलाता है। ये सात दृष्टिकोण इस प्रकार हैं— (1) स्यादस्ति, (2) स्यात् नास्ति, (3) स्यात् अस्ति नास्ति च, (4) स्यात् अवक्तव्यं, (5) स्यात् अस्ति च अव्यक्तव्यं च, (6) स्यात् नास्ति च अव्यक्तव्यं च, (7) स्यात् अस्ति च नास्ति च अव्यक्तव्यं च। एकत्व और नित्यत्व में भी इस सिद्धान्त की योजना की जाती है।

शंकर इसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि यह जैन सिद्धान्त युक्त नहीं है।

(क) एकधर्मी में विरुद्ध धर्म असम्भव

शंकर के मतानुसार एक ही वस्तु में सत्त्व और असत्व, अस्तित्व और अनस्तित्व, शीत और उष्ण आदि विरोधी धर्म एक साथ नहीं रह सकते। हम किसी वस्तु को संकेत कर यह नहीं कह सकते कि वह है और नहीं भी है। दो विरोधी गुणों का एक साथ होना तर्क-विरुद्ध और बुद्धि अग्राह्य है।[20]

(ख) संशयात्मक ज्ञान

किसी वस्तु का होना, न होना और अवक्तव्य होना संशय के कारण ही प्रतीत होता है। "अनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणवेव स्यात्" —अनिर्धारित रूप से उत्पन्न हुआ ज्ञान संशय ज्ञान के समान अप्रमाण ही होगा। प्रामाणिक ज्ञान निश्चयात्मक होना चाहिये।

यदि कोई निर्धारित ज्ञान हो तो उसे भी यह स्याद्वाद अनिर्धारित बना देगा। स्यादस्तिस्यान्नास्ति का विकल्प अनिर्धारण ही उत्पन्न करेगा। इस प्रकार निर्धारण करने वाले का और निर्धारण फल का एक पक्ष में अस्तित्व होगा और दूसरे पक्ष में नास्तित्व होगा। ऐसी स्थिति में प्रमाणभूत होता हुआ भी तीर्थङ्कर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति के अनिर्धारित होने पर उपदेश करने में कैसे समर्थ होगा? अथवा तीर्थङ्करों के अभिप्राय का अनुसरण करने वाले शिष्य उनके उपदिष्ट अनिर्धारितरूप अर्थ में कैसे प्रवृत्त होंगे?[21]

(ग) आत्मघाती सिद्धान्त

विचार करने पर स्याद्वाद आत्मघाती सिद्ध होता है। यदि सब कुछ अनिर्धारित है तो स्याद्वाद स्वयं अनिर्धारित होना चाहिये। जैन भले ही अपने इस मत को संशय का मत न मानकर ज्ञान की सापेक्षता का मत कहें, किन्तु शंकर की आलोचना काफी पुष्ट है। निरपेक्ष के विना सापेक्ष स्वतन्त्र रूप से विद्यमान नहीं रह सकता। यदि सब कुछ आंशिक सत्य है तो स्याद्वाद भी आंशिक सत्य है और आंशिक मिथ्या है।

जैन-दर्शन के किसी सिद्धान्त पर इस स्याद्वाद का सिद्धान्त लगाने से स्थिति गड़बड़ा जाती है। शंकर अस्तिकायों की पाँच संख्या पर इसका प्रयोग करते हैं। परिणाम यह होता है कि एक पक्ष में "स्यात्, ऐसा होगा" और दूसरे पक्ष में "नस्यात्, ऐसा न होगा"। इससे न्यून संख्यात्व अथवा अधिक संख्यात्व प्राप्त होता है। इन पदार्थों में अवक्तव्यत्व भी संभव नहीं है। यदि वे अवक्तव्य हैं तो नहीं कहे जायेंगे, फिर भी यदि कहे जाते हैं तो वे अवक्तव्य नहीं हो सकते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, AANS/USA

ये कथित पदार्थ उसी प्रकार अवधारित होते हैं तथा अवधारित नहीं होते हैं और उसी प्रकार उसका अवधारण फल सम्यग्दर्शन है अथवा नहीं है, एवं उससे विपरीत असम्यग्दर्शन भी है अथवा नहीं। इस प्रकार प्रलाप करता हुआ मत्तोन्मत्त पक्ष का होगा, निश्चयात्मक पक्ष का नहीं। यही स्थिति जैन-दर्शन के अन्य सिद्धान्तों की होगी। अतः आर्हत मत असंगत है।[22]

(2) आत्मा सम्बन्धी मध्यमपरिमाणवाद का खण्डन

जैन-दर्शन के अनुसार जीव अनेक हैं। वे गणना में नहीं आ सकते हैं। इसलिए यह दर्शन बहुजीववादी माना जाता है। सभी जीव स्वभावतः चेतन हैं। वे स्वयं प्रकाशवान् हैं और अपने से भिन्न वस्तुओं को भी प्रकाशित करते हैं। कर्म से लिप्त होकर ये जन्मते हैं और मरते हैं। अतः इन्हें बार-बार शरीर धारण करना पड़ता है। मुक्त होने पर ये कर्म और शरीर रहित होकर अलोकाकाश में विश्राम करते हैं।

जीवों के आकार के सम्बन्ध में विभिन्न मत पाये जाते हैं। वेदान्त, न्याय, सांख्य आदि मतों में आत्मा विभु आकार का माना गया है। वैष्णव दार्शनिक उसे अणु-परिमाण का मानते हैं। किन्तु इन दोनों मतों के विपरीत जैन जीव को शरीर के आकार का स्वीकार करते हैं। इसे "मध्यम परिमाणवाद" कहते हैं। इसके अनुसार जीव जो शरीर धारण करता है, वह उसी के आकार का बन जाता है। बड़े शरीर में फैल कर बड़ा हो जाता है और छोटे शरीर में वह घटकर छोटा हो जाता है। शंकर ने इस मध्यमपरिमाणवाद का खण्डन किया है।

(क) मध्यमपरिमाण में नश्वरता का दोष

यदि आत्मा शरीर के परिमाण का है तो वह अकृत्स्न (अपूर्ण), असर्वगत और परिच्छिन्न होगा। ये समस्त लक्षण विनाशी वस्तु के होते हैं, जैस घट। अतः आत्मा को विनाशी मानना पड़ेगा। यह निर्णय जैन-दर्शन के विपरीत है। इसलिए आत्मा को मध्यम परिमाण का नहीं माना जा सकता।[23]

(ख) सब शरीरों के योग्य नहीं

शरीरों का तो अनिश्चित परिमाण होता है। कोई शरीर चींटी जैसा छोटा होता है और कोई हाथी जैसा बड़ा। कर्म-विपास से मरने के बाद छोटा-बड़ा कोई भी शरीर मिल सकता है। मनुष्य शरीर में रहने वाला जीव यदि दूसरे जन्म में हाथी का शरीर प्राप्त करता है तो वह सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त नहीं करेगा और यदि उसे चींटी का जन्म मिल गया तो उस शरीर में पूर्ण रूप से नहीं समायेगा। एक ही जन्म में शरीर सदा एक आकार का नहीं रहता। शिशु, युवा और वृद्ध पुरुष में शरीर के विभिन्न आकार देखे जाते हैं। मध्यम आकार का आत्मा सब आकार के शरीरों में पूर्ण रूप से नहीं आ सकता।[24]

(ग) आत्मा के छोटे-बड़े होने में दोष

जैन कहते हैं कि आत्मा अनन्त अवयव (अंश) वाला है। छोटा शरीर पाने पर संकुचित हो जाते हैं और बड़ा शरीर पाने पर विकसित हो जाते हैं। इसलिए छोटे-बड़े सभी शरीरों को वह व्याप्त कर लेता है।

शंकर कहते हैं कि यदि ऐसा है तो छोटा शरीर पाने पर आत्मा के कुछ अंशों का प्रतिघात (विनाश) होगा या नहीं? यदि उनका विनाश नहीं होता है तो अनन्त अवयव वाला आत्मा संकुचित होकर छोटे शरीर में नहीं आ सकता। इसके विपरीत यदि वे नष्ट हो सकते हैं और उसका कुछ अंश ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शेष रह जाता है तो आत्मा अणु मात्र होगा। वह सब शरीर को व्याप्त न कर सकेगा। इसके अतिरिक्त यह कल्पना नहीं की जा सकती कि शरीर मात्र में परिच्छिन्न आत्मा अनन्त अवयवों से युक्त है।[25]

(घ) आत्मा के अवयव कम-अधिक होने में दोष

जैन दार्शनिक कहते हैं कि जीवों के घटने-बढ़ने की एक विशेष विधि है। बृहत् शरीर प्राप्त होने पर कुछ जीवावयव पास आकर उसमें जुड़ जाते हैं और अल्प शरीर प्राप्त होने पर कुछ जीवावयव दूर हो जाते हैं और जीव छोटा होकर उस शरीर में आ जाता है।

शंकर इस कल्पना में भी दोष दिखाते हैं। वे कहते हैं कि इस प्रकार जीव के अवयव घटने-बढ़ने से उसमें विकार आदि दोष आ जायेंगे। जीव को यदि विकार युक्त मान लें तो वह अनित्य होगा। अनित्य जीव मुक्ति नहीं पा सकता। यदि मुक्ति नहीं है तो बन्धन भी नहीं है।[26]

(ङ) अवयवों का अनात्मत्व

यदि जीव को कुछ अवयव बाहर से प्राप्त होते हैं और उन्हें पाकर वह बड़ा हो जाता है अथवा कुछ अवयव वह त्याग सकता है जो उसे छोड़कर उससे अलग हो सकते हैं, तो निश्चय ही ये आने-जाने वाले अवयव शरीर के समान अनात्मा होंगे। अनात्मस्वरूप अवयव आकर आत्मा में मिल नहीं सकते और यदि वे आत्मा के लक्षणों से युक्त हैं और उसके अभिन्न अंग हैं तो वे आत्मा को त्याग कर अलग नहीं हो सकते।

इसके अतिरिक्त यह विचार करना होगा कि आत्मा में कितने अवयव ऐसे हैं जिन्हें वह त्याग सकता है। यदि सभी अवयवों का त्याग हो सकता है तो आत्मा नाम का कुछ भी शेष नहीं है। यदि कुछ अंश शेष रहता है जिसका त्याग नहीं हो सकता तो वही उसका वास्तविक आकार होगा और यह निश्चित करना होगा कि वह किस आकार का है।

(च) आगन्तुक अवयवों की प्रकृति

यदि जीव अपने कुछ अवयव त्याग सकता है तो वे कहाँ जाते हैं, उनका क्या होता है, वे कहाँ विलीन होते हैं? ये प्रश्न उठना स्वाभाविक है। यह नहीं कहा जा सकता कि वे अंश भौतिक पदार्थों से आविर्भूत होकर आते हैं और जीव से पृथक् होकर भूतों में ही मिल जाते हैं, क्योंकि जीव अभौतिक है। जैन स्वयं जीव और अजीव दो प्रकार के द्रव्यों का विभाजन करते हैं।

यदि कहा जाय कि जीवों में साधारण और असाधारण दो प्रकार के अवयव होते हैं तो उसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है और न जैन-दर्शन ही उनका उल्लेख करता है। इस कारण अवयवों के त्याग की कल्पना मिथ्या है।[27]

(छ) चेतना-सन्तान मानने में आपत्ति

जैन कह सकते हैं कि जीव स्रोत-सन्तान (प्रवाह) की भाँति चेतना-सन्तान है। जल के प्रवाह में जल आता भी है और जाता भी है, किन्तु प्रवाह नित्य रहता है। इसी प्रकार चेतना के कुछ अंश आने और कुछ अंश जाने पर भी जीव नित्य है।

ऐसा पाने पर शंकर कहते हैं कि अब हमें यह विचार करना होगा कि यह चेतना-सन्तान वस्तु है या अवस्तु है। यदि वह वस्तु है और उसमें विकार होता है तो वह अनित्य होगा। यदि वह वस्तु है तो जैन भी बौद्धों की तरह निरात्मवादी सिद्ध होंगे।[28]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies - AAIS, USA

(ज) मोक्ष अवस्था में आत्मा का निश्चित आकार

जैन मत के अनुसार मुक्त अवस्था में जीव का आकार निश्चित और स्थायी होता है। इस मत पर शंकर कहते हैं कि यदि मुक्त अवस्था में जीव का आकार निश्चित है तो पूर्व और मध्य में उसका वही आकार होना चाहिए। वे एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। अतः जीव को अणु या महान् आकार का मानना पड़ेगा। उसे शरीर परिमाण का मानना किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है।[29]

वैशेषिक दर्शन की आलोचना

परमाणुवाद का खण्डन

वैशेषिक मत में सात पदार्थ माने गये हैं— (1) द्रव्य, (2) गुण, (3) कर्म, (4) सामान्य, (5) विशेष, (6) समवाय और (7) अभाव। पदार्थ उस वस्तु को कहते हैं जिसका किसी पद (शब्द) से बोध होता है। जिन वस्तुओं के नाम हो सकते हैं वे सब पदार्थ हैं। समस्त पदार्थों को दो वर्गों में बाँट सकते हैं— भाव-पदार्थ और अभाव-पदार्थ। उपर्युक्त सात पदार्थों में से प्रथम छः भाव-पदार्थ और अन्तिम अभाव-पदार्थ है। प्राचीन वैशेषिक दर्शन केवल छः भाव-पदार्थ मानता था। उसमें ईश्वर की भी सत्ता नहीं मानी गयी थी। शंकर उसी का खण्डन करते हैं। उत्तर वैशेषिक में अभाव नाम का पदार्थ और ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर ली गयी।

इसका सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त परमाणुवाद कहलाता है। सूक्ष्म परमाणु जगत् के उपादान कारण हैं। उन्हीं से पृथ्वी आदि तत्त्वों और लोक-लोकान्तर तथा प्राणियों के शरीरों की रचना होती है। ये परमाणु अविभाज्य हैं। ये चार प्रकार के कहे गये हैं। उन चार प्रकार के परमाणुओं से पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु जैसे मूल तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। प्रलय काल में समस्त जगत् परमाणु अवस्था में होता है। विश्व की रचना प्रारम्भ होने पर सर्वप्रथम वायु परमाणुओं में जीव के संसर्ग से गति उत्पन्न होती है,[30] क्योंकि जीवों में ही पाप-पुण्य रूप अदृष्ट का वास होता है। गति उत्पन्न होने पर परमाणु एक-दूसरे से जुड़कर द्वयणुकों की रचना करते हैं। जब तीन द्वयणुक एक साथ मिलते हैं तो त्रसरेणु बनते हैं। द्वयणुक दिखाई नहीं देता किन्तु त्रसरेणु सब से छोटी दिखाई देने वाली वस्तु है। उससे अन्य बड़े यौगिक बनते हैं और इस प्रकार वायु का अणु उत्पन्न हो जाता है। इसी विधि से अग्नि, जल और पृथ्वी के अणुओं की क्रमशः रचना होती है और इन्द्रियों सहित शरीर बनता है। परमाणुओं के गुण द्वयणुओं में उसी प्रकार आ जाते हैं जैसे धागे के गुण वस्त्र में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस मान्यता के मूल में वैशेषिकों का यह तर्क है कि लोक में पट आदि सावयव पदार्थ स्वभावतः संयोग सहकारी तन्तु आदि द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं। इस सिद्धान्त से पदार्थों के अवयवों की खोज करते हुए आगे बढ़ें तो हम परमाणुओं पर पहुँच जाते हैं। वे परमाणु पुनः विभक्त नहीं हो सकते। शंकर ने इस परमाणुवाद का खण्डन किया है।

(क) प्रारम्भिक गति सम्भव नहीं

शंकर को सर्वप्रथम यह आपत्ति है कि परमाणुओं में प्रारम्भिक गति उत्पन्न नहीं हो सकती। जब दो परमाणु मिलकर एक द्वयणुक बनता है तो इस कार्य के लिए गति उत्पन्न करने वाली कोई शक्ति होनी चाहिए। गति का कारण प्रयत्न या अभिघात होता है।[31] परमाणुओं में गति उत्पन्न करने वाला ऐसा कोई कारण नहीं प्रतीत होता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वैशेषिक मतानुसार जीव के पाप-पुण्यरूप अदृष्ट से यह गति उत्पन्न हो सकती है। शंकर के मतानुसार, प्रलय काल में जीव के शरीर न होने के कारण वह गति उत्पन्न नहीं कर सकता। प्रयत्न करना जीव का गुण है, किन्तु प्रयत्न तभी सम्भव है जब वह शरीर में रहने वाले अन्तःकरण के संसर्ग में आता है। इसी आधार पर अभिघात जैसे दृष्टिगत होने वाले कारण भी सम्भव प्रतीत नहीं होते। ये कारण स्वयं ही तब उत्पन्न होते हैं जब संसार की रचना हो चुकी होती है, फिर भला ये संसार रचना के हेतु कैसे हो सकते हैं?[32]

(ख) अदृष्ट से गति का खण्डन

शंकर द्वन्द्वात्मक तर्क करते हैं कि यदि अदृष्ट को परमाणु की मूल गति का कारण माना जाता है तो हम पूछ सकते हैं कि इस अदृष्ट का निवास जीव में है या परमाणु में। दोनों अवस्थाओं में यह परमाणुओं की मूल गति का कारण नहीं हो सकता। कणाद के अनुसार बुद्धि आत्मा का अर्जित गुण है। अन्तःकरण और आत्मा के संयोग से उसकी उत्पत्ति होती हैं। अतः सृष्टि के पूर्व आत्मा अन्तःकरण के सम्पर्क में न आ सकने के कारण बुद्धि-रहित होता है। बुद्धि के अभाव में आत्मा अदृष्ट को प्रेरित नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त, अदृष्ट को आत्मा में समवेत मानने से भी, अदृष्ट के साथ परमाणुओं का न सम्बन्ध हो सकता है और न उससे गति उत्पन्न हो सकती है।

यदि कहा जाय कि अदृष्ट समन्वित आत्मा का परमाणुओं से सम्बन्ध है और इसीलिए परमाणुओं में कर्म उत्पन्न हो सकता है तो किसी नियामक के अभाव में दोनों के बीच सदा सम्बन्ध बने रहने से परमाणु सदा सक्रिय बने रहेंगे और प्रलय सम्भव न होगी। किन्तु कणाद प्रलय स्वीकार करते हैं। अतः परमाणुओं से या तो रचना होगी ही नहीं या ऐसी रचना होगी जो कभी समाप्त न होगी।

(ग) परमाणु-संयोग में कठिनाई

शंकर कहते हैं कि अवयवरहित दो परमाणुओं का संयोग होना भी सम्भव नहीं है। वस्तुओं का संयोग केवल दो प्रकार से हो सकता है— सर्वदेशीय या एकदेशीय। यदि दो परमाणुओं का संयोग सर्वात्मना हो तो द्व्यणुक में आकार वृद्धि न होगी, क्योंकि एक परमाणु दूसरे में पूरा समा जायेगा। इससे परमाणुओं के आकार में वृद्धि न होगी। वे पूर्ववत् परमाणु ही बने रहेंगे।

इसके विपरीत यदि परमाणुओं का संयोग एक-देशीय या आंशिक होता है तो यह मानना पड़ेगा कि परमाणु में भाग है। वैशेषिक ऐसा नहीं मानते हैं।

तीसरा विकल्प यह हो सकता है कि वैशेषिक यह मान ले कि परमाणु काल्पनिक अंशों से मिलकर बने हैं। इस स्थिति में परमाणुओं का संयोग भी काल्पनिक मानना होगा। काल्पनिक संयोग से बनी वस्तुयें भी काल्पनिक रहेंगी, सत्य नहीं। वैशेषिक दृश्य जगत् को काल्पनिक नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार जो कुछ दिखाई देता है वह सब सत्य है।

(घ) परमाणुओं में क्रिया का अभाव

शंकर परमाणुओं में गति की असम्भावना सिद्ध करने के लिए चतुष्कोटि न्याय का प्रयोग करते हैं। परमाणुओं में गतिविषयक चार विकल्प हो सकते हैं— वे स्वभावतः सक्रिय हैं, या निष्क्रिय स्वभाव वाले हैं या सक्रिय-निष्क्रिय स्वभाव वाले हैं या उभय स्वभाव से रहित हैं। इन चार के अतिरिक्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परमाणुओं की अन्य कोई स्थिति सम्भव नहीं है। इन चारों प्रकार से परमाणुकारणवाद उत्पन्न नहीं होता। यदि वे सक्रिय स्वभाव के हैं तो वे नित्य सक्रिय रहेंगे और प्रलय न हो सकेगी। उन्हें निष्क्रिय स्वभाव का मानने पर वे नित्य निष्क्रिय बने रहेंगे और विश्व की रचना न हो सकेगी। उभय स्वभाव में स्वयं व्याघात है। एक ही पदार्थ में दो विरोधी गुण नहीं हो सकते। परमाणु सक्रिय भी हों और निष्क्रय भी हों ऐसा एक साथ सम्भव नहीं है। चौथी स्थिति में परमाणु न सक्रिय हैं और न निष्क्रिय। यह सम्भव है, किन्तु सृष्टि हेतु परमाणुओं को गति देने वाला कोई अन्य पदार्थ मानना पड़ेगा। अदृष्टादि निमित्त के नित्य सन्निधान से परमाणुओं में नित्य सक्रियता रहेगी और यदि अदृष्टादि के संयोग होने पर भी निष्क्रियता रहती है तो वह भी नित्य रहेगी। इस प्रकार परमाणुकारणवाद सम्भव सिद्ध नहीं होता।

(ङ) समवाय सम्बन्ध का खण्डन

वैशेषिक-दर्शन में दो प्रकार के सम्बन्ध माने जाते हैं— संयोग और समवाय। जब दो पृथक् वस्तुयें कुछ काल के लिए एक साथ मिलें तो उसे संयोग सम्बन्ध कहते हैं। मेज पर रखी पुस्तक का सम्बन्ध इसी प्रकार का है। इसे युतसिद्ध सम्बन्ध कहते हैं। समवाय दो पदार्थों का वह सम्बन्ध है जिसके कारण वे एक दूसरे में समवेत रहते हैं। अवयव और अवयवी, गुण और द्रव्य आदि इसी प्रकार के सम्बन्ध हैं। यह अयुतसिद्ध सम्बन्ध है। धागे और वस्त्र का सम्बन्ध समवाय कहलाता है। धागे के विना वस्त्र का अस्तित्व नहीं रह सकता। वैशेषिक दो परमाणुओं का सम्बन्ध समवाय ही मानते हैं, संयोग नहीं। यह भी आपत्तिजनक है।

इस दर्शन-पद्धति में दो परमाणुओं को समवाय सम्बन्ध से जुड़ा मानते हैं। यह समवाय वैशेषिक के सात पदार्थों में से एक है और परमाणुओं के समान अपनी सत्ता रखता है। जैसे परमाणु एक-दूसरे से पृथक् होते हैं, वैसे ही उनको जोड़ने वाला समवाय भी उनसे पृथक् है। दो परमाणुओं को जोड़कर एक बनाने के लिए एक समवाय की आवश्यकता होती है। उन्हें जोड़ने के लिए फिर अन्य समवाय चाहिए आदि। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।[33]

यदि इस आपत्ति के समाधान में वैशेषिक कहते हैं कि हम व्यवहार में सूत-वस्त्र आदि वस्तुयें समवाय सम्बन्ध से जुड़ी देखते हैं और जैसे उनमें अनवस्था दोष नहीं है,वैसे ही परमाणु और द्वयणुक में समवाय सम्बन्ध मानने से दोष न होगा, तो शंकर कहते हैं कि व्यवहार में तो संयोग सम्बन्ध ही माना जाता है। वस्तु और संयोग को जोड़ने के लिए समवाय की आवश्यकता नहीं होती।

इस पर वैशेषिक कहते हैं कि संयोग सम्बन्ध एक गुण है और समवाय सम्बन्ध गुण नहीं है। अतः गुण होने से संयोग अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है और समवाय अगुण होने से अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता। शंकर कहते हैं कि ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि दोनों में अपेक्षा का कारण समान है अर्थात् वे सम्बन्धियों से पृथक् हैं।[34] अतः समवाय को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानकर वैशेषिक अनवस्था दोष में पड़ जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि परमाणुओं से विश्व-रचना सिद्ध नहीं हो पाती।

(च) परमाणु अन्तिम कारण नहीं

वैशेषिक जगत् का अन्तिम कारण परमाणु मानते हैं। वे अविभाज्य हैं, इसलिए वे स्वयं किसी दूसरे अंश या वस्तु से नहीं बने हैं। शंकर इस मत का खण्डन वैशेषिक मत के ही अन्य सिद्धान्त से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करते हैं। इसी गुण-भेद के कारण उनके मिलने से वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के पृथक् तत्त्व निर्मित होते हैं। अतः परमाणुओं को भी किसी वस्तु का कार्य होना चाहिए जो उनसे और अधिक सूक्ष्म हो। लोक में जो रूप आदि युक्त वस्तु हैं वह अपने कारण की अपेक्षा स्थूल और अनित्य देखी जाती है। जैसे पट तन्तुओं की अपेक्षा स्थूल और अनित्य होता है, तन्तु अपने अवयवों की अपेक्षा स्थूल और अनित्य होते हैं, वैसे ही परमाणु भी रूपादि युक्त हैं, ऐसा वे स्वीकार करते हैं। इसलिए वे भी कारण वाले हैं और उसकी अपेक्षा स्थूल और अनित्य हो जाते हैं।[35]

(छ) परमाणु गुणयुक्त सम्भव नहीं

हम देखते हैं कि पृथ्वी, जल आदि में गन्ध, स्वाद आदि भिन्न गुण हैं। इसलिए वैशेषिक मत में उनके परमाणु भी गुण युक्त माने गये हैं। शंकर को इसमें आपत्ति है। वे कहते हैं कि यदि परमाणु गुणयुक्त माने जायेंगे तो वे परमाणु ही नहीं हो सकते। उनका तर्क इस प्रकार है।

यदि परमाणुओं में गुण हैं तो वे तीन प्रकार से ही माने जा सकते हैं। या तो प्रत्येक परमाणु में वायु से पृथ्वी तक चारों भूतों के चारों गुण हैं, या एक परमाणु में एक गुण है या भूत के अनुसार परमाणुओं में क्रमशः एक, दो, तीन और चार गुण हैं। पहली दशा में प्रत्येक परमाणु में चारों गुण होंगे तो उन परमाणुओं के संघात से एक प्रकार की वस्तु उत्पन्न होगी। दूसरी दशा में एक परमाणु में एक ही गुण होने पर भी उनके संघात से एक ही प्रकार का पदार्थ उत्पन्न होगा। इन दोनों दशाओं में वायु से पृथ्वी तक की विभिन्नता का सर्जन न हो सकेगा।

अब हमारे पास एक ही विकल्प शेष रहा। हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पृथ्वी के परमाणु में चार गुण हैं, जल के परमाणु में तीन, अग्नि के परमाणु में दो और वायु के परमाणु में एक गुण है। ऐसी स्थिति में हमें स्वभावतः यह मानना पड़ेगा कि जल के परमाणु से पृथ्वी और अग्नि के परमाणु से जल के परमाणु बड़े हैं। न्यूनाधिक गुणों के कारण परमाणु भी छोटे-बड़े मानने आवश्यक हैं। यदि ऐसा है तो बड़े परमाणु वास्तव में परमाणु ही नहीं हैं। अतः परमाणुओं से विश्व की रचना मानना अयुक्त है।[36]

वैशेषिक मत को शंकर अर्धवैनाशिक मानते हैं, क्योंकि वे परमाणु, आकाश आदि कुछ को नित्य मानते हैं और गुण, कर्म आदि कुछ को नाशवान् मानते हैं।[37]

बौद्ध-मत की आलोचना

(1) क्षणभंगवाद का खण्डन

अविद्या आदि संघात की उत्पत्ति में इसलिए सहायक नहीं हो सकते है कि बौद्धमत में स्वीकृत क्षणभंगवाद उत्पत्ति-विरोधी है। क्षणभंगवादी यह स्वीकार करते हैं कि उत्पद्यमान उत्तर क्षण में पूर्व क्षण का नाश होता है। ऐसा मानने से पूर्व और उत्तर क्षण का कारण-कार्यभाव सम्पादित नहीं हो सकता। नष्ट होता हुआ अथवा नष्ट हुआ पूर्व क्षण अभावग्रस्त होने से उत्तर क्षण का कारण नहीं हो सकता।

यदि यह अभिप्राय है कि भावरूप परिनिष्पन्न पूर्वक्षण ही उत्तर क्षण का हेतु है, तो भी दोष रहता है। यह मत क्षणभंगवाद विरोधी है। यदि कारण परिनिष्पन्न होने के लिए दो क्षण भी रहता है तो क्षणभंगवाद नहीं होगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यदि बौद्धमत यह स्वीकार करे कि पूर्व क्षण का भाव ही कारण है, तो उससे उत्तर क्षण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कार्य तभी उत्पन्न हो सकता है जब वह कारण से सम्बद्ध हो, किन्तु एक क्षण में कारण कार्य से सम्बद्ध नहीं हो सकता है। कार्य उत्पन्न होने के लिए दूसरा क्षण चाहिए। यदि दूसरे क्षण तक कारण रहता है तो क्षणभंगवाद का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।

यदि कारण से विना सम्बन्ध पाये कार्य उत्पन्न हुआ मानें तब किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार कार्य-कारण का सिद्धान्त विच्छिन्न हो जायेगा। अतः कारण को कार्य से अवश्य सम्बन्ध होना चाहिए। किन्तु क्षणिकवाद में कार्यकारण सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता।

बौद्धमत के अनुसार क्षणभंगवाद उत्पाद और निरोध का प्रतिपादन करता है; किन्तु यह उत्पाद और निरोध किसका है कुछ भी सिद्ध नहीं होता। न वह वस्तु का स्वरूप हो सकता है, न अन्य अवस्था का और न अन्य वस्तु का ही। यदि उत्पत्ति और विनाश वस्तु के स्वरूप हों तो उससे वस्तु शब्द, उत्पत्ति और विनाश शब्द पर्याय होंगे अर्थात् एक ही पदार्थ के दो नाम होंगे। यदि उत्पत्ति और विनाश शब्दों से मध्यवर्ती वस्तु की आदि और अन्तिम अवस्थायें हैं— ऐसा मानें तो वस्तु में आदि, मध्य और अन्त तीन क्षण माननें होंगे और क्षणिकत्व मत की हानि होगी। यदि अश्व और भैंस के समान उत्पाद और निरोध वस्तु से अत्यन्त भिन्न हों तो उत्पाद और निरोध से वस्तु असम्बद्ध होगी और वस्तु के शाश्वत होने का प्रसंग होगा। यदि दर्शन और अदर्शन वस्तु का उत्पाद और निरोध हो तो ऐसा होने पर वे द्रष्टा के धर्म होंगे, वस्तु के धर्म न होंगे। इस स्थिति में भी वस्तु के शाश्वत् होने का प्रसंग होगा।[38]

बौद्ध मत में चार प्रकार के हेतुओं को प्राप्त कर चित्त और चैत्त की उत्पत्ति मानी गई हैं। वे चारों आलम्बन प्रत्यय, समानान्तर प्रत्यय, सहकारी प्रत्यय और अधिपति प्रत्यय कहलाते हैं। इस सिद्धान्त का क्षणभंगवाद से विरोध है। निर्हेतुक उत्पत्ति मानने पर प्रतिबन्ध के अभाव में सर्वत्र सब कुछ उत्पन्न हो सकेगा। यदि उत्तर क्षण पर्यन्त पूर्व क्षण ही मानें तो एक ही क्षण में कार्य और कारण दोनों विद्यमान रहेंगे और प्रतिज्ञा का बाध होगा। सब संस्कार क्षणिक हैं, यह प्रतिज्ञा बाधित होगी।[39]

बौद्ध मत में सब वस्तुओं की क्षणिकता स्वीकार की गयी है। वे इस क्षणिकता के ज्ञाता को भी क्षणिक मानते हैं। शंकर कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता। क्षणिकता का ज्ञाता स्थिर होना चाहिए, तभी उसका ज्ञान होगा और स्मृति भी सम्भव होगी। अनुभव-उपलब्धि के अनन्तर उत्पन्न हुआ स्मरण ही अनुस्मृति है। इस अनुस्मृति का और पूर्व उपलब्धि का कर्त्ता एक ही हो तभी अनुस्मृति हो सकती है, क्योंकि एक पुरुष के अनुभव के विषय में अन्य पुरुष को स्मृति नहीं होती। अनुभव और स्मरण का एक कर्त्ता होने पर "मैंने यह देखा था और अब मैं यह देखता हूँ" ऐसा प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय सर्वलोक प्रसिद्ध है।

यदि अनुभव और स्मृति के कर्त्ता भिन्न पुरुष हों तो स्मरण करने वाला कहेगा "अन्य ने जो अनुभव किया था, उसका मैं स्मरण करता हूँ," परन्तु किसी को ऐसी प्रतीति नहीं होती। अतः अनुभव-कर्त्ता और स्मृतिकर्त्ता एक ही आत्मा होना चाहिए। वह क्षणिक सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसलिए बौद्धों के क्षणिकत्व सिद्धान्त की हानि होती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जैसे अनुभव-कर्त्ता और स्मृति एक ही है, वैसे ही जन्म से मरण पर्यन्त एक के पीछे एक अनुभव और स्मृतियाँ होती रहती हैं और उन सबका कर्त्ता एक ही आत्मा अनुभव में आता है। ऐसा अनुभव करते हुए भी क्षणभंगवादी का विपरीत सिद्धान्त प्रतिपादित करना उचित नहीं कहा जा सकता।

अनुभव और स्मृति-कर्त्ताओं को दो किन्तु सदृश मानने को भी आत्मा की क्षणिकता सिद्ध नहीं होती। जब हम कहते हैं कि "यह उस जैसा है" तो दोनों का अनुभव-कर्त्ता एक ही सिद्ध होता है। अनुभव-कर्त्ता को यह कभी प्रतीत नहीं होता कि एक क्षण पहले कोई अन्य था और अब मैं उसके समान दूसरा हूँ। "जिसे मैंने पहले दिन देखा था वही आज मैं स्मरण करता हूँ" इस प्रकार निश्चित तद्भाव का ज्ञान होता है।[40]

(2) अभाव से भाव की उत्पत्ति का खण्डन

कार्य-कारण के सिद्धान्त मुख्य रूप से दो हैं — सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद। दोनों ही सिद्धान्तों में कारण को सत् माना गया है। सत्कार्यवाद में कार्य करण में पहले से विद्यमान रहता है किन्तु असत्कार्य ऐसा नहीं मानता। बौद्ध-दर्शन में स्थायी और अनुयायी कारण स्वीकार नहीं किया गया है; अतः वे अभाव से भाव की उत्पत्ति मानते हैं। उनके मत से "नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्" अर्थात् कारण के नाश हुए विना कार्य का प्रादुर्भाव नहीं होता। इस प्रकार वे अभाव से भाव की उत्पत्ति दिखाते हैं। बीज के नष्ट होने से अंकुर उत्पन्न होता है, विनष्ट दूध से दधि बनता है और विनष्ट मिट्टी से घट निर्मित होता है। वे यह भी तर्क देते हैं कि यदि कूटस्थ कारण से कार्य उत्पन्न हो तो कूटस्थत्व होने से सबसे सब उत्पन्न होगा। अतः नष्ट बीज से ही अंकुर का उत्पन्न होना उचित है।

शंकर इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं — अभाव से भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि अभाव से भाव उत्पन्न हो, तो अभावत्व के सर्वत्र समान होने से कारण-विशेष को स्वीकार करना निष्फल हो जायेगा। विनष्ट हुए बीज का जो अभाव है उस अभाव में और शशविषाण आदि के अभाव में एक समानता है। अतः बीज से ही अंकुर उत्पन्न होता है और दूध से ही दही बनता है- इस प्रकार कारण स्वीकार करने में कोई प्रयोजन नहीं है। विशेषरहित अभाव को कारणरूप स्वीकृत करने से शशविषाण आदि से भी अंकुर उत्पन्न होंगे, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता।

यदि प्रत्येक वस्तु के अभाव की अपनी एक विशेषता या गुण माना जाये तो उस विशेषता का आश्रयभूत अभाव भी भाव रूप ही मानना होगा और उस वस्तु से कुछ भिन्न न होगा जिसका वह अभाव है।

कूटस्थ कारण से कार्य की उत्पत्ति असम्भव नहीं है। उदाहरण के रूप में, स्थिर रहने वाला स्वर्ण कारण है तो उससे कंगन की उत्पत्ति हो सकती है और स्वर्ण कंगन में विना नष्ट हुए विद्यमान रहता है। बीज और अंकुर के दृष्टान्त में ऐसा प्रतीत होता है मानों बीज नष्ट हो जाता है, किन्तु शंकर कहते हैं कि ऐसा नहीं होता है। बीज के तत्त्व अंकुररूप में विद्यमान रहते हैं। असत् शशविषण से सत् की उत्पत्ति नहीं देखी जाती और सत् स्वर्ण से सत् की उत्पत्ति देखी जाती है, अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(3) प्रतिसंख्यानिरोध आदि का खण्डन

सौत्रान्तिक मत में प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश को अवस्तु और अभाव मात्र मानते हैं। भावों के बुद्धिपूर्वक निरोध को प्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं। इसके विपरीत अबुद्धिपूर्वक भावों का निरोध अप्रतिसंख्यानिरोध कहलाता है। ये तीनों बौद्ध शब्दावलि में "असंस्कृत धर्म" हैं, क्योंकि वे अवस्तु रूप हैं और संघात नहीं है। उनकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। प्रतिसंख्यानिरोध निर्वाण है। वह अन्तिम मुक्ति की अवस्था है। यह सदा के लिए होता है। अप्रतिसंख्यानिरोध में धर्मों का अप्रत्यक्ष होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष कराने वाले प्रत्यय नहीं रहते हैं। जब हमारा ध्यान एक वस्तु पर होता है, तो अन्य वस्तुयें नहीं दिखाई देतीं। इस समय उन वस्तुओं का अभाव नहीं होता है, वरन् जिन साधनों से उनका प्रत्यक्ष होता है वे अनुपलब्ध होते हैं। आकाश को वे आवरण का अभाव मानते हैं। यह सदा सर्वत्र व्याप्त अनिरूपाख्य वस्तु है। अतः उसे अवस्तु या असंस्कृत वस्तु मानना चाहिए।[41]

शंकर प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध को असम्भव मानते हैं। बौद्ध सर्वास्तिवादिओं की मान्यता है कि प्रतिसंख्यानिरोध एवं अप्रतिसंख्यानिरोध शाश्वत् और अभावात्मक दोनों हैं। किन्तु शंकर का कहना है कि यदि ये शाश्वत् हैं तो उन्हें भावात्मक होने चाहिए। शाश्वत् वस्तु अभावात्मक नहीं हो सकती। अभावात्मक वस्तु न शाश्वत् हो सकती है और न अशाश्वत्।[42] शंकर यही तर्क आकाश के सम्बन्ध में भी देते हैं।

बौद्ध वस्तुवादी मानते हैं कि प्रतिसंख्यानिरोध एवं अप्रतिसंख्यानिरोध दोनों में अविद्या का विरोध सम्मिलित है। इस सम्बन्ध में शंकर पूछते हैं कि क्या अविद्या का निरोध सम्यक् ज्ञान द्वारा उत्पन्न होता है अथवा स्वयं से ही उत्पन्न हो जाता है। यदि यह सम्यक् ज्ञान द्वारा उत्पन्न होता है तो बौद्धों के क्षणिकवाद के सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है क्योंकि क्षणिकवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः क्षणिक एवं प्रवाहशील है और यदि यह स्वयं से उत्पन्न होता है तो महात्मा बुद्ध की अष्टांगमार्ग सम्बन्धी शिक्षा निरर्थक हो जाती है।[43]

आकाश को अभावात्मक तत्त्व इसलिए भी नहीं कह सकते, क्योंकि उपनिषदों में इसे ब्रह्म अथवा आत्मा से उत्पन्न भावात्मक तत्त्व माना गया है।[44] यदि, जैसा कि बौद्ध वस्तुवादी मानते हैं, वायु आकाश में रहती है तो आकाश अभावात्मक कैसे हो सकता है?[45] आकाश को एक ही साथ वायु का आधार एवं अभावात्मक मानना तर्कसंगत नहीं है।

(4) बौद्धों के विभिन्न सम्प्रदायों के मतों का खण्डन

प्रतिपत्ति के भेद से अथवा शिष्यों के भेद से बौद्ध मत की चार शाखायें प्रसिद्ध हैं। उन्हें वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक कहते हैं। बुद्ध वचनों का संग्रह कई ग्रन्थों में किया गया है। उनमें से एक ग्रन्थ का नाम अभिधर्मविभाषा है। बुद्ध के शिष्यों में से जो लोग उस ग्रन्थ को प्रामाणिक मानते हैं उन्हें वैभाषिक कहते हैं। सूत्रपर्यन्त (सुत्तान्त) बुद्ध के वचनों को प्रामाणिक मानने वाले बौद्ध सौत्रान्तिक हैं। योग (समाधि) द्वारा आलय विज्ञान का साक्षात्कार करने वाला योगाचार है। उसे विज्ञानवादी भी कहते हैं। भाव और अभाव दोनों से रहित सर्वस्वभाव शून्य मध्यमा प्रतिपत् को स्वीकार करने वाले माध्यमिक कहे जाते हैं। उन्हें सर्वशून्यवादी भी कहते हैं। शंकराचार्य ने वैभाषिक और सौत्रान्तिक को एक में मिलाकर सिद्धान्त की दृष्टि से उन्हें सर्वास्तित्ववादी कहा है और बौद्ध मत के तीन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ही सम्प्रदाय माने हैं — सर्वास्तित्ववादी, विज्ञानास्तित्ववादी और सर्वशून्यत्ववादी।

(क) सर्वास्तित्ववाद की आलोचना

सर्वास्तित्ववाद का अर्थ वस्तुवाद है। इसके अनुसार सभी बाह्य और आन्तरिक वस्तुयें सत् हैं। बाह्य और अन्तर उभय पदार्थों में आस्था रखने वाले शिष्यों को बुद्ध ने "उभयं सत्यम्" का उपदेश दिया। बाह्य पदार्थ भूत और भौतिक हैं। उनके मतानुसार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी चार ही भूत हैं और इनके संघात् से निर्मित सभी पदार्थ भौतिक हैं। चारों भूत परमाणुओं से निर्मित हैं। पृथ्वी के परमाणु कठिन, जल के स्निग्ध, अग्नि के उष्ण और वायु के चलन स्वभाव के होते हैं। इसीलिए पृथ्वी आदि में कठिनता आदि के गुण उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार नामक पाँच स्कन्ध हैं। ये आन्तरिक पदार्थ हैं। ये सर्वव्यवहार के विषय रूप से संघटित होते हैं। स्कन्ध का अर्थ समुदाय है जिससे निरूपण किया जाय अथवा जिसका निरूपण किया जाय वह रूप है। इसलिए विषय सहित इन्द्रियाँ रूप स्कन्ध हैं। यद्यपि रूप आदि विषय बाह्य हैं तो भी देह में स्थित इन्द्रियों से ग्राह्य होने के कारण वे आध्यात्मिक हैं। अहम् रूप में अनुभव होने वाला आलय विज्ञान ही विज्ञान स्कन्ध है। सुख-दुःख का अनुभव वेदना स्कन्ध है। इन्द्रिय-विषयों का बोध और उनके नाम का ज्ञान संज्ञा है। रोग, द्वेष, मोह, धर्म, अधर्म, आदि संस्कार स्कन्ध हैं। इनमें विज्ञान को चित्त और शेष चार को चैत्य कहते हैं। इस प्रकार पाँचों स्कन्धों को संक्षेप में "चित्त और चैत्य" भी कह सकते हैं।[46]

सर्वास्तित्ववाद का खण्डन करते हुए शंकर कहते हैं कि अन्तर या बाह्य कोई संघात संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि "समुदायिनामचेतनत्वात्" अर्थात् समस्त समुदायी अचेतन हैं।[47] वे समस्त परमाणु अचेतन हैं जिनके मिलने पर पृथ्वी आदि का संघात बनता है। अचेतन वस्तुयें स्वयं आपस में नहीं मिल सकती हैं। यह हम वैशेषिक के परमाणुवाद पर विचार करते समय विस्तारपूर्वक देख चुके हैं। सर्वास्तित्ववादी चेतना की उत्पत्ति अचेतन परमाणुओं के संघात से मानते हैं। अतः चेतना संघात बनने के पूर्व उपलब्ध नहीं रहती है। चेतना के अभाव में अचेतन परमाणुओं में गति सिद्ध नहीं की जा सकती। "चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्ध्यधीनत्वात्" अर्थात् चित्ताभिज्वलन समुदायसिद्धि के अधीन है।[48] इसके अतिरिक्त अन्य कोई नित्य चेतना नहीं है। उसके अभाव में जड परमाणुओं का संघात निर्मित नहीं हो सकता।

यदि यह माना जाये कि जड परमाणु स्वतः सक्रिय रह सकते हैं, क्रिया उनका स्वभाव है, तो उनके द्वारा सृष्टि का सर्जन निरन्तर चलता रहेगा। यह सृष्टि कभी परमाणु रूप में परिवर्तित न होगी। यदि सृष्टि कभी परमाणु रूप में नहीं बदलती है तो यह कहना निरर्थक है कि यह सृष्टि परमाणुओं से निर्मित है।

आलयविज्ञान से परमाणु संचालित नहीं हो सकते। वह या तो सन्तानों से अन्य है अथवा अनन्य है। इन्हीं दो रूपों में उसकी कल्पना की जा सकती है। यदि उसे अन्य मानें तो वह वेदांतियों की आत्मा के अतिरिक्त क्या हो सकता है? यदि अनन्य है तो वह क्षणिक है और क्षणिक वस्तु से न कुछ उत्पन्न हो सकता है और न वह किसी अन्य वस्तु को अपनी क्रिया से प्रेरित कर सकती है। यदि इस प्रकार जगत् का निर्माण नहीं होता है तो प्राणियों का कोई व्यवहार भी सम्भव नहीं होगा।

बौद्ध कहते हैं कि यद्यपि भोक्ता अथवा ईश्वर जैसा स्थिर चैतन्य नहीं है जो परमाणुओं का संघात करे, किन्तु अविद्या आदि का भाव-चक्र परस्पर कारण होने से लोकयात्रा हो सकती है। भाव-चक्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies (AAIS)(USA)

को ही द्वादश-निदान कहते हैं। इसमें अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण बारह कड़ियाँ गिनाई जाती हैं। बौद्ध-दर्शन में इनका कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तारसहित वर्णन है। क्षणिक, दुखद, असार और हेय विषयों को नित्य, सुखदाई और प्राप्तव्य मान लेना अविद्या है। इसके कारण संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कार से विज्ञान (चैतन्य) उत्पन्न होता है। गर्भावस्था में भ्रूण में जो चेतना आती है वह पूर्व जन्म के संस्कार के कारण ही है। चेतना होने पर नाम-रूप अर्थात् गर्भस्थ शरीर और मन वृद्धि पाते हैं। उसमें षडायतन की उत्पत्ति होती है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन षडायतन कहलाते हैं। इनमें स्पर्श का अनुभव होता है। इन्द्रियों को विषयों के साथ सम्पर्क ही स्पर्श है। स्पर्श से सुख-दुःख की वेदना होती है। वेदना से तृष्णा उत्पन्न होती है और विषयों के बार-बार प्राप्त होने की इच्छा होती है। तृष्णा से उपादान की उत्पत्ति होती है अर्थात् विषयों से लिप्त रहने की प्रवृत्ति होती है। उपादान से जन्म धारण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे भव कहते हैं। भव से जन्म (जाति) होता है और जन्म से मृत्यु अवश्यंभावी होती है। इस द्वादशनिदान के कारण जीवनयात्रा चलती रहती है और अन्तर्बाह्य पदार्थों का संघात भी उसी के कारण होता है।

शंकर इस तर्क को अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि यदि यह मान लिया जाये कि अविद्या आदि के कारण इतर-इतर की उत्पत्ति होती है तो भी उनके द्वारा संघात सिद्ध नहीं किया जा सकता। "न संघातस्य किंचिन्निमित्तमवगम्येत" अर्थात् संघात का कोई निमित्त अवगत नहीं होता है। अविद्या आदि का संघात के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त, भूति-भौतिक और चित्त-चैत्त के संघात उत्पन्न होने पर ही अविद्या आदि उत्पन्न होती है। वह शरीर, मन और बुद्धि के संघात पर अवलम्बित है। अतः अविद्या आदि संघातों के कारण नहीं हो सकते।

सर्वास्तित्ववाद कह सकते हैं कि अविद्या अनादि है और उसके कारण जन्म-मृत्यु का चक्र भी अनादि काल से चला आ रहा है। इस कारण संघातों पर आश्रित रह कर भी अविद्या संघातों का कारण हो सकती है। ऐसी स्थिति में संघातों से संघातों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। यदि संघात समान संघात उत्पन्न करते हैं तो मनुष्य शरीर से मनुष्य शरीर ही उत्पन्न होगा, उसे देवताओं या पशुओं आदि का शरीर प्राप्त न हो सकेगा। इसके विपरीत, यदि संघात से असमान संघात उत्पन्न होता है तो एक क्षण में मनुष्य का शरीर हाथी के शरीर में, हाथी का शरीर देवता के शरीर में और देवता का शरीर मनुष्य के शरीर में बदल जायेगा। ये दोनों ही मत बौद्ध-दर्शन में अमान्य हैं।

संघात जीवात्मा के भोग के लिए होते हैं, किन्तु बौद्धमत में जीवात्मा की सत्ता नहीं मानी गयी है जो शरीर में रह कर भोग कर सके। अतः शरीर का सँघात स्वयं ही भोग करता है और स्वयं ही युक्त होता है, ऐसा मानना पड़ेगा। अतः अविद्या आदि को संघात का कारण मानने पर भी, विना भोक्ता स्वीकार किये संघातों का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है।

(ख) विज्ञानवाद की आलोचना

विज्ञानवादी बौद्ध विषयिनिष्ठ प्रत्ययवादी हैं। वे विज्ञान के बाहर किसी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते। उनके अनुसार बुद्ध का यही अभिप्राय था। किन्हीं मन्दबुद्धि शिष्यों का बाह्य पदार्थों में आग्रह देखकर उनके अनुरोध से उन्होंने बाह्यार्थवाद का उपदेश दिया था, किन्तु उन्हें तो एक विज्ञान स्कंधवाद ही अभिप्रेत था।[49] विज्ञानवाद में बुद्धि के अन्तर्गत ही सब प्रमाण, प्रमेय और फल-व्यवहार स्वीकार किये

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गये हैं। इस मत के समर्थन में जो युक्तियाँ दी जाती हैं, शंकर ने उनका खण्डन किया है। वे विज्ञानवाद का दृढ़ता से खण्डन करते हैं। वे जाग्रत अवस्था में दिखाई देनेवाली बाह्य वस्तुओं की व्यावहारिक सत्ता स्थापित करते हैं। हम आगे विज्ञानवादियों के तर्क एक-एक कर प्रस्तुत करेंगे और शंकर द्वारा उनका खण्डन दिखायेंगे।

(1) विज्ञानवादी कहते हैं कि यदि कोई बाह्य वस्तुयें हों तो वे या तो परमाणु रूप होंगी या उनके संघात रूप। उनमें परमाणु तो स्तम्भ आदि ज्ञान के विषय नहीं हो सकते हैं, क्योंकि न परमाणु दिखाई देते हैं और न वस्तुयें ही परमाणु रूप में दिखाई देती हैं। स्तम्भ आदि परमाणुओं के समूह भी नहीं हो सकते, क्योंकि उनका परमाणुओं से अन्यरूप से या अनन्यरूप से निरूपण नहीं हो सकता।

इस तर्क का खण्डन करते हुए शंकर कहते हैं कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व हम अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। प्रत्येक ज्ञान में स्तम्भ, भवन, घट, पट आदि बाह्य पदार्थ उपलब्ध होते हैं। "न चोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति" अर्थात् उपलभ्यमान् अर्थ का अभाव नहीं हो सकता। जैसे कोई भोजन करता हुआ व्यक्ति भोजन अपने मुँह में रखे, उसका स्वाद ले और पेट भरने पर तृप्ति का अनुभव करे, फिर भी कहे कि मैं भोजन नहीं करता हूँ, मैं तृप्त नहीं होता हूँ तो उसके वचन उपादेय नहीं हो सकते। इन्द्रियों से बाह्य विषयों का संसर्ग पाकर और अनुकूल-प्रतिकूल वेदना अनुभव कर कोई कैसे कह सकता है। कि बाह्य जगत में कोई पदार्थ नहीं है?

(2) अपने मत की रक्षा के हेतु विज्ञानवादी तर्क देते हैं कि यद्यपि इन्द्रियों को विषय उपलब्ध होते हैं, किन्तु विषय भी उपलब्धि का ज्ञान मात्र ही है। हमारे ज्ञान का नानात्व ही हमारे व्यवहार के लिए पर्याप्त है। बाह्य वस्तुओं के होने की कोई आवश्यकता नहीं है।

शंकर अपने अन्दर चेतना में वस्तु की अनुभूति के अतिरिक्त वस्तु की बाह्य जगत् में स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। कोई भी व्यक्ति जब स्तम्भ, दीवाल, घट, पट को देखता है तो उसे केवल अपने अन्दर उनका ज्ञान ही नहीं होता वरन् उसे यह भी ज्ञान होता है कि वैसी ही वस्तु बाहर विद्यमान है। जो लोग बाह्य वस्तुओं का विरोध करते हैं, उनका विरोध ही बाह्य वस्तुओं के होने का प्रमाण भी है।

जब विज्ञानवादी कहते हैं कि हमारा अन्तर्ज्ञान "बाह्य वस्तुवत्" भासित होता है, वे सर्वलोक प्रसिद्ध बाह्य वस्तुओं को जानते हुये और उनके प्रत्याख्यान की कामना करते हुए "बर्हिवत्" शब्द का प्रयोग करते हैं। यदि उन्हें बाहरी वस्तुयें उपलब्ध न हों तो वे बहिर्वत् नहीं कह सकते। यह कोई नहीं कहता कि विष्णुमित्र बंध्यापुत्र के समान प्रतीत होता है। "उपलब्धि व्यतिरेकोऽपि बलादर्थस्याभ्युपगन्तव्यः" अर्थात् उपलब्धि से पृथक् भी अर्थ को बलात् स्वीकार करना होगा। वस्तुओं का बाह्य अस्तित्व स्वीकार किये बिना वस्तुबोध की व्याख्या नहीं की जा सकती।

शंकर इस बात पर भी बल देते हैं कि चेतना के बाहर वस्तुओं का अनस्तित्व इसी बात से सिद्ध नहीं हो जाता कि प्रत्ययों का वहीं रूप है जो वस्तुओं का है। यदि वस्तुओं का स्वतन्त्र और पृथक् अस्तित्व न होता जो प्रत्यय उनका आधार नहीं धारण कर सकते थे। हमारी चेतना में वस्तु और प्रत्यय का भेद उपलब्ध होने के कारण प्रत्यय और वस्तु की साथ-साथ उपलब्धि इस बात को सिद्ध करती है कि वस्तु ही प्रत्यय का कारण है। दोनों में तादात्म्य नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization and Archiving Cataloguing Support Project

(3) विज्ञानवादी यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि प्रत्यय और उसका विषय सदा साथ उपलब्ध होते हैं। सहोपलम्भ के नियम से विषय और विज्ञान का अभेद प्राप्त होता है। इस कारण बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है।

शंकर कहते हैं कि "सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोरुपायोपेयभावहेतुको नाभेदहेतुकः" अर्थात् ज्ञान और विषय का सहोपलम्भ नियम भी उपायोपेयभाव हेतुक है, अभेद हेतुक नहीं है। उपायोपेयभाव का अर्थ है निमित्त-नैमित्तिक भाव। नेत्र से रूप प्रत्यक्ष के साथ प्रकाश भी उपलब्ध होता है; इस प्रकार रूप और प्रकाश के सहोपलम्भ से दोनों का अभेद नहीं हो जाता है। इसी प्रकार वस्तु और उसका प्रत्यय एक साथ प्राप्त होने पर दोनों को अभिन्न नहीं माना जा सकता। उनके नियम सहोपलम्भ की तर्क-संगत व्याख्या तभी की जा सकती है जब हम वस्तु को उसके प्रत्यय का कारण मानें।

इसके अतिरिक्त घट-ज्ञान और पट-ज्ञान में तथा पट विशेषणों में परिवर्तन होता है, किन्तु विशेष्य ज्ञान में कोई भेद नहीं होता। दोनों ज्ञानों में चेतना एक समान रहती है। दो परिवर्तनीय कारकों के द्वारा एक अपरिवर्तनीय कारक की उनसे भिन्नता निरन्तर सिद्ध होती है और इसके विपरीत एक अपरिवर्तनीय कारक के द्वारा दो या अधिक परिवर्तनीय कारकों की उनसे भिन्नता सिद्ध होती रहती है। शंकर इसका निर्णय यह निकालते हैं— "तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः" अर्थात् वस्तु और ज्ञान का भेद है। यदि चेतना और उसमें भासित होने वाली वस्तु एक ही होते और उनके लक्षणों में कोई भेद न होता तो चेतना कभी किसी वस्तु से अलग होने में समर्थ न होती। किन्तु अनुभव बिलकुल इसके विपरीत है। कभी एक वस्तु का और कभी दूसरी वस्तु का ज्ञान ग्रहण करने में हमारी चेतना वही बनी रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुएँ चेतना की अंग नहीं हैं। हमारी चेतना से वस्तुओं का पृथक् अस्तित्व है।

(4) विज्ञानवादी बाह्य जगत् की प्रतीति स्वप्न के समान मानते हैं। वे कहते हैं कि जैसे स्वप्न, माया, मरीच्युदक गंधर्वनगर आदि ज्ञान बाह्य वस्तुओं के विना ही ग्राह्य और ग्राहक रूप में होते हैं वैसे ही जाग्रत् विषयक स्तम्भ आदि ज्ञान भी हो सकते हैं, क्योंकि दोनों ज्ञानों में ज्ञानत्व समान है।

शंकर इसका विरोध करते हुये कहते हैं— "न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति" अर्थात् जाग्रत् अवस्था में जानी गई वस्तुयें स्वप्न की वस्तुओं जैसी नहीं हैं, क्योंकि दोनों की प्रकृति भिन्न हैं। एक तो, जाग्रत् अवस्था के अनुभवों से स्वप्न की वस्तुओं का बोध हो जाता है, किन्तु जाग्रत् अवस्था की वस्तुओं का इस प्रकार बोध कभी नहीं होता। दूसरे, स्वप्न-दर्शन व्यक्ति की वासनाओं के कारण होता है और वह उसकी स्मृति पर आश्रित होता है। इसके विपरीत जाग्रत्-दर्शन प्रमाणजन्य है। तीसरे, यदि बाह्य वस्तुयें और स्वप्न की वस्तुयें एक समान होतीं तो हमें उनकी प्रकृति का भेद न ज्ञात होता, किन्तु हम अनुभव करते हैं कि दोनों अवस्थाओं की वस्तुयें रूप में एक समान होते हुये भी प्रकृति और स्थायित्व में भिन्न प्रकार की हैं। चौथे, स्वप्न और जाग्रत की वस्तुओं में कुछ लक्षण एक समान भले ही हों किन्तु उनके सभी लक्षण एक समान कदापि नहीं हैं। अग्नि का धर्म दाहकता है, किन्तु यदि वह कुछ बातों में जल के समतुल्य है तो उसमें शीतलता न मिल जायेगी।[50]

(5) विज्ञानवादी बुद्धि में ही समस्त जगत् की प्रतीति व्यक्ति की वासनाओं के वैचित्र्य से निरूपित करते हैं। बीजांकुर न्याय से वासना और बुद्धिगत प्रत्ययों की उत्पत्ति कार्य-कारण भाव से होती रहती है। दोनों एक-दूसरे के कारण हैं। अन्वय और व्यतिरेक से यह ज्ञात होता है कि यह ज्ञान-वैचित्र्य वासनानिमित्तक है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शंकर यह तर्क स्वीकार नहीं करते। केवल वासनाओं से बुद्धि में नानारूप प्रत्ययों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जिन वासनाओं से उत्पन्न प्रत्यय माने जाते हैं वे वासनायें स्वयं बाह्य वस्तुओं से उत्पन्न होती हैं। जाग्रत् अवस्था में जब हम बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क में आते हैं तो हमारी वासनायें निर्मित होती हैं और उन्हीं से स्वप्न संसार उत्पन्न होता है। किन्तु जाग्रत् काल की वस्तुओं का अस्तित्व न होने पर वासनायें ही न होंगी और उनके विना प्रत्ययरूप विज्ञान भी न होगा। विना किसी कारण के वासनाओं की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

वासनाओं को अनादि मानने से अन्धपरम्परा न्याय से व्यवहार-लोपिनी अप्रतिष्ठारूप अनवस्था होगी। तात्पर्य यह कि प्रत्यय से वासना और वासना से प्रत्यय की उत्पत्ति मानें तो चक्रक दोष और अनवस्था दोष प्राप्त होंगे।

विज्ञानवादी अन्वय-व्यतिरेक से ज्ञान-वैचित्र्य वासनानिमित्तक मानते हैं और बाह्य वस्तुओं का निषेध करते हैं, किन्तु शंकर अन्वय-व्यतिरेक से ही बाह्य वस्तुओं की सत्ता सिद्ध करते हैं। जब वस्तुओं का ज्ञान होता है तब वासना उत्पन्न होती है और जब वे उपलब्ध नहीं होतीं तो वासना भी निर्मित नहीं होती।

इसके अतिरिक्त वासनायें संस्कार रूप हैं। "संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते" अर्थात् संस्कारों की कल्पना किसी आश्रय के विना नहीं हो सकती।[51] व्यवहार में यही देखा जाता है। बौद्धमत में वासना का कोई आश्रय नहीं है क्योंकि उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। सामान्यरूप से आलयविज्ञान को ही वासनाओं का आश्रय माना जाता है। किन्तु वह भी क्षणिक होने के कारण अनवस्थित स्वरूप है। वह भी प्रवृत्ति-विज्ञान के समान वासनाओं का आश्रय नहीं होता।

इसके अतिरिक्त, तीनों कालों में एक अन्वयी, कूटस्थ और सर्वार्थदर्शी सत्ता न मान्य होने के कारण विज्ञानवादी वासनाओं के अधीन स्मृति और प्रत्यभिज्ञा आदि को व्यवहार सिद्ध नहीं कर सकते। यदि आलयविज्ञान को ही कूटस्थ मान लिया जाये तो क्षणिकत्व सिद्धान्त की हानि होती है।

(ग) शून्यवाद की आलोचना

शंकराचार्य ने शून्यवाद को सर्ववैनाशिक माना है। इसके अनुसार अन्तर्बाह्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह में इस मत की प्रतिपादक युक्ति यही दी है कि ज्ञातृ, ज्ञेय और ज्ञान परस्पर आश्रित हैं। एक का अस्तित्व शेष दो पर आश्रित होता है। यदि उनमें से कोई एक असत् हो तो शेष भी असत् होंगे। उदाहरण स्वरूप, यदि रज्जुसर्प मिथ्या है तो उसका ज्ञाता और ज्ञान भी मिथ्या होगा। स्वप्न जगत् में स्वप्न की वस्तुयें ही मिथ्या नहीं होतीं किन्तु स्वप्न का द्रष्टा भी तद्वत् मिथ्या होता है। अतः यदि विज्ञानवाद बाह्य वस्तुओं को अस्तित्वहीन सिद्ध करता है तो विज्ञान या चित्त-चैत्त भी वैसे ही सिद्ध हो जाते हैं। नागार्जुन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ माध्यमिककारिका में इसी प्रकार की उक्तियाँ दी हैं और समस्त अन्तर्बाह्य जगत् को स्वभाव शून्य कहा है। वह शून्यता को सत् और असत् के मध्य स्वभावरहित कहता है इसलिये उसका दर्शन मध्यमकशास्त्र कहलाता है। शंकर उसे मध्य में न रखकर असत्वादी या सर्ववैनाशिकवादी मानते हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने शून्यवाद का खण्डन किया है।

ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते हुए शंकर ने शून्यवाद का उस प्रकार विस्तृत खण्डन नहीं किया है जैसे सर्वास्तित्ववाद और विज्ञानवाद का। शून्यवाद पर आने पर वे लिखते हैं— "शून्यवादिपक्षस्तु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of India Studies, AAIS(USA)

"सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते" अर्थात् शून्यवादी पक्ष तो सर्वप्रमाण विरुद्ध है, इससे उसके निराकरण में आदर नहीं किया जाता है। यहाँ शंकर शून्यवाद के विरुद्ध एक यही युक्ति देते हैं कि सर्वप्रमाण सिद्ध इस लोकव्यवहार का कोई भिन्न तत्त्व स्वीकार किये बिना निषेध नहीं किया जा सकता। "अपवादाभाव उत्सर्गप्रसिद्धेः" अर्थात् अपवाद के अभाव में उत्सर्ग प्रसिद्ध है।[52]

मीमांसा दर्शन की आलोचना

कर्मवाद का खण्डन

मीमांसा-दर्शन को कर्म-मीमांसा भी कहते हैं। यह वेदों के कर्म-काण्ड को महत्त्व देता है। इसके अनुसार वेदों की सार्थकता का सूत्र है "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" अर्थात् वेद क्रियाअर्थक है और अक्रियार्थक वेद अनर्थक हैं। कर्म के द्वारा ही स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्त हो सकता है। मीमांसा का यह कर्मवाद प्रमुख सिद्धान्त है जिसकी शंकर ने आलोचना की है। इसके अतिरिक्त मीमांसा में सृष्टि-रचना और जीव सम्बन्धी सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक आदि अन्य दर्शनों से मिलते-जुलते हैं। उनका खण्डन वैशेषिक आदि के अन्तर्गत हो जाता है, इसलिए उसकी पुनरावृत्ति करना अपेक्षित नहीं है।

(क) सभी श्रुति-वाक्य क्रियार्थक नहीं—मीमांसा के अनुसार विधि, निषेध, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेयात्मक समस्त वेद साक्षात् या परम्परा से यज्ञ आदि क्रियाओं तथा उनके उपकरण अंगों का प्रतिपादक है, जैसे "स्वर्गकामो यजेत", "दध्ना जुहोति" इत्यादि। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "सदैव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि वेद-वाक्य क्रियापरक नहीं हैं, किन्तु सिद्ध वस्तु ब्रह्मपरक हैं, अतः वे निष्फल हैं।

शंकर इस मत का निषेध करते हुए कहते हैं कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारणभूत ब्रह्म वेदान्त-वाक्यों से जाना जाता है। ऐसे वेदान्त-वाक्य क्रियापरक नहीं हैं, किन्तु उन्हें निष्फल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे ब्रह्म का ज्ञान कराते हैं। ऐसा न मानें तो श्रुतिप्रतिपादित अर्थ की हानि और अश्रुत अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी।[53]

(ख) वेदान्त-वाक्य क्रिया विधि के अंग नहीं—मीमांसक वेदान्त-वाक्यों को बिल्कुल निरर्थक होने के दोष से बचाने के लिए उन्हें कर्त्ता तथा देवता आदि का प्रकाशन रूप प्रयोजन वाले होना मानते हैं। इस प्रकार वे क्रिया विधि के अंग होकर सार्थक हो जायेंगे।

शंकर कहते हैं कि वेदान्त-वाक्यों का कर्त्ता के स्वरूप प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं हो सकता है, क्योंकि कुछ श्रुतियाँ क्रिया, कारक और फल का निषेध करती हैं। उदाहरणार्थ, "तत्केन कं प्रत्येत्" अर्थात् ब्रह्मविद्या काल में कौन कर्त्ता, किस कारण से, किस विषय को देखे।[54] मीमांसक कर्त्ता का तात्पर्य यज्ञ आदि कर्त्ता मानते हैं। यदि उस कर्त्ता का स्वरूप निर्धारित करते हुये श्रुति कहे कि वह किसी इन्द्रिय के द्वारा कुछ नहीं देखता है, तो वह कर्त्ता यज्ञ ही कैसे कर सकेगा? इस प्रकार दोनों वाक्यों की संगति नहीं बैठ सकती है।[55]

(ग) वेदान्त-वाक्य सिद्ध वस्तु के प्रतिपादक नहीं—मीमांसक मानते हैं कि ब्रह्म तो सिद्ध वस्तु है। सिद्ध वस्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय होती हैं और वह हेयोपादेय (त्याज्य या प्राप्तव्य)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

रहित होती हैं। ऐसी वस्तु के प्रतिपादन में श्रुति का कोई पुरुषार्थ नहीं है। वेद तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के अविषय स्वर्ग आदि फल और उनके साधन भूत यज्ञ आदि कर्मों का प्रतिपादक है। अतः प्रसिद्ध है— "अज्ञातज्ञापकत्वं हि वेदानां प्रामाण्यम्" अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणें से अज्ञात वस्तु का ज्ञापकत्व ही वेदों का प्रामाण्य है। यदि वेद ज्ञात या सिद्ध वस्तु का वर्णन करें तो वह अनुवाद मात्र कहलायेगा, इससे वेदों में प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा। इसलिए वेदान्त-वाक्यों को सिद्ध वस्तुपरक न मानकर कर्म अथवा उपासना के लिए ही मानना चाहिए।

शंकर इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं है, किन्तु "तत्त्वमसि" जैसे वेदान्त-वाक्यों के विना ब्रह्मात्मभाव अवगत नहीं होता है। श्रुतियाँ स्वयं कहती हैं कि जैसे नमक जल में रहता है फिर भी दिखाई नहीं देता, वह निश्चय ही इस जल में है, वैसे ही इस शरीर में विद्यमान सद्ब्रह्म का प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से अनुभव नहीं होता, किन्तु वेदान्त-वाक्यों से इस शरीर में उसका अपरोक्ष हो सकेगा।[56] शिष्य गुरु के पास जाकर कहता है "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" अर्थात् मैं आपसे उपनिषद् प्रतिपादित पुरुष के विषय में पूछता हूँ।[57] इन वाक्यों से ब्रह्म की अपूर्वता और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अज्ञेयता सिद्ध होती है।[58]

"हेयोपादेय रहित होने से ब्रह्म का उपदेश निष्फल है" — यह जो कहा गया है, वह दोष नहीं है, क्योंकि हेयोपादेय रहित ब्रह्मात्मभाव के अवगत होने से ही सब क्लेशों की निवृत्ति और परमपुरुषार्थ की सिद्धि होती है।[59] श्रुति स्वयं इसका समर्थन करती है— "अशरीरं शरीरेष्वन वस्थेष्व वस्थितम्, महानतं विभुमात्मानं भत्वा धीरो न शोचनि" अर्थात् जो शरीरों में शरीर रहित तथा अनित्यों में नित्य स्वरूप है, उस महान् और सर्वव्यापक आत्मा को जानकर विद्वान् शोक नहीं करता है।[60]

(घ) केवल उपासनापरक मानने से विरोध—मीमांसक कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्म को शास्त्र प्रमाणक मान लिया जाय तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उपासना विधि के विषय रूप से ही शास्त्र ब्रह्म का बोध कराता है। इसका कारण यह है कि शास्त्र प्रवृत्ति तथा निवृत्ति प्रयोजन वाला है। व्रह पुरुष को किसी एक विषय में प्रवृत्त करता हुआ और किसी एक विषय से निवृत्त करता हुआ सार्थक होता है। दूसरे वाक्य इसके अंगभूत होकर उपयुक्त होते हैं। अतः ब्रह्म की उपासना में नियोजित करने के कारण वेदान्त-वाक्य सार्थक हो सकते हैं। "आत्मानमेव लोकमुपासीत" — ज्ञानस्वरूप आत्मा की ही उपासना करें।[61]

ब्रह्म के श्रवण मात्र सै श्रोता की संसारित्व-भ्रान्ति निवृत्त नहीं होती; उसे पूर्व के समान सुख-दुःखादि संसारी धर्म देखने में आते हैं। अतः श्रवण के बाद मनन और निदिध्यासन की विधि देखने में आती है। इसलिए यह स्वीकार करना चाहिए कि उपासना विधि विषयक होने से ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक है।

शंकर इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं हैं। कर्म और ब्रह्मविद्या के फल में वैलक्षण्य है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म श्रुति और स्मृति में धर्म नाम से प्रसिद्ध हैं। उसके विषय में जिज्ञासा करना धर्म-जिज्ञासा कहलाती है। इसके साथ ही परिहार के उद्देश्य से वर्णित प्रतिषेध होने से हिंसा आदि रूप अधर्म भी जिज्ञास्य हैं। इस धर्माधर्म के फलस्वरूप विषय और इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त होने वाला सुख-दुःखरूप फल सर्व प्रसिद्ध है। मनुष्य से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सभी शरीरधारियों में सुख का तारतम्य श्रुति कहती है। उससे सुख के साधनभूत धर्म का तारतम्य ज्ञात होता है। धर्म के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तारतम्य से अधिकारी का तारतम्य अवगत होता है। इसी प्रकार जीवों में दुःख का तारतम्य देखने से उसके हेतुभूत अधर्म का तारतम्य ज्ञात होता है। अविद्या आदि दोष विशिष्ट जीवों के धर्म अधर्म के तारतम्य से शरीर ग्रहण पूर्वक सुख-दुःख का तारतम्य अनित्य संसाररूप है। इसीलिए श्रुति कहती है कि सशरीर आत्मा के सुख-दुःख का विनाश नहीं होता।[62]

इसी से यह अवगत होता है कि अशरीरी आत्मा को मिथ्या देह सम्बन्धी सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते। आत्मा की यह शरीर रहित अवस्था ही मोक्ष है। मोक्ष को धर्म का कार्य नहीं मान सकते अन्यथा प्रियाप्रिय स्पर्श का प्रतिषेध अनुपपन्न होगा। अतएव अनुष्ठेय कर्मफल से विलक्षण मोक्ष नामक अशरीरत्व नित्य है, यही सिद्ध होता है। श्रुति भी उसके लिए "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्" (धर्म-अधर्म से भिन्न) कहती है। इसलिए कर्मफल से विलक्षण होने के कारण वह अशरीर मोक्ष ब्रह्म है। उसकी जिज्ञासा ब्रह्म-जिज्ञासा कहलाती है। अनेक श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञान के अनन्तर मोक्ष दिखलाती हैं। ज्ञान और मोक्ष के बीच कार्य का निषेध किया गया है। मोक्ष के प्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्तिमात्र आत्मज्ञान का फल है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान से होती है।

(ङ) आत्मज्ञान में मानसिक क्रिया का निषेध—मीमांसक ज्ञान को मानसिक क्रिया मानकर मोक्ष को कर्म से प्राप्त बताते हैं। शंकर ज्ञान को कर्म से विलक्षण मानते हैं। क्रिया के सामान्यतः चार रूप होते हैं— उत्पत्ति, विकृति, आप्ति और संस्कृति। संक्षेप में, यदि मोक्ष उत्पाद्य हो तो वह अनित्य होगा, जैसा कि सभी उत्पाद्य वस्तुओं में देखा जाता है। इसी प्रकार दधि आदि विकारी पदार्थ भी नित्य नहीं होते, इसलिए मोक्ष विकार्य भी नहीं है। ब्रह्म आत्मरूप होने के कारण प्राप्य भी नहीं है। यदि ब्रह्म को आत्मा से भिन्न मानें तो भी वह प्राप्य नहीं है, क्योंकि आकाश के समान सर्वव्यापक होने के कारण वह नित्य है। मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है। संस्कार करने के लिए वस्तु में कुछ गुण लाने होते हैं या उसके दोष निकालने होते हैं। मोक्ष ब्रह्मस्वरूप है, अतः न उसमें कोई गुण लाया जा सकता है और न उसमें कोई दोष है, जो हटाया जा सके। अतः "ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते" अर्थात् मोक्ष में केवल ज्ञान के सिवा क्रिया के लेशमात्र का भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

ज्ञान मानसी क्रिया भी नहीं है। वस्तु स्वरूप की अपेक्षा के विना जहाँ जिसका विधान किया जाता है वह क्रिया है और वह पुरुष संकल्प के अधीन है। ध्यानं-चिन्तन आदि मानसी क्रियायें हैं। वे पुरुष के अधीन होने के कारण पुरुष द्वारा करने न करने अथवा अन्य प्रकार करने योग्य है। ज्ञान तो प्रमाणजन्य है और प्रमाण यथार्थ वस्तु विषयक होता है, इसलिए ज्ञान करने, न करने अथवा अन्य प्रकार से करने के योग्य नहीं होता। वह केवल वस्तु के अधीन है, न विधि के अधीन है और न पुरुष के अधीन। अतः मानसिक होने पर भी ज्ञान का ध्यान से महान अन्तर है।

शंकर ज्ञान और मानसी-क्रिया का अन्तर एक दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। यदि हम कहें "पुरुष अग्नि है, स्त्री अग्नि है" तो यहाँ पुरुष और स्त्री में अग्नि-बुद्धि मानसिक है और वह केवल विधिजन्य होने के कारण क्रिया ही है। वह पुरुष के अधीन भी है। लोक प्रसिद्ध अग्नि में जो अग्नि-बुद्धि है वह न विधि के अधीन है और न पुरुष के ही अधीन, किन्तु प्रत्यक्ष विषय-वस्तु (अग्नि) के अधीन है। अतः वह ज्ञान है क्रिया नहीं। इसी प्रकार समस्त प्रमाण विषयक वस्तु में भी समझना चाहिए। ब्रह्मात्म विषयक ज्ञान भी विधि के अधीन नहीं है, अतः वह कर्म नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ईश्वर-निमित्तकारणवाद का खण्डन

कुछ दार्शनिक ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण मानते हैं। सेश्वर सांख्य और योग मत में ईश्वर को प्रकृति और पुरुष का अधिष्ठाता कह कर जगत् का निमित्त कारण बताया गया है। प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। प्रकृति, पुरुष और ईश्वर तीनों पृथक् हैं। महेश्वर मत (शैव) ऐसा मानता है कि कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त (मोक्ष) ये पाँच पदार्थ पशुपति ईश्वर से पशुपाश अर्थात् जीवन-बन्धन विनष्ट करने के लिए उपदिष्ट हैं। पशुपति और प्रकृति जगत् के पृथक् निमित्त और उपादान कारण हैं। उसी प्रकार उत्तर न्याय और वैशेषिक दर्शनों में भी अपनी प्रक्रिया के अनुसार ईश्वर को निमित्त कारण मानते हैं। और परमाणुओं को उपादान कारण निरूपित करते हैं। शंकर इस मत के खण्डन हेतु निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं:—

(क) राग-द्वेष आदि दोषों का खण्डन—यदि ईश्वर केवल निमित्त कारण है तो वह हीन, मध्यम और उत्तम भाव के प्राणियों को उत्पन्न करेगा और "रागद्वेषादिदोषप्रसक्तेरस्मादादिवत् अनरीश्वरत्वं प्रसज्येत" अर्थात् वह राग-द्वेष आदि दोषों से प्रसक्त होकर हम लोगों के समान जीवतुल्य हो जायेगा।[63] इस दशा में अनीश्वरत्व ही सिद्ध होगा और उसे ईश्वर नहीं कहा जा सकता।

(ख) अन्यान्याश्रय दोष—यदि यह कहें कि ईश्वर समस्त प्राणियों की रचना उनके ही शुभाशुभ कर्मों के अनुसार करता है, इसलिए उसमें राग-द्वेष का दोष नहीं आता है, तो ईश्वर का कृतित्व जीवों के शुभाशुभ कर्मों पर आश्रित होगा और जीवों को अपने कर्म-फल भोग के लिए ईश्वर पर आश्रित होना होगा। इस प्रकार "इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात्" अर्थात् एक दूसरे पर आश्रय रखने का दोष प्राप्त होगा।

यदि ईश्वर सृष्टि-कर्तृत्व और जीव के कर्मफल भोक्तृत्व को अनादि मानें तो भी समस्या का समाधान नहीं होगा, क्योंकि वर्तमान काल के समान अतीत काल में भी अन्योन्याश्रय दोष मानना पड़ेगा और अन्धपरम्परा न्याय प्रसक्त होगा।[64]

(ग) ईश्वर में स्वार्थ दोष—न्याय-दर्शन का मत है— "प्रवर्तनालक्षणा दोषा" प्रवृत्ति के हेतुभूत दोष है। इस मत के अनुसार कोई भी दोष के विना स्वार्थ या परार्थ में प्रवृत्त हुआ नहीं देखा जाता। स्वार्थ में प्रयुक्त हुए ही सब लोग परार्थ में भी प्रवृत्त होते हैं, अतः ईश्वर में यह दोष भी आता है और वह ईश्वर कहलाने योग्य नहीं रह जाता।[65]

(घ) पुरुषविशेष में उदासीनता—योग-दर्शन ईश्वर को एक ऐसा पुरुषविशेष मानता है, जिसमें क्लेश, कर्म, विपाक और आषय नहीं होते हैं। इन लक्षणों से रहित पुरुष रूप ईश्वर उदासीन होगा। उसे सृष्टि-रचना में प्रवृत्त होने का कोई कारण नहीं है। "पुरुषस्य चौदासीन्याभ्युपगमादसामाञ्जस्यम्" अर्थात् पुरुष में उदासीनता मानने से असामञ्जस्य उत्पन्न होगा, वह कर्म में प्रवृत्त न हो सकेगा।[66]

(ङ) संयोग सम्बन्ध का अभाव—ईश्वर यदि केवल निमित्त कारण है और प्रकृति तथा पुरुष उससे पृथक् हैं, तो ईश्वर उनका शासक नहीं हो सकता। शासक और शासित का सम्बन्ध होने के लिए दोनों के बीच संयोग या समवाय सम्बन्ध होना चाहिए। उनमें संयोग सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। जगत् की रचना होने के पूर्व उनमें कार्य-कारण भाव का सम्बन्ध भी नहीं सिद्ध होता है।[67]

(च) प्रधान ईश्वर का अधिष्ठेय नहीं हो सकता—अप्रत्यक्ष और रूपहीन प्रधान से ईश्वर कोई रचना नहीं कर सकता। यहाँ मिट्टी और कुम्भकार का दृष्टान्त घटित नहीं होता। मिट्टी में रूपादि गुण होते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं, इसलिए उससे घट बनाया जा सकता है। प्रधान उससे विलक्षण है। "न प्रधानमीश्वरस्याधिष्ठेयं संभवति" अर्थात् प्रधान ईश्वर का अधिष्ठेय नहीं हो सकता है।[68]

इसके उत्तर में योग-दर्शन कहता है कि जैसे अप्रत्यक्ष और रूप आदि रहित नेत्र आदि इन्द्रयों को पुरुष अधिष्ठित करता है, वैसे ही ईश्वर प्रधान को भी अधिष्ठित करता है और उससे सृष्टि-रचना कर सकता है। शंकर इस तर्क में दोष दिखाते हैं। पुरुष दिखाई देने वाले भोगादि के लिए ही प्रवृत्त होता है। ईश्वर में भोग आदि नहीं देखे जाते हैं। यदि इन्द्रिय-समुदाय के साथ प्रधान का साम्य स्वीकार करें तो ईश्वर को संसारी पुरुष की भाँति भोग में प्रसक्त हुआ मानना पड़ेगा।[69]

(छ) अशरीरी ईश्वर में निमित्तत्व सम्भव नहीं—जैसे राजा सशरीर होकर ही किसी राज्य का स्वामी और शासक हो सकता है, वैसे ही ईश्वर को भी सशरीर होना चाहिए तभी वह प्रधान से सृष्टि कर सकता है और जीवों पर शासन कर पायेगा। किन्तु ईश्वर के न शरीर है और इन्द्रियाँ। अतः वह प्रकृति पर शासन नहीं कर सकता है। शरीर की रचना सृष्टि के बाद ही होगी। सृष्टि के पूर्व शरीर नहीं हो सकता। "निरधिष्ठानत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्ति" अर्थात् शरीर के विना निरधिष्ठान होने पर ईश्वर प्रवर्तक नहीं हो सकता है, कारण कि लोक में ऐसा ही देखा जाता है।[70] यदि ईश्वर को सशरीरी मान भी लें तो वह अन्य भौतिक प्राणियों के समान जन्मने-मरने वाला हो जाएगा।

(ज) परिच्छिन और विनाशी होने का दोष—ईश्वर, प्रधान और पुरुषों को परस्पर भिन्न और अनन्त माना जाता है। ऐसी दशा में यदि ईश्वर सर्वज्ञ है, तो प्रश्न उठता है कि वह प्रधान, पुरुष और अपनी इयत्ता (परिमाण) जानता है या नहीं जानता? दोनों ही अवस्थाओं में दोष आता है। यदि वह जानता है तो वह स्वयं, प्रकृति और पुरुष सीमित होंगे, क्योंकि हर ज्ञेय वस्तु परिच्छिन्न होती है। यदि वे सब परिच्छिन्न हैं तो उनका अन्त अवश्यंभावी है।

पुरुष संख्या में असीम हैं। किन्तु सर्वज्ञ ईश्वर को उनकी संख्या ज्ञात होनी चाहिए। पुरुष क्रमशः मुक्त होते रहते हैं। सब पुरुष मुक्त हो जाने पर प्रकृति का कोई उद्देश्य नहीं रह जायेगा। उस अवस्था में सृष्टि समाप्त हो जायगी और शून्यता आ जायेगी। सृष्टि न होने पर और उसकी आवश्यकता भी न होने पर ईश्वर को जानने के लिए या करने के लिए कुछ न होगा। अतः वह सर्वज्ञ और निमित्त कारण भी न रहेगा।

ईश्वर, प्रकृति और पुरुष के भिन्न होने से उन्हें परिच्छिन्न होना चाहिए और परिच्छिन्न होने से विनाशी होंगे।

यदि ईश्वर प्रकृति और पुरुष का परिमाण नहीं जानता है तो सर्वज्ञ नहीं होगा। यदि वह सर्वज्ञ नहीं है तो वह ईश्वर नहीं हो सकता। अतः ईश्वर को केवल निमित्त कारण नहीं माना जा सकता।

भागवत-दर्शन की आलोचना

भागवत-पांचरात्र आगम के अनुसार परमात्मा जगत् का निमित्त और उपादान कारण दोनों है। अद्वैत-वेदान्त भी यह मत स्वीकार करता है। श्रुति अनुसारिणी स्मृति प्रमाण भी है। इसलिए भागवत-दर्शन सर्वथा खण्डनीय नहीं है। उसमें कुछ सिद्धान्त श्रुति-विरुद्ध अपना लिये गये हैं। उनका निराकरण करना आवश्यक है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इन मत में केवल एक भगवान् वासुदेव ही निरञ्जन ज्ञानस्वरूप परमार्थतत्त्व है। वह अपने को चार प्रकार से विभक्त कर वासुदेव व्यूह से, संकर्षण व्यूह से, प्रद्युम्न व्यूह से और अनिरुद्ध व्यूह से प्रतिष्ठित है। यहाँ व्यूह का अर्थ मूर्ति है। वासुदेव परमात्मा कहा जाता है और संकर्षण जीव का नाम है। प्रद्युम्न मन और अनिरुद्ध अहंकार है। उनमें वासुदेव परा प्रकृति है और अन्य संकर्षण आदि कार्य हैं। उस भगवान् वासुदेव की अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग द्वारा सौ वर्ष पूजा करने पर जीव के क्लेश क्षीण हो जाते हैं और वह परमात्मा को प्राप्त होता है। वाक्, काय और चित्त की सावधानतापूर्वक देवगृह में जाना अभिगमन है। पूजा योग्य द्रव्य का संग्रह उपादान है। इज्या का अर्थ है पूजा। अष्टाक्षर मंत्र का जप स्वाध्याय है। वासुदेव का ध्यान करना ही योग है।

शंकर को इस बात से विरोध नहीं कि परमात्मा अपने को अनेक प्रकार के व्यूह कर अवस्थित होता है, क्योंकि वह श्रुतिसम्मत है। जीव द्वारा उसकी उपासना करना भी श्रुति-विरुद्ध नहीं हैं। किन्तु नीचे लिखे कुछ सिद्धान्त इस दर्शन के आचार्यों द्वारा परिकल्पित हैं, वे शास्त्र-सम्मत नहीं हैं। शंकर उनका खण्डन करते हैं—

(क) परमात्मा से जीव की उत्पत्ति का खण्डन—शंकर के मतानुसार वासुदेव या परमात्मा से संकर्षण नामक जीव की उत्पत्ति संभव नहीं है। यदि इस प्रकार जीव की उत्पत्ति होती है तो वह अनित्य होगा। जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, उसका विनाश होता है। यदि जीव को विनाशी मान लें तो वह परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता, जबकि भागवत जीव का परम पुरुषार्थ परमात्मा की प्राप्ति ही मानते हैं। इसमें श्रुति प्रमाण भी नहीं है।[71]

(ख) जीव से मन की उत्पत्ति का खण्डन—भागवत-दर्शन में संकर्षण नामक जीव से प्रद्युम्न नामक मन की उत्पत्ति मानी गयी है। यह असंगत है। मन एक करण है। कर्त्ता से करण की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। देवदत्त आदि से कुठार आदि उत्पद्यमान नहीं होते। ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है, जहाँ कर्त्ता से करण उत्पन्न दिखाई दे। इसके अतिरिक्त इस मत का समर्थन करने वाली कोई श्रुति भी नहीं है।

इसी प्रकार प्रद्युम्न नामक मन से अनिरुद्ध नामक अहंकार भी उत्पन्न नहीं हो सकता। एक उपकरण से दूसरा उपकरण उत्पन्न होने का भी कोई दृष्टान्त या प्रमाण नहीं है।[72]

(ग) चार व्यूहों का खण्डन—उपर्युक्त कठिनाई से बचने के लिए भागवत यदि संकर्षण आदि को जीव आदि न मानकर सब को एक समान ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज पूर्ण मानें तो एक से दूसरे की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि चारों निर्दोष, निरधिष्ठान और निरवद्य वासुदेव के समान ही हैं तो यह मत अनेकेश्वरवादी होगा। "ततो नेकेश्वर कल्पनानर्थक्यम्" अर्थात् उससे अनेक ईश्वर की कल्पना निष्फल है। एक ही ईश्वर से समस्त ईश्वर-कार्य सिद्ध हो सकता है।[73]

भागवत-दर्शन मानता है कि एक भगवान् वासुदेव ही परमार्थ तत्व है। अतः इसके विपरीत चारों व्यूहों को तद्वत् मानने से पूर्व सिद्धान्त की हानि होगी। यदि चारों व्यूह एक समान धर्म वाले हैं तो वासुदेव से संकर्षण आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती, कारण से कार्य में कुछ अतिशयता न होगी। कारण से कार्य में कुछ अतिशय होना चाहिए, जैसे मिट्टी और घट में। "न ह्यसत्यतिशये कार्य कारणमित्यवकल्पते" अर्थात् अतिशय न होने पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह कार्य है और यह कारण है।[74]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS and American Academy of Indian Studies (AAIS)

(घ) गुण-गुणित्व कल्पना आदि में विरोध—स्वयं ही गुण और गुणी हो यह कल्पना विरुद्ध है। भागवत-दर्शन में ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, और तेज को भगवान् के गुण कहा गया है और उन्हें भगवान् वासुदेव से पृथक् माना गया है। शंकर गुण और गुणी में भेद नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार ब्रह्म सब प्रकार के भेदों से परे है।

(ङ) वेद-विरोध—यह दर्शन वेद-विरोधी भी है। उसके अनुसार चारों वेदों में परम श्रेय न मिलने के कारण शांडिल्य ने इस शास्त्र को प्राप्त किया और इसकी शरण ली। इस प्रकार यह वेदों की निन्दा करता है। उनका कथन है "एकस्यापि तन्त्राक्षरस्य अध्येता चतुर्वेदिभ्योऽधिकः" —इस पंचरात्र तन्त्र के एक अक्षर का अध्येता चतुर्वेद वेत्ताओं से अधिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकर ने प्रायः उन सभी दार्शनिक मतों का खण्डन किया है जो अद्वैत-मत का या तो विरोध करते हैं अथवा उससे सहमत नहीं हैं। इस प्रकार के खण्डन से उनका तात्पर्य किसी मत का केवल निषेध करना नहीं है वरन् अद्वैत की स्थापना ही उनका एकमात्र लक्ष्य है। शंकर अपनी तर्कशक्ति के सहारे उस महान् लक्ष्य की प्राप्ति में सफल भी हुये हैं। श्रुति का अर्थ निर्धारित करने एवं श्रुति विरोधी युक्तियों के खण्डन में भी उन्होंने अपनी तर्कना-पद्धति का सहारा लिया है। अपनी तर्कनाशक्ति के कारण ही शंकर विश्व के महान् दार्शनिकों में स्थान रखते हैं।

सन्दर्भ-सूची

1. "अस्मदीयो दर्शनपक्षो न विरुध्यते यथा स्वहस्तपादादिभिः" गौ.का. शांकर भाष्य, 3.17.
2. गौ. का. शांकर भाष्य, 3.17.
3. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, 2.2.11.
4. वहीं, 2.2.1.
5. वही, 2.2.1.
6. वही.
7. "न कार्यकारणभावाद् वाह्याध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं शक्यं कल्पयितुम्।" ब्र.सू.शां.भा., 2.2.1.
8. "प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतानचितेनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति।" वही, 2.2.2.
9. ब्रह्मसूत्र, शां.भ. 2.2.2.
10. "प्रवृतिरहितो ऽपि ईश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सत् सर्वं प्रवर्तयेत् अयस्कान्तवत्।" वही, 2.2.2.
11. "संभवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे, न त्वचेतनकारणत्वे" ब्र.सू.,शां.भा., 2.2.2.
12. "चेतनापेक्षत्वं तु सर्वत्रोपदर्शितम्" वही, 2.2.3.
13. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 2.2.4.
14. "न तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्य परिणामः" ब्र.सू.,शां.भा., 2.2.5.
15. वही, 2.2.6.
16. वही, 2.2.6.
17. वही, 2.2.7.
18. वही, 2.2.8.
19. वही, 2.2.9.
20. वही, 2.2.33.
21. वही, 2.2.33.
22. "असंगतमिदमार्हतं मतम्"—ब्र.सू.,शां.भा., 2.2.33.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

23. "अनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत"— ब्र.सू.,शां.भा., 2.2.34.
24. वही, 2.2.34.
25. वही.
26. वही, 2.2.35.
27. वही, 2.2.35.
28. वही, 2.2.35.
29. वही, 2.2.36.
30. "सर्गकाले वायवीयेष्वदृष्टापेक्षं कर्मोत्पद्यते, तत्कर्म स्वाश्रयमणुमण्वन्तरेण संयुनक्ति"। ब्र.सू.,शां.भा., 2.2.12.
31. "प्रयत्नोऽभिद्यातादिर्वा" ब्र.सू.,शां.भा., 3.2.12.
32. वही.
33. "ततश्च तस्य तस्योन्योन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थैव प्रसज्येत"। ब्र.सू.,शां.भा., 2.2.13.
34. "अपेक्षाकारणस्य तुल्यत्वात्"— वही,2.2.13.
35. वही, 2.2.15.
36. वही, 2.2.16.
37. वही, 2.2.18.(सोऽर्धवैनाशिकः)
38. वही, 2.2.20.
39. वही, 2.2.21.
40. वही, 2.2.25.
41. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग- 1, पृ. 124.
42. ब्रह्मसूत्र शां.भा., 2.2.24.
43. वही.
44. आत्मन् आकाशः संभूतः, तै. 2.1.
45. ब्र.सू.शां.भा. 2.2.24.
46. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 2.2.18.
47. वही.
48. वही.
49. वही, 2.2.28.
50. वही, 2.2.29.
51. वही, 2.2.30.
52. वही, 2.2.31.
53. वही, 1.1.4.
54. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2.4.13
55. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 1.1.4.
56. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.13.2.
57. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2.9.26.
58. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 1.1.4.
59. वही.
60. कठोपनिषद् 1.2.21.
61. बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.4.15.
62. छान्दोग्य उपनिषद्, 8.12.1.
63. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 2.2.37.
64. वही.
65. वही.
66. वही.
67. वही, 2.2.38.
68. वही, 2.2.39.
69. वही, 2.2.40.
70. वही, 2.2.41.
71. वही, 2.2.42.
72. वही, 2.2.43.
73. वही, 2.2.44.
74. वही.

■

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय 4

अध्यास

शांकर-वेदान्त में "अध्यास" की अवधारणा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। शंकर ब्रह्मसूत्र-भाष्य अध्यास निरूपण से ही प्रारम्भ करते हैं। अध्यास अज्ञान या भ्रम का पर्यायवाची है। अज्ञान से ज्ञान उपहित या ढका हुआ है। इस प्रकार परिच्छिन्न ज्ञान मनुष्य को सहसा उपलब्ध नहीं होता है। यही कारण है कि हम सत्य के दर्शन नहीं कर पाते और असत् को ही सत् समझ कर भ्रम में पड़े रहते हैं। असत् में भटकते रहने से नाना प्रकार के मतों की कल्पना तो की जा सकती है किन्तु सत्य नहीं जाना जा सकता है।

अज्ञान अनेक प्रकार का हो सकता है। यदि ज्ञेय वस्तु बिल्कुल भासित न हो तो उस वस्तु का अज्ञान होगा। इसके विपरीत वस्तु भासित होते हुए भी यह ज्ञान न हो कि यह वही वस्तु है जिसे हम खोज रहे हैं तो भी अज्ञान होगा। इन दोनों स्थितियों के मध्य भी ज्ञेय वस्तु हो सकती है। वह वस्तु न बिल्कुल प्रकट हो और न बिल्कुल अप्रकट, तो भी उसका अज्ञान होगा। इसके अतिरिक्त यदि एक वस्तु दूसरी से मिल जाए और स्वतंत्र रूप से अलग उपलब्ध न हो तो भी उसका अज्ञान हो सकता है। अज्ञान के ये अनेक रूप होने के कारण प्रश्न उठता है कि ब्रह्म-विषयक अज्ञान किस प्रकार का है?

शंकर इस अज्ञान को अध्यासरूप मानते हैं। अध्यास की अवस्था में दो वस्तुओं के बीच एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बन्ध हो जाता है कि एक वस्तु के धर्म दूसरी वस्तु में और दूसरी वस्तु के धर्म प्रथम वस्तु में दिखाई देने लगते हैं। इसका एक स्थूल दृष्टान्त है तप्तलौहपिण्ड।[1] गर्म लोहे में अग्नि और लोहे के धर्मों का एक-दूसरे पर अध्यास हो जाता है। लौह ठंडा होता है किन्तु अग्नि के धर्म स्वीकार कर तप्त और लाल दिखाई देने लागता है और अग्नि में न कोई आकार होता है और न भार किन्तु लोहे का धर्म इसमें भासित होने से अग्नि लोहे के आकार की हो जाती है और वह भारी अनुभव होती है। अग्नि और लोहा विरुद्ध धर्म वाले हैं, एक के धर्म दूसरे में नहीं हो सकते, किन्तु फिर भी तप्तलौहपिण्ड में एक धर्म दूसरे में भासित होते हैं।

प्रतिपाद्य विषय में यह अध्यास विषय और विषयी के बीच हुआ है। दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। विषय "तुम" और विषयी "मैं" रूप में विरुद्ध धर्म वाला है। दोनों का विरोध प्रकाश और अंधकार के समान है। विषयी प्रकाश के समान चेतन स्वरूप है और विषय अंधकार के समान जड़ है। फिर भी इन दोनों के धर्मों का परस्पर अध्यास हो गया है। आत्मा और अनात्मा अत्यन्त विरोधी स्वभाव के हैं।[2] आत्मा शुद्ध चेतन स्वरूप, अखण्ड, एकरस, अनन्त, निर्विकार, शाश्वत, कूटस्थ आदि लक्षणों से युक्त है और अनात्मा रूप समस्त जगत्, हैं जिसमें शरीर, मन बुद्धि आदि भी अन्तःपाती हैं। यह अनात्मा, जड-समुदाय और प्रकाश्य है। यह सीमित, विकारवान् और नश्वर है। इस प्रकार आत्मा और अनात्मा दोनों अत्यन्त विरोधी स्वभाव के हैं। दोनों का परस्पर तादात्म्य नहीं हो सकता। केवल धर्मों का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ही परस्पर अध्यास होता है। इसीलिए हमें अनुभव होता है कि शरीर चेतन है और हम (आत्मा) शरीर के आकार वाले हैं। यह प्रतीति देहात्म बुद्धि है और उसका कारण अध्यास है।

अध्यास का कारण

सत्स्वरूप आत्मा का जो धर्म है, असत् स्वरूप अनात्मा का धर्म उसके विपरीत है। जिस वस्तु के जो धर्म हैं वे यदि वहीं दिखाई दें तो न अध्यास होगा और न अज्ञान का प्रश्न उठेगा। किन्तु जब सत्य का धर्म असत् में और असत् का धर्म सत् में दिखाई देता है और वहीं उसे स्वीकार कर लेते हैं तो इसे अध्यास कहते हैं और अध्यस्त धर्मों को सत्य मानना अज्ञान कहलाता है। शंकर अध्यास का कारण "अविवेक" और "मिथ्याज्ञाननिमित्तक" मानते हैं।[3]

अध्यास का कारण अविवेक इसलिए है कि सत् के धर्म सत् में न दिखाई देकर असत् में दिखाई देते हैं और इसी प्रकार असत् के धर्म सत् में दिखाई देते हैं। इसके विपरीत विवेक तभी है जब सत् के धर्म या लक्षण सत् में ही दिखाई दें और उन लक्षणों से सत् को ही सत् मानें। इसी प्रकार असत् के धर्म असत् में देखकर उसी को असत् समझना भी विवेक है। इस विवेक के धर्मों और धर्मियों का यथावत् ज्ञान होना चाहिए। अविवेक होने में स्थिति बदल जाती है। अतः अविवेक में ही अध्यास का अनुभव होता है।

अविवेक के अतिरिक्त अध्यास का कोई दूसरा कारण नहीं हो सकता। आत्मा और अनात्मा या सत् और असत् का परस्पर वास्तविक अध्यास नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा अखण्ड है। उसमें न कोई अंश है और न उसमें अध्यस्त भासित होता हुआ अनात्मा पूर्वदृष्ट है। जड-चेतन के धर्म परस्पर विरोधी हैं, अतः एक का दूसरे में प्रसरण भी नहीं हो सकता। केवल अविवेक से ही धर्मों की अन्यत्र कल्पना हो सकती है।

अध्यास का अर्थ और लक्षण

संस्कृत का "अध्यास" शब्द अधि + आस् (अस्) + घञ् प्रत्यय के संयोग से बना है। इस व्युत्पत्ति से इसका अर्थ है कि एक वस्तु पर उससे पृथक् किसी दूसरी वस्तु का आ बैठना, आरोप होना तथा एक वस्तु के स्थान में किसी अन्य वस्तु का मिथ्या ग्रहण होना। रज्जुसर्प इसी प्रकार का दृष्टान्त हो सकता है। मन्द प्रकाश में रज्जुसर्प प्रतीत हो सकती है। यथार्थ रज्जु पर काल्पनिक सर्प आ बैठना अध्यास है। उसके फलस्वरूप भय का संवेग और भागने की क्रिया भी हो सकती है। पाण्डुरोग में सफेद वस्तु पीली दिखाई देना, सीप का चांदी भासित होना, मरुस्थल में जल प्रतीत होना अध्यास के ही दृष्टान्त हैं।

यह कोई नियम नहीं है कि पुरोवर्ती विषय में ही दूसरे विषय का अध्यास हो, क्योंकि अप्रत्यक्ष आकाश में भी अविवेकी लोग तलमलिनता आदि का अध्यास करते हैं। इसी प्रकार आत्मा में अनात्मा का अध्यास भी सम्भव है।[4]

शंकराचार्य ने अध्यास का लक्षण इस प्रकार दिया है— "स्मृतिरूपः परत्र पूर्व दृष्टावभासः"[5] अर्थात् अन्य स्थान पर पहले देखी हुई वस्तु का स्मृति जैसा अवभास होना। इसमें "परत्र अवभासः" इतना ही अध्यास का लक्षण है। "स्मृतिरूप" और "पूर्वदृष्टावभास" ये दोनों अध्यास के साधक हैं। "परत्र अवभास" का अर्थ है — परत्र (अधिष्ठान में या विद्यमान वस्तु में) अवभास (किसी अन्य वस्तु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की प्रतीति होना) अन्य भासित होने वाली वस्तु स्मृति के आधार पर प्राप्त होती है। स्मृति उसी वस्तु की होती है जिसे हमने पहले देखा था।

यहाँ "स्मृतिरूपः" पद पर विशेष ध्यान देना होगा। स्मृति के लिए तो नियत कारण रूप से पूर्वानुभव अपेक्षित है, किन्तु जगत् की प्रातिभातिक सत्ता सिद्ध करने के लिए पूर्वानुभूति मानने में अनवस्था दोष उपस्थित होगा। अतः अध्यास की अवस्था में भासित होने वाली वस्तु स्मृति नहीं मानी जा सकती। "रूप" शब्द सादृश्य का वाचक है। जैसे रस्सी पर सर्प का अध्यास सर्प की स्मृति से उत्पन्न होता है, वैसे ही ब्रह्म पर जगत् का अध्यास भासित होता है। जगत् स्मृति से उत्पन्न नहीं हुआ है किन्तु उसकी सत्ता स्मर्यमाण के सदृश कही जाती है।

यदि न्याय-दर्शन के आग्रह से भ्रम में स्मृति का सादृश्य अवश्य मानना पड़ता है। तो जगत् वस्तुतः स्मृति नहीं वरन् स्मृति रूप है। ब्रह्म ही एक मात्र सद्वस्तु है, किन्तु प्रतीति अनेक वस्तुओं की होती है जो वास्तव में नहीं है। इन सब मिथ्या रूपों की प्रतीति अध्यास मात्र है। यद्यपि अध्यास की रचना स्मृति जैसी है किन्तु संसाराध्यास स्मृति के उत्पन्न नहीं है। उसे शंकर "नैसर्गिक" मानते हैं।[6] यह उत्पत्ति के विना ही अनादि काल से प्रतिभासित हो रहा है।

कुछ व्याख्याकार जगत् को पूर्वदृष्ट मानते हैं और अध्यास की उत्पत्ति स्मृति के कारण ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यद्यपि प्रतीयमान यह प्रपञ्च नूतन है तथापि पूर्वदृष्ट और स्मर्यमाण के सदृश है क्योंकि यह प्रपञ्च अनादिकाल से प्रवाहरूप से चला आ रहा है। इससे यह अनादि काल से अविद्या द्वारा चिदात्मा में अध्यस्त है। पूर्व-पूर्व अध्यास के अनुभवजन्य संस्कार स्मृतिरूप होकर अन्तः करण में नूतन अनुभव को उत्पन्न करते हैं जैसे पूर्व-पूर्व बीज उतरोत्तर अंकुर उत्पन्न करते हैं।

शंकर अध्यास की परिभाषा पुनः इस प्रकार देते हैं— "अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः" अर्थात् अतद् में तद्बुद्धि ही अध्यास है। यह परिभाषा पूर्व दी गयी परिभाष "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" का संक्षिप्त रूप है।

वेदान्त के विरोधी अन्य दार्शनिक शंकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित अध्यास का खण्डन करते हैं। उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए शंकर उन्हीं की अध्यास विषयक परिभाषा देकर कहते हैं कि अन्य में अन्य का अवभास ही अध्यास है। इस सामान्य लक्षण में वे सब एक मत हैं। सब की परिभाषाओं में यह सामान्य लक्षण कैसे विद्यमान् है, यह देखने के लिए हमें अध्यास पर दी गयी विभिन्न परिभाषाओं का विश्लेषण करना होगा। हम उन पर क्रमशः विचार करेंगे।

(1) अन्यत्रान्य धर्माध्यासः[8] (एक में दूसरे के धर्म का आरोप अध्यास है)— यह परिभाषा आत्मख्यातिवादी योगाचार और अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक दोनों मानते हैं किन्तु उनका तात्पर्य भिन्न है। योगाचार मत में विज्ञान (बुद्धि) को ही आत्मा माना गया है। अतः इनके मतानुसार क्षणिक विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान रूप में पृथक् भासित होता है।[9] विज्ञान ही प्रक्षिप्त होकर बाह्य पदार्थों के रूप में दिखाई देता है। इसलिए रजत आदि के धर्म विज्ञान में भासित होते हैं। यही एक में दूसरे के धर्मों का अध्यास है।

इस अध्यास के कारण आत्मारूप विज्ञान जगत् रूप में भासित होता है। ज्ञान होने पर यह बोध होता है कि यह रजत नहीं है, विज्ञान मात्र है। आत्मा ही अनेक रूपों में भासित होता है, इसलिए विज्ञानवाद आत्मख्याति का समर्थक है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नैयायिक भी अध्यास की यही परिभाषा मानते हैं कि एक में दूसरे के धर्म का अध्यारोप अध्यास है; किन्तु वे विज्ञानवादियों के मत का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि विज्ञान का ही रजत रूप में भासित होना अनुभव विरुद्ध है। सुख-दुःख तो अपने अन्दर अनुभव होते हैं किन्तु सभी लोग जानते है कि रजत की सत्ता बाहर अनुभव होती है। रजत को भी अपने अन्दर विज्ञान का रूप मानना अनुभव विरुद्ध है। यह कोई नहीं कहता कि मैं ही रजत हूँ या मेरे में रजत है।

न्याय मत में अध्यास अन्यथाख्याति के कारण माना गया है। बाजार में देखा गया रजत जब शुक्ति में प्रतीत होता है तो यह अन्यथाख्याति हुई और शुक्ति में रजत के धर्म का आरोप होना अध्यास है। इस अध्यास का क्या कारण है? उनके मत में भ्रमस्थल से भिन्न बाजार में रजत का अनुभव नेत्र दोष से शुक्ति में प्रतीत होता।[10]

(2) यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनों भ्रमः[11] (जिसमें जिसका अध्यास है उसका भेदाग्रह निमित्तक भ्रम अध्यास है)— यह परिभाषा सांख्य और मीमांसक मत में मानी गयी है। वे लोक प्रसिद्ध भ्रमों को ही अध्यास मानते हैं। शुक्ति का "इदं" अंश और रजत की स्मृति से "इंद रजतं" ज्ञान होता है। इसमें सदोष नेत्र हेतु है। जब सदोष नेत्र शुक्ति के सम्पर्क में आता है तो सादृश्य के कारण रजत की स्मृति होती है। और सामने विद्यमान् वस्तु को द्रष्टा रंजत मान लेता है।

सांख्य इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि इंद अंश का नेत्रों से प्रत्यक्ष ज्ञान और रजत का स्मृति ज्ञान दोनों ज्ञान सत्य है और इनके विषय इंद और रजत भी सत्य हैं। नेत्रों के दोषवश दोनों ज्ञान और दोनों विषयों का भेद ग्रहण नहीं होता और दोनों मिलकर इदं रजतं का ज्ञान और व्यवहार होने लगता है। इसीलिए परिभाषा में "विवेकाग्रहनिबन्धः" पद प्रयोग में लया गया है। विवेक का बंधनकारी दोष समाप्त होने पर इदं और रजतं की एकता मिट जाती है और भ्रम दूर हो जाता है। सांख्य और मीमांसक अख्यातिवादि है।

(3) यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीत धर्मत्वकल्पनाम् आचक्षते[12] (जिसमें जिसका अध्यास है उसमें विपरीत धर्मत्व की कल्पना को अध्यास कहते है) — यह मत शून्यवादी बौद्धों का है। वे असत्ख्यातिवादी हैं। उनके मतानुसार शुक्ति में अत्यन्त असत् रजत की कल्पना को अध्यास कहते हैं। अत्यन्त असत् रजत की प्रतीति ही असत्ख्याति है। शून्यवादी विज्ञान आदि किसी तत्त्व को सत् नहीं मानते । समस्त जगत् जिसमें व्यक्ति और उसका ज्ञान भी सम्मिलित है, आभास मात्र है। यह गगन-कुसुम, गधर्वनगर या बंध्यापुत्र के समान है।

शंकराचार्य ने इन विभिन्न परिभाषाओं का खण्डन-मण्डन नहीं किया है।[13] इस कार्य में प्रवृत्त होने पर परम सत् का प्रतिपादन और उसमें जगत् का सम्बन्ध दिखाते हुए विपरीत मतों की आलोचना करनी पड़ती और उस विस्तार में पड़ने से विषयान्तर हो जाता। अतः उन्होंने निर्णय रूप में इतना ही कहा है कि इन सभी परिभाषाओं में अध्यास का तात्पर्य "अन्य में अन्य का अवभास" ही है। इस बिन्दु पर कोई विवाद नहीं है।

(4) अनिर्वचनीयख्याति – शांकर वेदान्त अन्य मतों की अपेक्षा इस बात में भिन्न है कि यह अनिर्वचनीयख्याति मानता है। सत्-असत् से विलक्षण वस्तु को अनिर्वचनीय कहते हैं। शुक्ति में रजत की प्रतीति अनिर्वचनीय है। वह गगन-कुसुम के समान नितान्त असत् नहीं है। यह कोई नहीं कहता है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कि हम गगन-कुसुम देख रहे हैं, किन्तु शुक्ति में रजत देखने वाला कहता है कि यह रजत है। हम इसे देख रहे हैं।

विषय रूप दो वस्तुओं के धर्मों का एक-दूसरे में अध्यास सहज सम्भव है किन्तु आत्मा पर अनात्मा का अध्यास कई समस्यायें उत्पन्न करता है। शंकर ने कुछ समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है।

(1) प्रथम प्रश्न है— अविषय प्रत्यगात्मा में विषय और उसके धर्मों का अध्यास कैसे होगा? सब लोग सामने उपस्थित विषय में ही अन्य विषय का अध्यास करते हैं। शुक्ति, रज्जु आदि जो प्रत्यक्ष अध्यास के अधिष्ठान हैं वे सब इन्द्रिय-संयुक्त होने से विषय हैं अतः उनमें रजत, सर्प आदि का अध्यास सम्भव है। परन्तु रूप आदि रहित आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों से अग्राह्य होने के कारण अविषय है। इसलिए अविषय आत्मा में अहंकार आदि विषय और उनके जडत्व आदि धर्मों का अध्यास कैसे हो सकता है? यदि अध्यास सिद्ध करने के लिए आत्मा को विषय मान लें तो अनेक श्रुतिवाक्य बाधित होंगे जिनमें आत्मा को अविषय कहा गया है, जैसे "न चक्षुषा गृह्यते" (मु. 3-1-8) अर्थात् यह आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता, "यच्चक्षुषा न पश्यति" (केन 1-6) जिसे अन्तःकरण चक्षु द्वारा नहीं देख सकता, "न तत्र चक्षुर्गच्छति" (केन 1-3) उस आत्मा तक नेत्र नहीं जाता।

इसके उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं— "न तावदयमेकान्तेन अविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात् अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यागात्म प्रसिद्धेः"[14] अर्थात् यह आत्मा सर्वथा अविषय नहीं है क्योंकि वह अस्मत् (अहं) प्रत्यय का विषय है, अपरोक्ष है और प्रत्यगात्मरूप से प्रसिद्ध है। यह आत्मा बाल, वृद्ध, मूर्ख, पण्डित आदि सब का अन्तरात्मा है, स्वप्रकाश होने से सब को प्रत्यक्ष है। इसीलिए सब लोग दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि "मैं हूँ"। किसी को अपने अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं होता। वह इतना प्रकाशस्वरूप है कि सूर्य-चन्द्र आदि भी उसी से प्रकाशित होते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासमतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥[15]

अर्थात् जो तेज सूर्य में स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में स्थित है और जो तेज अग्नि में स्थित है उसे तू मेरा ही तेज जान। इस प्रकार शास्त्र भी आत्मा के स्वप्रकाशस्वरूप होने का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए आत्मा को ज्ञान का अविषय नहीं कहा जा सकता। अन्य विषयों की भाँति आत्मा में अध्यास होना सम्भव हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी कोई नियम नहीं है कि पुरोवर्ती विषय में ही विषयान्तर का अध्यास हो। जो वस्तु इन्द्रियों के समाने उपलब्ध नहीं है उस पर भी अध्यास देखा जाता है। आकाश ऐसी ही अगोचर वस्तु है। उस पर अविवेकी लोग तलमलिनता आदि का अध्यास करते हैं। आकाश द्रव्य, पदार्थ नहीं है, इसलिए वह स्पर्श योग्य नहीं है। उसका कोई रूप नहीं है, अतः वह आँखों से भी नहीं देखा जाता। इसलिए शंकराचार्य आकाश को अप्रत्यक्ष मानकर उस पर अध्यास होने की सम्भावना बताते हैं। वह तल अर्थात् कड़ाही की भाँति गोल दिखाई देता है और उसमें मलिनता अर्थात् नीलिमा भासित होती है। यह दृष्टिगोचर गोलाई और नीलिमा आकाश में सम्भव नहीं है, फिर भी वह आकाश में ही भासित होती है। प्रकाश-किरणों की गति का सिद्धान्त समझने वाले जानते हैं कि नीलिमा आदि आकाश के लक्षण नहीं हैं। वे प्रकाश की गति के कारण प्रतीत होती है। अविवेकी लोग नीलीमा को आकाश में अध्यारोपित करते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं। इसी दृष्टान्त के समान, यदि आत्मा प्रत्यक्ष न हो अर्थात् वह इन्द्रिय-ज्ञान का विषय न हो तो भी उस पर अहंकार और सुख-दुःख का अध्यास हो सकता है।

(2) दूसरी शंका यह हो सकती है कि अधिष्ठान और अध्यस्त दोनों का सादृश्य होने पर ही अध्यास सम्भव होता है जैसे रस्सी और सर्प, शुक्ति और रजत आदि में देखा जाता है, परन्तु आत्मा और अनात्मा में काई सादृश्य न होने पर अध्यास कैसे होगा? आत्मा और अनात्मा एक दूसरे के विरोधी हैं। एक अस्मत् प्रत्यय और दूसरा युष्मत् प्रत्यय का विषय है। एक विषय है और दूसरा विषयी। दोनों में प्रकाश और अंधकार के समान भेद है- यह शंकराचार्य पहले ही स्वीकार कर चुके हैं। फिर उन में अध्यास कैसे हो सकता है?

आकाश के दृष्टान्त से इस शंका का भी निराकरण हो जाता है। आकाश और तलमलिनता आदि में कोई साम्य नहीं है, फिर भी दोनों में अध्यास होता है। मरुस्थल की बालू और जल में कोई साम्य नहीं है फिर भी वहाँ जल दिख जाता है। वैसे ही आत्मा और अनात्मा का अध्यास सम्भव होता है।

अध्यास का विस्तार

अध्यास की परिभाषा पर विचार करने पर संक्षिप्त निर्णय यह निकलता है कि "अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः"[16] अर्थात् अतद् में तद् बुद्धि ही अध्यास है। वस्तु जैसी है उसके विपरीत लक्षणो वाली बुद्धि उत्पन्न हो जाना अध्यास कहलाता है। आकाश की तलमलिनता, रज्जुसर्प, शुक्तिरजत, मृगमरीचिका आदि इसके दृष्टान्त हैं। अब विचार करना चाहिए कि वह अनर्थकारी अध्यास कौन है जिसके कारण मनुष्य कर्म-बंधन और दुःखों में पड़ता है तथा उपनिषद् आदि शास्त्र जिसके निवारण के लिए प्रवृत्त होते हैं। यह निर्णय करने के लिए शंकराचार्य अध्यास का विस्तार बताते हैं।

यद्यपि शंकराचार्य ने अनर्थकारी अध्यास का विभाजन, वर्गीकरण और नामकरण नहीं किया है किन्तु उनकी वर्णनशैली से ज्ञात होता है कि उनके मन में इस प्रकार का कोई विभाजन था। शंकर-निरूपित अध्यास को स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम उसका विभाजन कर लेते हैं। समस्त अध्यास को सर्वप्रथम "स्वरूपाध्यास" और "संसर्गाध्यास" इन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

अध्यास में दो वस्तुयें होती हैं- अधिष्ठान और अध्यस्त वस्तु। अधिष्ठान सत् वस्तु होती है और अध्यस्त वस्तु मनःकल्पित होती है। अध्यास के समय दोनों वस्तुओं में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध हो जाता है। दृष्टान्त में शुक्ति अधिष्ठान है और रजत उस पर अध्यस्त है। प्रथम सत् है और दूसरी कल्पित, मिथ्या। भ्रमकाल में शुक्तिरूप अधिष्ठान मिथ्या रजत से आच्छादित हो जाता है और भ्रम में पड़े व्यक्ति को केवल रजत दिखाई देता है। इसे "स्वरूपाध्यास" कह सकते हैं। रजत शुक्ति में स्वरूप से अध्यस्त होने के कारण यह स्वरूपाध्यास है।

भ्रमकाल में शुक्ति भले ही रजत के समान भासित हो किन्तु उसमें किसी प्रकार का विकार या परिवर्तन नहीं होता। भ्रम निवारण होने पर शुक्ति जैसी प्राप्त होती है वैसी ही भ्रम काल में भी रहती है। इस शुक्ति का रजत के साथ सम्बन्ध "संसर्गाध्यास" है।

हमारा अनर्थकारी अध्यास आत्मा और अनात्मा के तादात्म्य से है। भ्रमकाल में अनात्मा में ही आत्मा की प्रतीति स्वरूपाध्यास है और प्रत्येक आत्मा का बुद्धि आदि अनात्मा में संसर्गाध्यास है। शंकराचार्य इन दोनों प्रकार के अध्यास का निरूपण इस प्रकार करते हैं:

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अहंप्रत्ययविनम शेष स्वप्रचार साक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिषु अध्यस्यति।[17]

अर्थात् अहं प्रत्यय वाले अन्तःकरण का उस प्रत्यगात्मा पर अध्यास है जो अन्तःकरण की सम्पूर्ण वृत्तियों का साक्षी है और इसके विपरीत सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अन्तःकरण आदि में अध्यास है।

इसमें पहला स्वरूपाध्यास है और दूसरा संसर्गाध्यास। सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा पर अन्तःकरण का अध्यास होने से सत्स्वरूप आत्मा परिच्छिन्न हो जाता है, उसकी प्रतीति नहीं होती है। अध्यस्त अन्तःकरण ही हमें भ्रमकाल में उपलब्ध होता है। अन्तःकरण में ही अहं वृत्ति उत्पन्न होती है और उसके कारण ऐसा अनुभव होता है मानों यह अहं वृत्तियुक्त अन्तःकरण ही हम हैं। यह स्वरूपाध्यास है और इसका अनर्थ यह है कि हम अन्तःकरण, इंद्रियों शरीर आदि को ही अपना रूप मान लेते हैं।

इसी के साथ प्रत्यगात्मा का अध्यास अन्तःकरण आदि पर भी होता है। यह संसर्गाध्यास है। इसका परिणाम यह होता है कि यद्यपि आत्मा अहंकार आदि प्रपञ्च से अत्यन्त विलक्षण है किन्तु उसमें अनात्मा के धर्म अनुभव होते हैं। स्वरूपाध्यास से कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की मिथ्या प्रतीति होती है और संसर्गाध्यास से असंग आत्मा में भी सुख-दुःख का अनुभव होता है।

इसे अधिक स्पष्ट समझने के लिए जड-चेतन लक्षणों पर ध्यान देना चाहिए। प्रत्यगात्मा चेतन है और अन्तःकरण आदि अनात्मा अचेतन या जड है। दोनों का एक दूसरे से अध्यास होता है, बहुत कुछ तप्तलौहपिण्ड के समान। अग्नि और लोहा मिल कर एक से हो जाते हैं, दोनों की पृथक् सत्ता भासित नहीं होती है। लौह में लालिमा और ताप अग्नि के गुण आरोपित होते हैं और अग्नि में आकार, भार, कठोरता आदि लोहे के गुण आरोपित होते हैं। इसी प्रकार जड अन्तःकरण में आत्म-चैतन्य व्याप्त होकर अन्तःकरण में चेतनता और अहं की प्रतीत होती है और ऐसा अनुभव होता है कि अन्तःकरण स्वयं चेतन है और यही अपना स्वरूप (आत्मा) है। इसके विपरीत अन्तःकरण के सीमित, विकारवान्, नश्वरता आदि गुण असीम, निर्विकार, अविनाशी आत्मा पर अध्यस्त होकर उसमें तद्वत् अनुभव उत्पन्न करते हैं।

अध्यास का अन्य प्रकार से विचार करें तो उसे धर्मी और धर्म के वर्ग में बाँट सकते हैं। आत्मा और अनात्मा धर्मी है। उन दोनों का अन्योन्याध्यास धर्मी अध्यास है। इसी अध्यास के दो भेद स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दोनों धर्मियों के अपने-अपने पृथक् धर्म है। इन धर्मों का एक दूसरे पर जो अध्यास होता है वह धर्माध्यास है। इसका विस्तार करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं:

पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु व अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति; तथा देहधर्मान् स्थूलों ऽहं, कृशो ऽहं, गौरो ऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लंध्यामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान् मूकः काणः क्लीवः बधिरः अन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरणधर्मान् काम संकल्पविचिकित्साध्यवसायादीन्।

अर्थात् कोई पुत्र, स्त्री आदि के अपूर्ण और पूर्ण होने पर मैं ही अपूर्ण और पूर्ण हूँ, इस प्रकार बाह्य पदार्थों के धर्मों का अपने में अध्यास करता है। "मैं स्थूल हूँ", "मैं कृश हूँ" "मैं गौर हूँ", "मैं खड़ा हूँ", "मैं जाता हूँ", "मैं लाँघता हूँ", इस प्रकार देह के धर्मों। का अध्यास करता है और 'मैं मूक हूँ", "मैं काणा हूँ", "मैं नपुंसक हूँ", "मैं बधिर हूँ", "मैं अंधा हूँ", इस प्रकार इन्द्रियों के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

धर्मों का अध्यास करता है। इसी प्रकार काम, संकल्प, संशय, निश्चत आदि अन्तःकरण के धर्मों। का अपने में अध्यास करता है।

इस प्रकार धर्माध्यास को शंकराचार्य ने चार वर्गों में बाँटा है— (1) बाह्यधर्माध्यास, (2) देहधर्माध्यास, (3) इंद्रियधर्माध्यास और (4) अन्तःकरणधर्माध्यास। इन सब के उदाहरण आचार्य ने स्वयं दिये है। यह विभाजन अनात्मा को चार वर्गों में बाँट कर और प्रत्येक के धर्मों का आत्मा पर आरोप करने से निरूपित हुआ है। आत्मा एक है किन्तु अनात्मा अनेक अंशों में विभक्त है। अनात्मा के सभी अंश अध्ययन के लिए चार वर्गों में बाँटे गए हैं और उनके धर्मों का अध्यास आत्मा पर होता दिखाया गया है।

धर्मियों के अध्यास के फलस्वरूप उनके धर्मों का अध्यास होता है और धर्मों का अध्यास ही दुःख, पीड़ा, भय, चिन्ता, क्लेश, मृत्यु आदि अनर्थो का हेतु बनता है। अतः यदि हम इन अनर्थों से बचना चाहते हैं तो हमें धर्माध्यास त्यागना होगा। उसे त्यागने के लिए मूल में विद्यमान धर्मी अध्यास समाप्त करना होगा। यह अध्यास तभी तक विद्यमान है जब तक उसका विवेक नहीं है। आत्मा को आत्मा और अनात्मा को अनात्मा जान लेने से अध्यास मिट जाता है।

अध्यास की कुछ विशेषताएँ

अध्यास को ठीक-ठीक समझने के लिए शंकर ने उसकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है जिन पर ध्यान देना आवश्यक है।

अपमनादिरनन्तों नैसर्गिकोऽध्यासों मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व प्रवर्तकःसर्वलोक प्रत्यक्षः।

अर्थात् यह अध्यास अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्याज्ञानरूप और कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का प्रवर्तक सर्वलोक प्रत्यक्ष है।

(1) अध्यास अनादि अनन्त है— अध्यास अविद्या रूप होता है। अविद्या अनादि है। अज्ञान में पड़ा व्यक्ति अपने अज्ञान का प्रारम्भ खोजे तो उसे वह न मिलेगा। यदि आपको अपने कलम का मूल्य ज्ञात नहीं है तो आप यह भी नहीं बता सकते कि वह आपको कब से अज्ञात है। इसी प्रकार हम यह खोज़कर नहीं बता सकते कि हमें अपने आत्म स्वरूप का बोध कब से नहीं है। इससे अध्यास अनादि होना सिद्ध होता है।

अध्यास अनन्त भी है। इसका अर्थ यह नहीं कि यह कभी नष्ट नहीं होता। शंकराचार्य स्वयं कहते हैं कि ज्ञान से यह नष्ट हो जाता है। अतः अध्यास के अनन्त होने का अर्थ यही हो सकता है कि एक व्यक्ति का अध्यास नष्ट होने पर भी अन्य व्यक्तियों में यह देखा जाता है। सभी लोगों का अध्यास नष्ट नहीं होता। स्वामी गोविन्दानन्द रत्नप्रभा में लिखते हैं —"ज्ञानं विना ध्वंसाभावादानन्त्यम,"[18] अर्थात् ज्ञान के विना उसका ध्वंसाभाव नहीं होता है, अतः वह अनन्त है। शंकराचार्य[19] कहते हैं कि वह अनन्त है क्योंकि वह स्वप्न की वस्तु, मृगतृष्णा के जल और माया-रचित गन्धर्वनगर के समान होने से देखते-देखते नष्ट होने वाला है। इसी कारण उसकी अन्तिमावस्था या समाप्ति नहीं है। श्रीधरस्वामी इसकी अनन्तता का कारण इसकी परम्परा का अन्त न होना मानते हैं। नारायण स्वामी शंकराचार्य के मत की ही व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जिसकी सत्ता ही नहीं उसका आदि अन्त कैसे हो सकता है? मरीचिका में देखा हुआ जल कितना गाढ़ा है, उसका स्वाद कैसा है, कब यह जल उत्पन्न हुआ एवं कब इसकी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समाप्ति होगी, इस सम्बन्ध में जिस प्रकार हजारों विकल्प हो सकते हैं और सब विकल्प भ्रम मात्र ही है। उसी प्रकार अध्यास के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जाए वह भ्रममात्र ही होगा।

(2) अध्यास नैसर्गिक है– यह अध्यास का भ्रम न ईश्वर ने उत्पन्न किया है, न माया ने और न जीव ने। यह तो नैसर्गिक है। जैसे मरुस्थल में जल की प्रतीति उत्पन्न करने का दायित्व न बालू पर है, न सूर्य पर और न नेत्रों पर। प्रकृति के नियम ही ऐसे हैं कि सूर्य के प्रकाश में बालू जल के समान चमकती है और देखने वाले को वहाँ जल दिखाई देता है। इसमें देखने वाले की भी गलती नहीं है। चतुर व्यक्तियों को भी वहाँ जल दिखाई देगा। इसी प्रकार प्रकृति से लोकों और शरीरों का सर्जन होता है। आत्मा चैतन्य सर्वत्र व्याप्त होने से अन्तःकरण में विद्यमान रहता है। अन्तःकरण और चैतन्य से संयोग से अध्यास की उत्पत्ति हो जाती है। बुद्धि-वृत्तियों से ज्ञाता-ज्ञेय भेद उत्पन्न होता है और दोनों का अधिष्ठान रूप परमात्मा आच्छादित-सा हो जाता है। यह सब कुछ नैसर्गिक है।

(3) मिथ्याज्ञान रूप – अध्यास नैसर्गिक होने का यह अर्थ नहीं कि वह सत्य है। अध्यास स्वयं मिथ्याज्ञान रूप है, किन्तु उसमें स्थिर व्यक्ति को अनात्मा ही आत्मा भासित होता है और यह मिथ्याज्ञान ही सत् प्रतीत होता है। इस सत्यत्व बुद्धि के कारण अपने मिथ्याज्ञान के प्रति शंका नहीं होती है और व्यक्ति अपने राग-द्वेष से उत्पन्न अनेक समस्याओं में फँसा रहता है।

(4) कर्तृत्व-भोक्तृत्व का प्रवर्तक – अध्यास ही अविद्या है और अविद्या से अहंकार, विषयों की आसक्ति, कामना, कर्म, कर्त्तानुसार सुख-दुःख की प्राप्ति, उनका भोग, भोक्तृत्व, वासनायें, पुनर्जन्म का चक्र प्रवर्तित होता है। जब तक अध्यास रहता है जीव संसार-सागर में डूबा रहता है और जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है।

(5) सर्वजन प्रत्यक्ष – कर्त्ता-भोक्ता भाव सभी मनुष्यों को अनुभव हो रहा है। इससे सिद्ध है कि ये सब अध्यास में स्थित है और उसके कारण संसार दुःखों से पीड़ित है। इसके लिए किसी तर्क या शास्त्र प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जब व्यक्ति अपनी दीन-दशा से परितप्त होकर इससे बाहर निकलना चाहता है तो शास्त्र उसकी समस्या का निदान बताते हैं और उससे मुक्त होने के लिए मार्ग भी दिखाते हैं। समस्त उपनिषद्, गीता आदि ग्रन्थों का यही प्रयोजन है।

शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने भी अद्वैत-वेदान्त का प्रतिपादन करने में अध्यास की समस्या पर पर्याप्त विचार किया है। अध्यास के पूर्वकथित भेद- स्वरूपाध्यास, संसर्गाध्यास, धर्मि-अध्यास और धर्माध्यास-का उल्लेख मधूसूदन सरस्वती ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तबिन्दु में किया है।[20] विद्यारण्य स्वामी ने आत्मा और अनात्मा के अध्यास का विस्तृत विश्लेषण कर यह बताने का प्रयास किया है कि आत्मा पर मिथ्या अहं का आरोप कैसे हुआ है। उसे स्पष्ट करने के लिए वे शुक्ति पर रजत के अध्यास का दृष्टान्त प्रयोग में लाते हैं।

जैसे शुक्ति पर रजत का अध्यास हो, वैसे ही कूटस्थ (आत्मा) पर विक्षेप (चिदाभास) का अध्यास रहने से हमें चिदाभास ही सत्य प्रतीत होता है और उसी में हमारी अहं बुद्धि होती है। इसे विद्यारण्य स्वामी विक्षेपाध्यास नाम देते हैं।

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वयमुता चितिः।
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एव हि॥[21]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् दोनों देहों से युक्त चिदाभास शुक्ति में रूप्य के समान अविद्या से आवृत कूटस्थ में अध्यस्त होता है, उसी को "विक्षेपाध्यास" कहते हैं।

"यह रजत है" इस प्रकार के भ्रम में रजत की सत्यता और यहपन शुक्ति से प्राप्त होते हैं। शुक्ति की सत्यता से रजत सत्य प्रतीत होता है। शुक्ति की ओर संकेत कर हम कहते हैं कि यह रजत है। अतः रजत का यहपन शुक्ति से प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार विक्षेप में स्वयन्ता और वस्तुता कूटस्थ से प्राप्त होती है। विक्षेप में ये लक्षण न होते हुए भी भासते हैं।

शुक्ति में रजत का भ्रम होने पर रजत में शुक्ति का कालापन और तिकोन आकार नहीं भासित होता, वह ढका रहता है।[22] इसी प्रकार कूटस्थ की असंगता और आनन्द के लक्षण तिरोहित हो जाते हैं, वे विक्षेप में भासित नहीं होते हैं। जैसे शुक्ति में रजत की भ्रांति होकर रुपया कहलाती है वैसे ही कूटस्थ में विक्षेप की भ्रांति "अहं" कही जाती है। हम अपना जो अहं अनुभव करते हैं वह मिथ्या है और कूटस्थ आत्मा पर अध्यस्त होने के कारण सत्य प्रतीत होता है।[23] इस अहं से पृथक् आत्मा का असंग और आनन्द रूप न भासना ही मूल अविद्या नष्ट होने पर उस के कार्य भी नष्ट हो जाते हैं। उस ज्ञान की अवस्था में आत्मा और चिदाभास का अध्यास नहीं रहता है। इस अध्यास के निवृत्त होने पर इन्द्रियाँ, देह, पुत्र, चित्त आदि का अध्यास भी समाप्त हो जाता है।

"विचारसागर" के रचयिता श्री वासुदेव ब्रह्मेन्द्र सरस्वती अध्यास की पाँच सामग्रियाँ निर्धारित करते हैं, और अध्यास की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं– "भ्रमज्ञानविषयीभूतमिथ्यावस्तु तद्विषयक भ्रान्तिज्ञानं चाध्यास इत्युच्यते"[24] अर्थात् भ्रमज्ञान की विषयभूत मिथ्यावस्तु और उसके विषय में भ्रान्ति ज्ञान अध्यास कहलाता है। इस परिभाषा पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि ये आचार्य अध्यास के दो भेद करते हैं– अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास। भ्रान्तिज्ञान के विषयीभूत मिथ्या सर्प आदि "अर्थाध्यास" हैं और उस मिथ्या वस्तु विषयक भ्रान्तिज्ञान "ज्ञानाध्यास" है। इसमें ज्ञानाध्यास ही मिथ्या ज्ञान या भ्रान्ति है। अर्थाध्यास के ही दो भेद स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास है जिनका उल्लेख पहले हो चुका है।

वासुदेव ब्रह्मेन्द्र सरस्वती अध्यास की पाँच सामग्रियाँ या कारण कलाप बताते हैं— (1) सत्य वस्तु का अनुभव-जन्य संस्कार, (2) प्रमातृदोष, (3) प्रमाणदोष, (4) प्रमेयदोष और (5) अधिष्ठान विशेष का अज्ञान किन्तु उसका सामान्य ज्ञान। "विना त्वाभिरध्यास एवं न सिद्धयेत्" अर्थात् इनके विना अध्यास सिद्ध नहीं हो सकता है। शुक्ति में रजत का अध्यास होने पर ये पाँचों कारण विद्यमान होते हैं। पहले हमारी बुद्धि में सच्चे रजत का संस्कार होना चाहिए तभी शुक्ति में रजत की कल्पना हो सकती है अन्यथा नहीं। दूसरे, प्रमाता में रजत का लोभ होना चाहिए। यह प्रमातृदोष है। तीसरे, प्रमाण इन्द्रियाँ और प्रकाश है। इनके दोष से वस्तु का वास्तविक रूप ज्ञान नहीं होता। चौथा, प्रमेय दोष यह है कि शुक्ति का रजत से कुछ साम्य है। इसी कारण शुक्ति का स्पष्ट ज्ञान न हो किन्तु उसका सामान्य अवश्य हो। यदि शुक्ति बिल्कुल न दिखाई दे तो उस पर रजत का भ्रम और अध्यास न होगा।

सामान्य रूप से किसी अध्यास के यही पाँच अंग होते हैं, किन्तु अद्वैत-वेदान्त के पक्ष में यह आक्षेप किया जा सकता है कि आत्मा ही एक मात्र सद्वस्तु है, प्रमाता, प्रमाण प्रमेय आदि अनात्मा और असत् है। इसलिए सत् और असत् का अध्यास ही नहीं हो सकता। यह समस्या वही है जिस पर शंकर ने विचार किया है। वे कहते हैं कि यह असम्भव होते हुए भी अनुभव में देखा जाता है। अनुभव ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उसका प्रमाण है। विचारसागर के रचयिता युक्ति के द्वारा आत्मानात्म अध्यास का प्रतिपादन करते हैं। संक्षेप में उनके तर्क इस प्रकार हैं।

अध्यस्त नामरूप जगत् मिथ्या है, किन्तु उसके पूर्वज्ञान और संस्कार से अध्यास हो सकता है। शंकर जिसे "स्मृतिरूपा" कहते हैं उसे यहाँ "संस्कार" माना है। "ज्ञानजन्य संस्कार एवाध्यास हेतुः"[25] अर्थात् ज्ञान से उत्पन्न संस्कार ही अध्यास का हेतु है। पूर्व ज्ञेय वस्तु सत् हो या असत् हो ऐसा कुछ नियम नहीं है। यदि किसी जादूगर का आम्रवृक्ष देखने वाला उसके संस्कारवश वह मधूक वृक्ष को देखकर उसे आम्रवृक्ष का भ्रम हो सकता है। इसी प्रकार मिथ्या जगत् को अनादि काल से देखते आ रहे हैं। उसके संस्कार से ही ब्रह्म जगत्वत् भासित होता है।

यदि कहा जाये कि प्रथमबार यह अध्यास कैसे हुआ, तो उसका उत्तर यही है कि यह अनादि है इसलिए प्रथम बार का प्रश्न नहीं उठता है—

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥[26]

अर्थात् जीव, ईश्वर, ब्रह्म, जीवेश्वर का भेद, अविद्या और अविद्या तथा चैतन्य का सम्बन्ध अनादि है। "उत्पत्तिशून्यत्वं स्वरूपतोऽनादित्वम्"[27] अर्थात् उत्पत्ति शून्य होना ही अनादित्व है।

एक आक्षेप यह भी हो सकता है कि आत्मा और अनात्मा में सादृश्य नहीं है अतः अध्यास नहीं हो सकता। इसके उत्तर में कहते हैं कि सादृश्य होना सर्वत्र आवश्यक नहीं है। नेत्र दोष के कारण शंख पीतवर्ण दिखाई देता है, यद्यपि शंख और पीतवर्ण में कोई साम्य नहीं है। इसी प्रकार आत्मा-अनात्मा में सादृश्य न होने पर भी अविद्या के कारण अध्यास हो सकता है।

प्रमातृदोष भी सर्वत्र होना आवश्यक नहीं, जैसे लोभशून्य विरक्त व्यक्तियों को भी शुक्ति में रजत का अध्यास होता है। इसी प्रकार प्रमाण दोष भी सर्वत्र अनिवार्य नहीं है। नेत्र दोष न होने पर भी आकाश में तलमलिनता दिखाई देती है। यह भी आक्षेप हो सकता है कि स्वयं प्रकाश स्वरूप ब्रह्म में अज्ञान का होना सिद्ध नहीं होता। इसके उत्तर में कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म और अज्ञान में विरोध नहीं है। तर्क यह है— "यद्यात्मनः स्वरूपप्रकाशो ज्ञानविरोधी भवेत्तदा सुषुप्तौ स्वयं प्रकाशात्मनि नाज्ञानमुपलभ्येत"[28] अर्थात् यदि आत्मा के स्वरूप प्रकाश और अज्ञान में विरोध होता तो सुषुप्ति में स्वयं प्रकाश आत्मा में अज्ञान उपलब्ध न होता। ज्ञान स्वरूप आत्मा और अज्ञान में विरोधी नहीं वरन् आत्मा का चैतन्य अज्ञान को प्रकाशित करता है। "आत्मनः स्वरूप प्रकाशः सर्वाधिष्ठानत्वादज्ञानस्यापि सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन साधक एवं भवति"[29] अर्थात् आत्मा का स्वरूप प्रकाश सर्वाधिष्ठान रूप होने से अज्ञान की सत्ता को भी स्फुरण देकर उसका सहायक होता है। अतः अध्यास सम्भव है।

शांकर-वेदान्त में अध्यास का महत्व

शंकर ने अध्यास को माया के पर्यायवाचक शब्द के रूप में लिया है।[30] शांकरवेदान्त में माया का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह स्पष्ट है कि जगत् का नानात्व एवं अद्वैत की समस्या माया द्वारा ही सुलझाई गयी है। अद्वैत और नानात्व दो विरोधी संप्रत्यय हैं। शंकर निश्चय ही अद्वैत की स्थापना करना चाहते हैं किन्तु विश्व में नानात्व है। अद्वैत से नानात्व कैसे उत्पन्न होता है? इसकी व्याख्या करने के लिए शंकर ने माया की अवधारणा को स्वीकार किया। माया को शंकर अनिर्वचनीय[31] तथा मिथ्या मानते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसीलिए मायाकल्पित समस्त विश्व भी मिथ्या है।[32] इस नानात्वपूर्ण विश्व के माया द्वारा ब्रह्म पर अध्यारोपित होने से अद्वैत समाप्त नहीं होता।

इसके अतिरिक्त शंकर यह भी मानते हैं कि आत्मा विषयी है और शरीर विषय। ये दोनों एक दूसरे से विरोधी गुण वाले हैं। आत्मा अति सूक्ष्म एवं इन्द्रियानुभव से परे है। वह अजन्मा, अकर्त्ता, अभोक्ता एवं सब प्रकार के विकारों से परे है। किन्तु शरीर इन्द्रियानुभविक एवं स्थूल है। वह नाशवान्, एवं विकारों से पूर्ण है। यह सामान्य अनुभव का तथ्य है कि हम शरीर के गुण आत्मा पर और आत्मा के गुण शरीर पर अध्यारोपित करते हैं। यही नहीं हम अपने शरीर को आत्मा समझते हैं और आत्मा को शरीर समझ लेते हैं। प्रश्न है कि इस प्रकार का अनुभव किस प्रकार होता है? शुद्ध विषयी, विषय रूप में कैसे भासित होता है? शांकर-वेदान्त में इस प्रकार के अनुभव की व्याख्या अध्यास द्वारा ही की गयी है।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुये शरीर से उसकी एकता के अनुभव की व्याख्या अध्यास के अभाव में संभव नहीं है। शंकर एवं उनके अनुयायिओं ने, संभवतः, इस तथ्य को समझकर अध्यास को अपने दर्शन में स्थान दिया। इसीलिए अद्वैत-वेदान्त में अध्यास को मिथ्याज्ञानरूप, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का प्रवर्तक माना गया है।[33] यदि कोई यह कहे कि दो स्थूल वस्तुओं के गुणों को ही एक दूसरे पर अध्यारोपित किया जा सकता है, किन्तु आत्मा स्थूल वस्तु नहीं है, अतः उसके गुणों का शरीर पर या शरीर के गुणों का आत्मा पर अध्यारोपण नहीं हो सकता— इसके उत्तर में शंकर का कहना है कि यह कोई आवश्यक नियम नहीं है। आकाश अप्रत्यक्ष है। वह कोई स्थूल वस्तु भी नहीं है फिर भी बालक-बुद्धि के मनुष्य उस पर नीला रंग अध्यारोपित करते हैं।[34] यह अध्यास कब से है? और कब तक रहेगा? ऐसे प्रश्नों के उत्तर में शंकर का कहना है कि अध्यास अनादि है और वह तब तक रहता है जब तक ज्ञान नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के दृष्टिकोण से अध्यास अनादि है किन्तु अनन्त नहीं परन्तु सामूहिक रूप से अध्यास अनादि एवं अनन्त दोनों है। इस प्रकार हम देखते हैं, शांकर-वेदान्त में विश्व एवं व्यक्ति से सम्बन्धित जटिल समस्याओं को अध्यास द्वारा ही सुलझाया गया है।

संदर्भ-सूची

1. आत्म-बोध, शंकराचार्य, 62 (प्रतप्तायसपिण्डवत्).
2. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., अध्यास भाष्य, पृ. 2 (युष्मदस्मद् प्रत्ययगोचरयोर्विषय विषयिणोस्तम प्रकाश विरुद्धस्वभावयोः इतरेतर भावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्वमणिमपि सुतरामितरेतर भावानुपपत्तिः).
3. वही, पृ. 3, (पृ. 93/ 3अध्यस्येतरेतरा विवेकेनात्पन्तविविक्तयोधर्म धर्मिणोर्मिथ्या ज्ञाननिमित्तः)
4. वही, पृ. 11-12.
5. वही, पृ. 4.
6. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., प्रस्तावना, पृ. 3 (नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः).
7. वही, सत्यानन्दी-दीपिका, पृ. 6.
8. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., उपोद्घातः
9. Indian Psychology by J.N. Sinha, p. 287.
10. Ibid., p. 302.
11. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., उपोद्घातः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

12. वही.
13. अन्य परवर्ती आचार्यों ने विभिन्न ख्यातिवादी मतों की परीक्षा की है और अद्वैत में प्रतिपादित अनिर्वचनीयख्याति की स्थापना की है। उस पर इस ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में विचार किया गया है.
14. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., प्रस्तावना, पृ. 11.
15. भगवद्गीता, 15.12.
16. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., प्रस्तावना, पृ. 17.
17. वही.
18. रत्नप्रभा, पृ. 56.
19. शां.भा., भगवद्गीता, 15.3, पृ. 268.
20 सिद्धान्त-बिन्दु, पृ. 27.
21. पञ्चदशी, 6.33, पृ. 145.
22. वही, 6.34.
23. वही,6.35-36.
24. विचारसार, द्वितीयतरंग, पृ. 44.
25. संस्कृतविचारसागर, द्वितीयतरंग, पृ. 52.
26. वही, 55.
27. वही, 56.
28. वही, 60.
29. वही, 60.
30. तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्योति मन्यन्ते, ब्रह्मसूत्र, शां.भा., उपोद्धातः.
31. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 2.2.2.
32. वही, 1.2.13.
33. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., उपोद्धातः.
34. वही.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय - 5

प्रमाण-मीमांसा

शंकर पूर्व अद्वैत-वेदान्त में प्रमाण-मीमांसा

अद्वैत-वेदान्त में प्रमाण-मीमांसा पर विचार करने के पूर्व "प्रमाण" का तात्पर्य समझ लेना आवश्यक है। मूल शब्द "प्रमा" है जिससे "अप्रमा", "प्रमाण", "प्रमाता", "प्रमेय", "प्रामाण्य" आदि शब्द बनते हैं जिनका प्रयोग प्रमाण-मीमांसा के अन्तर्गत किया गया है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने "प्रमा" को परिभाषित करते हुये लिखा है, "अनधिगत और अबाधित" विषय का ज्ञान ही प्रमा है।[1] "अनधिगत" का तात्पर्य पूर्व ज्ञात न होना और अबाधित का अर्थ दूसरे प्रमाण से मिथ्या न सिद्ध होने वाला है। इस प्रकार "प्रमा" वह ज्ञान है जो यथार्थ हो, मिथ्या-ज्ञान न हो। ज्ञान की यथार्थता के विषय में अनेक मत हैं। एक मत के अनुसार जो ज्ञान अर्थवान् और सप्रयोजन है वही यथार्थ है, दूसरा मत सम्वादी प्रत्यय को यथार्थ ज्ञान मानता है, तीसरा मत कहता है कि जो वस्तु जहाँ हो वहाँ उसका अनुभव ही यथार्थ ज्ञान या प्रमा है और चौथा मत अबाधित ज्ञान को यथार्थ ज्ञान मानता है। अंतिम मत ही वेदान्त का मत है।

पुनः ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है— अनुभूति और स्मृति। वस्तु उपलब्ध होने पर जब उसका ज्ञान होता है तो उसे "अनुभूति" कहते हैं। यह अनुभूति जब किसी अन्य काल में पुनः बुद्धि में आती है तो वह ज्ञान स्मृति कहलाता है। स्मृति काल में वस्तु उपलब्ध होना आवश्यक नहीं है। सामान्यतः इस स्मृति ज्ञान को प्रमा नहीं माना जाता है। अनुभूत ज्ञान को ही प्रमा कहना चाहिए।

इस प्रकार प्रमा कराने वाले साधन को "प्रमाण" कहते हैं अर्थात् प्रमा का जो करण (साधन) है वह प्रमाण है।[2] प्रत्येक प्रमा में एक विशेष प्रकार का साधन अपेक्षित होता है। उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियाँ और बुद्धि ही प्रमाण होते हैं। "यह घट है" — इस प्रमा का साधन नेत्र है। इसलिए नेत्र घट का प्रमाण है। बुद्धि आदि भी ज्ञान के साधन हैं किन्तु इनकी आवश्यकता सभी प्रकार के ज्ञान में होती है, अतः ज्ञान का जो विशेष साधन है उसी को प्रमाण मानते हैं, अन्य साधारण साधनों को नहीं।

प्रमा से ही प्रमाता और प्रमेय दो पक्ष उत्पन्न होते हैं। जिन्हें क्रमशः ज्ञाता और ज्ञेय कहते हैं। जिसे ज्ञान होता है वह प्रमाता है और जिस वस्तु का ज्ञान होता है उसे प्रमेय कहते हैं। इस प्रकार प्रमाता को प्रमाण के द्वारा किसी प्रमेय का जब ज्ञान होता है तो वह प्रमा कहलाता है।

साधारण अनुभव से सिद्ध है कि प्रमाता चेतन-विशिष्ट होना चाहिए; जड वस्तु प्रमाता नहीं हो सकती है। उपनिषदों के अनुसार प्रमाता एक मात्र ब्रह्म है क्योंकि वही चेतन सत्ता या ज्ञानस्वरूप है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है।[3] वही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बुद्धि और समस्य इन्द्रियों में व्याप्त होकर नानात्व का प्रमाता होता है। इतना ही नहीं समस्त प्रमेय भी वह ब्रह्म रूप ही है। तात्पर्य यह कि निरपेक्ष चैतन्य सत्ता ही बुद्धि आदि से उपहित होकर प्रमाता और उसकी अपेक्षा से नानात्वपूर्ण विषय प्रमेय बनते हैं।

निरपेक्ष सत् से ही आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन पंच महाभूतों से ओषधि, अन्न और प्राणियों के शरीर निर्मित हुए यही सब प्रमेय हैं।[4] जब प्रमाता और प्रमेय ब्रह्म के ही दो पक्ष हैं तो प्रमा भी ब्रह्मरूप ही है। इस तथ्य का निरूपण समष्टि और व्यष्टि दो रूपों में हो सकता है। ब्रह्म अपनी समष्टि माया की उपाधि से ईश्वर नाम से प्रसिद्ध होता है और समस्त रूपात्मक सृष्टि प्रमाता बन कर सर्वज्ञ कहलाता है। जीव उसका व्यष्टि रूप है और वह अपनी सीमित उपाधियों से सीमित ज्ञान का अधिकारी होता है, अतः वह अल्पज्ञ है। किन्तु जीव अपने वास्तविक स्वरूप में निरूपाधिक चैतन्य ब्रह्म ही है। अपनी हृदय-गुहा में जो व्यक्ति आकाश के समान अनन्त चैतन्य सत्ता को जानता है वह ब्रह्म के साथ एक होकर सम्पूर्ण प्रमेयों का ज्ञाता बन कर सर्वज्ञ हो जाता है। जीव की अल्पज्ञता सीमित उपाधियों के कारण है। यदि वह उन उपाधियों का त्याग कर समष्टि उपाधि धारण कर ले तो ईश्वरत्व प्राप्त कर वह सर्वज्ञ हो सकता है।[5]

इसका तात्पर्य यह है कि प्रमाता, प्रमेय और प्रमा का भेद उपनिषद् के ऋषियों की दृष्टि में उपाधिजन्य और उपाधियाँ नामरूप मात्र हैं।[6] निरूपाधिक चैतन्य में ये कोई भेद सम्भव नहीं है।

प्रामाणिकता की दृष्टि से समस्त उपनिषद् दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं— मंत्रोपनिषद् और ब्राह्मणोपनिषद्। स्वामी चिन्मयानन्द के अनुसार "मन्त्रोपनिषद्" ऐसे धार्मिक ग्रन्थ हैं जिनका ज्ञान समाधिस्थ ऋषियों को ध्यानावस्था के क्षणों में दैवी प्रेरणा के द्वारा मंत्र रूप में हुआ। वह ज्ञान मानों किसी अज्ञात दूरस्थ स्थान से शुद्ध रूप में अवतरित हुआ। यही कारण है, मंत्र सदैव कविता के रूप में होते हैं और जिस ऋषि को उनकी प्रेरणा होती है वह उनका रचयिता होने का दावा नहीं करता क्योंकि इनकी रचना के लिए उनके मन या बुद्धि ने स्वयं कोई प्रयास नहीं किया। दीप्तमान् अनुभवों के क्षणों में वह ज्ञान उनके हृदय में तब प्रकट हुआ जब वे अपने मनोमय और विज्ञानमय कोषों की सीमा लाँघ चुके थे। हिन्दू दार्शनिक इस सहज ज्ञान में प्राप्त मंत्रों को विशेष मान्यता देता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस ज्ञान की विस्तृत व्याख्या की गयी है। इस दृष्टि से "ईशावास्य", "मुण्डक" आदि उपनिषद् मंत्रोपनिषद् हैं और "बृहदारण्यक", "प्रश्न" आदि उपनिषद् ब्राह्मण उपनिषद् हैं। इन दो प्रकार के उपनिषदों में जब कभी विपरीत विचार मिलते हैं तब मंत्रोपनिषद् में दिये हुए पाठ को ही अन्तिम रूप से मान्यता दी जाती है। प्रश्नोपनिषद् में "पिप्पलाद" ऋषि अपने शिष्यों के प्रश्नों का उत्तर देते हैं और उसके समर्थन में शब्द प्रमाण के रूप में श्लोक उद्धृत करते हुए कहते हैं— "तदेतौ श्लोकौ भवतः" और इसके उपरान्त श्लोक बोलते हैं।[7]

कुछ आचार्यों ने शब्द प्रमाण के दो भेद माने हैं— लौकिक और अलौकिक। उस दृष्टि से मंत्रोपनिषद् अलौकिक शब्द प्रमाण माने जा सकते हैं और ब्राह्मण उपनिषद् लौकिक शब्द प्रमाण। यह विभाजन केवल शब्द की उत्पत्ति का स्थान देखकर किया गया है, प्रामाण्य विषय को ध्यान में रख कर नहीं। ऋषियों ने जब मन-बुद्धि के परे पहुँच कर जिस ज्ञान को प्राप्त किया वह मंत्र या अलौकिक शब्द प्रमाण कहा जा सकता है। मन-बुद्धि के स्तर पर अनुभव किया गया और समझा गया परम तत्त्व-विषयक ज्ञान ब्राह्मण या लौकिक शब्द प्रमाण है। किन्तु ये दोनों ही प्रकार के शब्द प्रमाण परमार्थ-विषयक होने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के कारण और संशयरहित होने से अलौकिक शब्द प्रमाण ही सर्वत्र सामान्यरूप से माने जाते हैं। लौकिक शब्द प्रमाण वही होता है जो देहाभिमानी व्यक्ति इसी लोक के सम्बन्ध में कोई घटना या वस्तु का उल्लेख करते हुए बोलता है। उदाहरण के रूप में डॉ. दास का मरीज अपने अनुभव से कहता है कि "डॉ. दास हृदय-रोग का कुशल डॉक्टर है।"

परमात्मा का ज्ञान कराने में मंत्र और ब्राह्मण दोनों ही उपनिषद् सहायक हैं। इनके द्वारा परम तत्त्व उसी दशा में प्रकाशित होता है जब अन्तःकरण शुद्ध होता है। ज्ञान होने पर शब्दों की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है। उसके उपरान्त शब्दों का अनुध्यान करना व्यर्थ है—

"नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हितत्" अर्थात् बहुत शब्दों का निरन्तर चिन्तन न करे, वह तो वाणी का श्रम ही है।[8] वह अपने में स्वतः नानात्व अनुभव नहीं करता है।[9] वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है। समस्त त्रैतयुक्त ज्ञान में वह विद्यमान है,[10] और अनन्यत्व के बोध में वह स्वयं प्रकाश होकर उपस्थित है।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष आदि विविध प्रमाण जीव के हेतु ही हैं। परम सत् अप्रमेय है। यद्यपि उपनिषदों में इसका उल्लेख नहीं मिलता कि प्रमाण कितने हो सकते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि विविध प्रमाणों का प्रयोग अवश्य मिलता है।

उपनिषद् स्वतः शब्द प्रमाण हैं। ऋषियों ने अपनी आन्तरिक अनुभूति का जो वर्णन किया है वह प्रमाण ही है। उनकी अनुभूति प्रत्यक्ष आदि पर आधारित नहीं है। उसका वे निषेध करते हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के ब्रह्मवेत्ताओं ने प्रमाणान्तर से ज्ञात न होने वाले उस परम तत्त्व के विषय में अन्य किसी उपाय की गति न देखकर ध्यानयोग के अनुशीलन द्वारा उस परम मूल कारण को स्वयं ही अनुभव से जान लिया।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निरिवलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥[11]

"उन्होंने (ऋषियों ने) ध्यानयोग का अनुवर्णन कर अपने गुणों से आच्छादित परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया। वह परमात्मा अकेले ही काल से लेकर आत्मापर्यन्त समस्त कारणों का अधिष्ठान है।"

इस उपनिषद् में श्रुति उस ध्यान विधि का भी उल्लेख करती है जिसके द्वारा अधिकारी व्यक्ति ब्रह्मवेत्ता ऋषियों की भाँति परम तत्त्व के दर्शन अपने हृदय में कर सकते हैं।[12] उसका दर्शन शुद्ध बुद्धि के द्वारा ही होता है। नेत्रों से तो उसे देखा ही नहीं जा सकता, क्योंकि उस तत्त्व का अपना कोई रूप नहीं है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन—
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥[13]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"इसका स्वरूप नेत्रादि से ग्रहण करने योग्य स्थान में नहीं है, उसे कोई भी नेत्र द्वारा नहीं देख सकता। जो इस हृदयस्थित परमात्मा को शुद्ध बुद्धि यानी मन से इस प्रकार जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।"

यहाँ नेत्र समस्त इन्द्रियों को उपलक्षित करता है। अतः तात्पर्य यह हुआ कि वह किसी भी इन्द्रिय द्वारा विषयरूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता। अन्य उपनिषदों में भी इस मत की पुनरावृत्ति की गयी है, जैसे "यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति"[14] जिसे कोई नेत्र द्वारा नहीं देख सकता अपितु जिसकी सत्ता से नेत्र देखता है।

उपर्युक्त उद्धरण से यह भी ज्ञात होता है कि उपनिषद् के ऋषि प्रत्यक्ष प्रमाण को अवश्य मानते हैं किन्तु उसका विषय रूपवान् होना चाहिए। शब्द, स्पर्श आदि का भी अपना रूप है जो क्रमशः कर्ण, त्वक् आदि के द्वारा ग्राह्य है। परमतत्त्व रूपाकारहीन है, अतः वह इन्द्रियगोचर नहीं है। जगत् के नामरूपात्मक विषय ही इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं। व्यावहारिक जगत् की परिसीमा में प्रत्यक्ष प्रमाण उपयोगी है।

कठोपनिषद् के ऋषि का तर्क है कि परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर मानों उन्हें नष्ट कर दिया है। इसी से जीव इन्द्रियों के द्वारा बाह्य-विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं।[15] वह आत्मा न तो वाणी से, न मन से और न नेत्र से ही प्राप्त होता है।[16]

अनुमान प्रमाण से भी उपनिषद् के ऋषि परिचित हैं। वे इसका प्रयोग भी करते हैं किन्तु परम तत्त्व के प्रतिपादन में उसे असमर्थ मानते हैं— "नैषा तर्केण मतिरापनेया"[17] अर्थात् तर्क के द्वारा बुद्धि उसे नहीं प्राप्त कर सकती है। छान्दोग्य उपनिषद् में आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को शिक्षा देते हुए अनुमान प्रमाण का प्रयोग करता है। रात में जो नमक जल में डाला था, वह जल में ही घुल गया। अब उसे नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। अनुमान से ज्ञात है कि नमक जल में घुला हुआ विद्यमान है। जिह्वा की स्वाद इन्द्रिय से उसे चख कर प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है। जो नेत्र के लिए अनुमान का विषय है वह जिह्वा के लिए प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार "सत्सोम्य न निभात्मसेऽत्रैव किलेति" अर्थात् वह सत् भी निश्चय ही वहीं विद्यमान् है, तू उसे देखता नहीं है, परन्तु वह विद्यमान अवश्य है।[18] तात्पर्य यह है कि जैसे जल में घुला नमक प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी अनुमान का विषय हो सकता है, वैसे ही परम सत् प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय न होने पर भी अन्य प्रकार से जाना जाता है।

आरुणि के उपर्युक्त विवेचन में उपमान प्रमाण का भी दृष्टान्त मिल जाता है। अन्यत्र वे शकुनि पक्षी का उपमान के रूप में प्रयोग करते हैं। "जिस प्रकार डोरी में बँधा हुआ पक्षी दिशा-विदिशाओं में उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलने पर अपने बंधन-स्थान का ही आश्रय लेता है। इसी प्रकार निश्चय ही यह मन दिशा-विदिशाओं से उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलने पर प्राण का ही आश्रय लेता है, क्योंकि मन प्राण रूप बंधन वाला है।[19] घट और मृत्तिका का प्रसिद्ध दृष्टान्त भी उपमान प्रमाण का ही द्योतक है। "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञानं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ऐवं सोम्य स आदेशो भवति"[20] अर्थात् जिस प्रकार मृत्तिका के पिण्ड द्वारा सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र है, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है, हे सोम्य, ऐसा ही वह आदेश भी है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शंकराचार्य ज्ञान को कर्म से स्वरूपतः पृथक् लक्षण का बताते हैं और उसे (ज्ञान को) वस्तु-तंत्र कहते हैं। इसके विपरीत कर्म पुरुष-तंत्र है। ज्ञान किसी भी प्रमाण से होने वाला किसी भी लौकिक-अलौकिक वस्तु का हो वह सदा वस्तु-तंत्र होगा। "वस्तुतन्त्रमेव तत्"[21] अर्थात् वह (ज्ञान) वस्तु के अधीन है। तात्पर्य यह है कि वस्तु के अनुकूल ज्ञान होने पर ही वस्तु का ज्ञान कहलायेगा। यदि वस्तु विद्यमान हो और उसे प्रकाशित करने वाला प्रमाण भी हो तो ज्ञान अवश्य होगा। आँखें बन्द करना, अन्यत्र देखने लगना अथवा ज्ञान होने में कोई अन्य बाधा डालना ज्ञान के साधनों में विकल्प उत्पन्न करना है, उसका वस्तु के ज्ञान से सम्बन्ध नहीं है।

कर्म से ज्ञान की तुलना कर शंकर ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है। कर्म करने, न करने अथवा अन्यथा करने में पुरुष स्वतंत्र है।[22] उदाहरणार्थ मनुष्य इस बात में स्वतंत्र है कि वह अश्व से जाए, पैदल जाए अथवा अन्य प्रकार से जाए, अथवा वह न जाए। इसलिए कर्म में ही विधि, प्रतिषेध, विकल्प, उत्सर्ग तथा अपवाद कहे जाते हैं। किन्तु सिद्ध वस्तु इस प्रकार है, अथवा इस प्रकार नहीं है, अथवा वस्तु बिल्कुल नहीं है, ऐसे विकल्प नहीं किए जा सकते। यदि कोई विकल्प होता है तो वह पुरुष बुद्धि की अपेक्षा से होता है, किन्तु सिद्ध वस्तु का यथार्थ ज्ञान पुरुष बुद्धि की अपेक्षा नहीं करता है। वह तो सिद्ध वस्तु के अधीन है।

इसी आधार पर प्रमा और अप्रमा भी निर्धारित किए जा सकते हैं। एक स्थाणु में स्थाणु है, पुरुष है अथवा अन्य है, ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है। उसमें पुरुष है अथवा अन्य कुछ है, यह मिथ्याज्ञान (अप्रमा) है। "स्थाणु ही है" यह यथार्थ ज्ञान (प्रमा) है, क्योंकि यह ज्ञान वस्तु के अधीन है। इसी प्रकार सिद्ध वस्तु विषयक ज्ञानों का प्रामाण्य वस्तु के अधीन है।[23]

लौकिक वस्तुओं का ज्ञान ही वस्तु-तंत्र नहीं है, वरन् ब्रह्मज्ञान भी वस्तु के अधीन है। यहाँ ब्रह्म ही वह वस्तु है जिसका ज्ञान होता है। यदि यह शंका हो कि सिद्ध वस्तु होने से ब्रह्म अन्य प्रमाण विषय होने के कारण वेदान्त वाक्यों का विचार निष्फल होगा तो इस के उत्तर में शंकर कहते हैं कि ऐसा मानना युक्त नहीं है। ब्रह्म इन्द्रियों का विषय नहीं है, अतः अन्य प्रमाणों से उसका जगत् रूप कार्य के साथ सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता।[24]

ज्ञान वस्तु-तन्त्र मानने से ज्ञान और स्मृति का भेद स्पष्ट हो जाता है। शंकर स्मृति को ज्ञान नहीं मानते हैं। वस्तु के उपलब्ध होने पर ज्ञान होता है, किन्तु स्मृति में वस्तु उपलब्ध नहीं होती है। जैसे, मैं अपने पुत्र का स्मरण करता हूँ, उसे उपलब्ध नहीं करता, उपलब्ध करना चाहता हूँ; इस प्रकार स्मृति और उपलब्धि में विप्रयोग और संप्रयोगात्मक प्रत्यक्ष रूप से अर्थ का भेद स्वयं अनुभव होता है।[25] स्मृति में पहले से जानी हुई वस्तु ही कल्पना रूप में आती है, वस्तु यथार्थ में ज्ञान का विषय नहीं बनती है।

शंकर ज्ञान को दो वर्गों में विभाजित करते हैं— लौकिक और पारमार्थिक। लौकिक ज्ञान में वेद्य, वेदिता और वेदना का भेद रहता है। इस प्रकार के ज्ञान में ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय दोनों से भिन्न होता है।[26] इसी आधार पर शंकर बुद्धि की विषयाकार वृत्तियों से उनके साक्षी को पृथक् मानते हैं। वृत्तियाँ नानारूप हैं और उनका साक्षी सदा एक रूप है, यह अनुभव सिद्ध है। "विज्ञान में उत्पत्ति, नाश और अनेकत्व आदि विशेष स्वीकार किये जाते हैं, अतः प्रदीप के समान विज्ञान भी अन्य से अवगम्य है, ऐसा हमने सिद्ध किया है।"[27] बाह्य वस्तुओं से बुद्धि-वृत्तियों तक समस्त ज्ञान ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में विभक्त है। यह लौकिक ज्ञान है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पारमार्थिक ज्ञान सम्यक् ज्ञान है, जिसमें यह भेद नहीं रहता। "ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वदर्शनम्"[28] अर्थात् परमार्थ दर्शन ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के भेद से रहित है। इसीलिए श्रुतियाँ कहती हैं कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। उसमें अनेकत्व का बोध नहीं होता।

शंकर ज्ञान के साधन (प्रमाण) तीन या छः मानते हैं— इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद हैं। डॉ. राधाकृष्णन लिखते हैं— "शंकर ज्ञान के तीन स्रोतों का उल्लेख करते हैः प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र प्रमाण। उनके परवर्ती लेखकों ने उनमें तीन और जोड़ेः उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।"[29] किन्तु हम देखते हैं कि शंकर स्वयं छः प्रमाण गिनाते हैं और कहते हैं कि न केवल कर्म द्वारा और न कर्म-ज्ञान समुच्चय द्वारा ही मुक्ति सम्भव है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है। "न प्रमाणाभावात्। तत्र हि कर्मण उक्तविषय व्यतिरेकेण विषयान्तरे सामर्थ्यास्तित्वे प्रमाणं न प्रत्यक्षं नानुमानं नोपमानं नार्थापत्तिर्न शब्दोस्ति"[30] अर्थात् इसमें कोई प्रमाण नहीं है, यहाँ कर्म से उक्त विषयों से भिन्न किसी अन्य विषय में सामर्थ्य होने का न प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है, न उपमान है, न अर्थापत्ति है और न शब्द प्रमाण है। यहाँ केवल "अनुपलब्धि" का उल्लेख नहीं आया है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकर ने उस पर विचार किया है।[31] डॉ. दासगुप्ता भी स्वीकार करते हैं कि वेदान्त कुमारिल की भाँति स्वतः प्रामाण्यवाद मानता है।[32]

शकर ने इन सब प्रमाणों को अविद्या-काल में ही उपयोगी या प्रामाण्य माना है। कोई ज्ञान तभी तक सत् माना जाताहै जब तक उस का बाध नहीं होता। अतः संसार की प्रतीति अभी सत् होते हुए और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध नहीं होते हुए भी उस समय मिथ्या हो जाती है जब ब्रह्म-ज्ञान सेउस का बोध हो जाता है। तत्त्व-ज्ञान की अवस्था में नानात्व शेष नहीं रहता। इसलिए जगत्-ज्ञान व्यावहारिक सत् होते हुए भी परमार्थतः सत् नहीं है। परमार्थ सत् ही निरपेक्ष सत् है।

शंकर स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि अविद्या वाला प्रमाता ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का आश्रय लेता है, इंद्रियादि रहित आत्मा का न प्रमातृत्व उत्पन्न होता है और न उसमें प्रमाण की प्रवृत्ति ही सम्भव है। इन्द्रियों का प्रयोग किये विना प्रत्यक्ष आदि व्यवहार सम्भव नहीं होते और अधिष्ठान के विना इंद्रियों का व्यवहार सम्भव नहीं होता। अनध्यस्त आत्मभाव वाले शरीर से कोई व्यापार नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि असंग आत्मा में प्रमातृत्व उत्पन्न नहीं होता, प्रमाता के विना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र अविद्वानों का ही आश्रय करते हैं।[33]

शंकर के इस कथन से पाठक के मन में यह विचार आ सकता है कि यदि सब प्रमाण अविद्या-कल्पित ही हैं तो उनके द्वारा तत्त्व की खोज करना व्यर्थ है। अविद्या कल्पित प्रमाणों का प्रयोग करने वाला अविद्या में ही भ्रमण करता रहेगा, उससे बाहर निकल कर सत् के दर्शन न कर सकेगा। किन्तु भाष्य में आगे चलकर शंकर का प्रमाण विषयक दृष्टिकोण आशाजनक दिखाई देता है। वे कहते हैं कि कर्म में जैसे शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है वैसे तत्त्वज्ञान में नहीं है। उसमें अन्य प्रमाण भी उपयोगी हैं। "जगत् के जन्म आदि के कारण का प्रतिपादन करने वाले वेदान्त-वाक्यों के विद्यमान होने पर उनके अर्थ-ग्रहण की दृढ़ता के लिए वेदान्त-वाक्यों का अविरोधी अनुमान भी यदि प्रमाण हो तो उसका निवारण नहीं किया जाता, क्योंकि श्रुति ने ही सहायक रूप से तर्क अनुमान स्वीकार किया है।"[34] शंकर इस प्रकार के श्रुति उद्धरण भी देते हैं जहाँ श्रुति अपने प्रति पुरुष बुद्धि को सहायक दिखलाती है। "धर्मजिज्ञासा के समान ब्रह्मजिज्ञासा में केवल श्रुति आदि ही प्रमाण नहीं हैं किन्तु श्रुति आदि तथा अनुभव आदि यथासंभव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उसमें प्रमाण हैं।"[35] यदि कोई कहे कि मन-बुद्धि आदि कारणों से आत्मा अगोचर है, इस कारण उसका ज्ञान नहीं हो सकता, तो शंकर यह कथन ठीक नहीं मानते हैं, क्योंकि शास्त्र और आचार्य के उपदेश द्वारा एवं शम, दम आदि साधनों द्वारा शुद्ध किया हुआ मन आत्मदर्शन के करण या साधन है। इस प्रकार उस ज्ञान-प्राप्ति के विषय में अनुमान और आगम प्रमाणों के रहते हुए भी यह कहना कि ज्ञान नहीं होता साहस मात्र है।[36] शंकर के इस कथन से भी अनुमान आदि प्रमाणों में उनकी आस्था सिद्ध होती है। आगे चलकर अद्वैत वेदान्त में स्पष्ट रूप से छः प्रमाणों को स्वीकार किया गया— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण।[37] अब यहाँ हम संक्षेप में इन प्रमाणों का अलग-अलग विवेचन करेंगे।

प्रत्यक्ष प्रमाण

शंकर ने प्रत्यक्ष प्रमाण आदि प्रमाणों का विवेचन पृथक् रूप से और व्यवस्थित ढंग से नहीं किया है, इसलिए इन प्रमाणों के विषय में शंकर की धारणा समझने के लिए उनकी समस्त रचनाओं का अवलोकन कर समस्त बिखरे विचारों को एक स्थान में संगृहीत करना पड़ता है। वे इंद्रिय और उनके विषयों के सम्पर्क को प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में इन्द्रियों का पर्यायवाची शब्द "मात्रा" प्रयोग किया गया है।[38] उसका अर्थ बताते हुए शंकर कहते हैं— "मात्रा वे हैं जिनसे शब्दादि विषय जाने जाते हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ। इन्द्रियाँ और शब्दादि के संयोग से शीतोष्ण आदि का ज्ञान होता है।"[39]

इन्द्रिय होने मात्र से कोई ज्ञान नहीं हो जाता है। "प्रत्येक ज्ञान में स्तम्भ, कुड्य (दीवार), घट, पट इस प्रकार बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है।[40] उसके अभाव में प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसी प्रसंग में शंकर विज्ञानवादियों के इस मत का भी खण्डन करते हैं कि प्रत्यक्ष व्यक्ति की अपनी मानसिक क्रिया मात्र है और अनुभव में आने वाले विषय बाहर नहीं होते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि शंकर प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय के ज्ञाता से भिन्न स्वतंत्ररूप से विद्यमान मानते हैं। प्रत्यक्ष के साथ ही यह बोध होता है कि घट आदि बाहर विद्यमान हैं। अतः डी. एम. दत्त शंकर और उनके बहुत से अनुयायियों को ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से वस्तुवादी मानते हैं। यह विचार उन्हें अपने विरोधी बौद्धों से पृथक् कर देता है।[41]

इन्द्रियों के विषय केवल रूप-रंग वाले ही नहीं हैं, वरन् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध भी है। इसलिए सब प्रकार के विषयों का ज्ञान पाँच ज्ञानेन्द्रियों से होता हैं। ज्ञानेन्द्रियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य है।[42] किन्तु केवल इन्द्रियों से ही विषय का ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियों के साथ मन भी होना चाहिए, तभी इंद्रियाँ विषय-ग्रहण कर सकती हैं— "इन्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनों विज्ञानं"— इन्द्रिय और मन के द्वारा ही वस्तु का विज्ञान होता है।[43]

शंकर मन का श्रुति और स्मृति प्रमाण के आधार पर श्रोत्रादि के समान इन्द्रियरूप में स्वीकार करते हैं। जैसे इन्द्रियाँ बाह्य करण है, वैसे ही मन अन्तःकरण है। इन दोनों के एक साथ होने पर वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। अन्तःकरण भिन्न-भिन्न स्थलों पर मन, बुद्धि, विज्ञान, चित्त आदि नामों से जाना जाता है।

शंकर अन्तःकरण के कार्य बता कर उसकी अनिवार्यता तर्क द्वारा सिद्धि करते हैं। वे कहते हैं— "अन्तःकरण अवश्य है, यह स्वीकार करना चाहिए। उसके स्वीकार न किये जाने पर नित्योपलब्धि अथवा नित्यानुपलब्धि का प्रसंग होगा। उपलब्धि के साधनभूत आत्मा, इन्द्रिय और विषय के सन्निधान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होने पर नित्य ही उपलब्धि प्रसक्त होगी। इसके विपरीत ज्ञान के इन सब साधनों के उपलब्ध होने पर भी यदि किसी वस्तु का बोध नहीं होता है तो उसकी नित्य अनुपलब्धि होगी।" अनुभव में हम देखते हैं कि चेतना, कान और ध्वनि निरन्तर उपलब्ध होने पर भी हम उसे बराबर नहीं सुनते रहते हैं। जब मन किसी ध्वनि की ओर ध्यान देता है तभी उसे कान ग्रहण करते हैं। ध्वनि होते हुए भी यदि हम उसे ग्रहण नहीं करते, तो आत्मा या इन्द्रिय की शक्ति प्रतिबंधित हो जाती है, ऐसा मानना होगा। शंकर कहते हैं— "आत्मा की शक्ति का प्रतिबन्ध तो सम्पन्न नहीं है, क्योंकि वह अविक्रिय है। इन्द्रिय की शक्ति का भी स्वयं प्रतिबंध सम्भव नहीं है क्योंकि पूर्व और उत्तर क्षण में विद्यमान उसका अकस्मात् प्रतिबद्ध होना सम्भव नहीं है। अतः जिसके अवधान या अनवधान से विषय की उपलब्धि या अनुपलब्धि होती है, वह मन है।[44] इसीलिए श्रुतियाँ कहती हैं कि मन से ही देखता है, मन से ही सुनना है।[45]

इस प्रकार प्रत्यक्ष में, शंकर अन्तःकरण की भूमिका आवश्यक मानते हैं। मन इन्द्रिय के द्वारा विषय ग्रहण कर विषयाकार वृत्ति धारण करता है। शंकर इसे "मनःप्रचार" कहते हैं।[46] अतः प्रत्यक्ष ज्ञान "वृत्तिजन्य" ज्ञान है। शंकर के शब्दों में "इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेषु प्रवर्तमानानां मनः अनुप्रवर्तते" अर्थात् इन्द्रियों के अपने-अपने विषय में प्रवर्तित होने पर मन उनका अनुवर्तन करता है।[47]

इन्द्रियाँ पाँच हैं, किन्तु मन एक ही है, इसलिए शंकर मन को "सर्वकरण साधारण" कहते हैं।[48] सभी इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले विषयों को ग्रहण कर तद्रूप धारण करने की सामर्थ्य मन में है। मन में जिस विषय की वृत्ति निर्मित होती है वह आत्मचैतन्य से प्रकाशित होकर उस विषय का बोध कराती है।

शंकर ने इस बात का निर्णय नहीं किया है कि विषयावृत्ति हमारे अन्दर रहने पर ही मन उसे धारण करता है, अथवा मन इन्द्रिय-द्वार से निकलकर विषय तक जाता है और वहीं उस वस्तु से सन्निकर्ष पाकर उस वस्तु का रूप धारण करता है। किन्तु इतना निश्चय है कि प्रत्यक्ष में मन विषयाकार वृत्ति धारण करता है और उसके विना प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है।

प्रत्यक्ष प्रमाण की अपनी सीमा है। इसके द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता। शंकर के अनुसार, "इन्द्रियाँ स्वभाव से विषय विषयक हैं, ब्रह्म विषयक नहीं। यदि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय होता तो यह जगद्रूप कार्य ब्रह्म के साथ सम्बद्ध है, ऐसा गृहीत होता। किन्तु हम देखते हैं कि जगत् रूप कार्य ही इन्द्रियों से गृहीत होता है।"[49]

यदि प्रत्यक्ष के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता तो इसमें प्रत्यक्ष का दोष नहीं है, क्योंकि शंकर के शब्दों में, "स्वविषयशूराणि हि प्रमाणानि, श्रोत्रादिवत्"[50] अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियों के समान सब प्रमाण अपने-अपने विषय में प्रबल होते हैं। ब्रह्म के विषय में प्रत्यक्ष नहीं, वरन् शास्त्र ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष के विषय में शास्त्र भी प्रमाण नहीं माना जा सकता।" अग्नि शीतल होती है, अथवा सूर्य नहीं तपता— यह बात सैकड़ों दृष्टान्तों से भी प्रतिपादित नहीं हो सकती। एक प्रमाण का दूसरे प्रमाण से विरोध नहीं होता। जो वस्तु एक प्रमाण से नहीं जानी जाती उसी को दूसरा प्रमाण बतलाता है।"[51] अन्यत्र शंकर पुनः कहते हैं, "अग्नि ठण्डी है या अप्रकाशक है" ऐसा कहने वाली सैकड़ों श्रुतियाँ भी प्रमाण रूप नहीं मानी जा सकती हैं।"[52]

यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण से नानात्व का ज्ञान होता है और शास्त्र प्रमाण से अद्वैत का, किन्तु दोनों प्रमाणों में विरोध नहीं है। विरोध मानने वालों से शंकर-पूछते हैं— "क्या शब्दादि के भेद से आकाश

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की एकता में भी विरोध है? यदि उसका विरोध नहीं है तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ब्रह्मैकत्व प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का विरोध नहीं हो सकता।"[53]

शंकर ने यद्यपि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रयोग किया और उनके विषय में उनकी एक निश्चित धारणा थी, किन्तु उन्होंने प्रमाणों पर स्वतंत्र रूप से न विचार किया और न उनकी गहन मीमांसा करना आवश्यक समझा। उनके अनुयायियों, जिनकी दो धारायें हो गयीं— विवरण प्रस्थान और भामती-प्रस्थान, ने इनका कुछ गहन विवेचन किया और धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त-परिभाषा ग्रन्थ लिखकर अद्वैत-वेदान्त की प्रमाण-मीमांसा को समन्वित रूप प्रदान कर दिया। अतः इन विद्वानों द्वारा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों पर प्रस्तुत किये गये विचारों का यहाँ उल्लेख करना नितान्त अपेक्षित है।

प्रत्यक्ष प्रमाण में चैतन्य, करण और विषय तीन पक्ष निहित होते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान होने में इनमें किसकी प्रधानता है और इन सब का कितना योगदान है— इन प्रश्नों पर विचार करते हुए विवरण-प्रस्थान और भामती-प्रस्थान में भेद हो गया। विवरण-प्रस्थान की धारा विषय को प्रधानता देती है और भामती-प्रस्थान की धारा करण को। दोनों धाराओं के इस मतभेद का उल्लेख वेदान्त परिभाषाकार ने इस प्रकार किया है— "प्रत्यक्ष ज्ञान की विशेषता करण के कारण नहीं है किन्तु वह प्रमेय से विशेषित होती है— ऐसा एक मत में प्रतिपादित किया गया है। दूसरे मत का यह आशय है कि कारण से विशेषित होकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह विषय से विशेषित नहीं होता है।"[54]

पद्मपादाचार्य अपने ग्रन्थ पञ्चपादिका में प्रत्यक्ष में विषय की प्रधानता इस प्रकार बतलाते हैं— "अन्तरपरोक्षानुभवात् न विषयस्था परोक्षता भिद्यते"[55] अर्थात् अन्तःस्थित अपरोक्ष अनुभव से विषय की अपरोक्षता भिन्न नहीं है। यहाँ अपरोक्ष का अर्थ प्रत्यक्ष है। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित विषय प्रत्यक्ष होता है। इसी को विषय का प्रत्यक्ष होना कहते हैं। प्रत्यक्ष की इस प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट करते हुए पद्मपाद कहते हैं— "अन्तरपरोक्षानुभवावगुण्ठित एव जागरणेऽप्यर्थोऽनुभूयते। अन्यथा जडस्य प्रकाशानुपपत्तेः। यथाऽवगुण्ठितो घटः प्रदीपप्रभावगुण्ठनमन्तरेण न प्रकाशो भवति।"[56] अर्थात् अन्तःस्थित अपरोक्ष से अवगुण्ठित होकर ही जाग्रत्-अवस्था में विषय अनुभूत होता है, अन्यथा जड वस्तु का प्रकाशित होना सिद्ध न होगा। प्रत्यक्ष घट दीपक के प्रकाश से अवगुण्ठित हुए विना प्रकाशित नहीं होता। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण में विषय उपलब्ध होने पर वह प्रत्यक्ष होता है, विषय उपलब्ध न होने पर उसका प्रत्यक्ष न होगा। अतः प्रत्यक्षत्व विषयगत है।

विषय अन्तःकरण में दो दशाओं में उपलब्ध हो सकता है— एक अव्यवहित रूप से और दूसरे व्यवहित रूप से।[57] प्रथम दशा में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और दूसरी दशा में अनुमान ज्ञान। निकट विद्यमान घट अव्यवहित रूप से प्राप्त होता है, किन्तु पर्वत के पीछे की अग्नि व्यवहित रूप से उपलब्ध होती है। विषय के अव्यवहित रूप से अन्तःकरण में उपलब्ध होने पर दोनों को अभेद माना गया है।[58]

दूसरा मत वाचस्पति, अमलानन्द और अप्पयदीक्षित का है जिसके अनुसार प्रत्यक्षत्व ज्ञानगत है। वाचस्पति कहते हैं— "अन्य कारण से अन्य कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, नहीं तो कुटज के बीज से वटवृक्ष का ऊगना प्रसक्त होगा। इसलिए कारण पर ही कार्य का स्वरूप निर्भर है। इसी न्याय से कोई भी प्रमा विशेषरूप से प्रत्यक्ष प्रमा तभी कहलाती है जब उसका करण प्रत्यक्ष प्रमाण हो।"[59] तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान किसी अन्य ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता। अनुमान ज्ञान में धूम्रज्ञान से अग्निज्ञान उत्पन्न होता है। अतः वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहलाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसी मत का समर्थन करते हुए अमलानन्द वेदान्त-कल्पतरु में कहते हैं— "अपरोक्ष प्रमा के हेतु से उत्पन्न होना ही ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का नियामक है। शब्द अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करने का हेतु नहीं है।"[60]

अप्पयदीक्षित के शब्दों में, "जो अपना विषय नहीं है उसे विषय करने वाले ज्ञान से न उत्पन्न होने वाला ज्ञान होना ज्ञानगत अपरोक्षत्व है।"[61] ज्ञान का कोई विषय प्रत्येक ज्ञान में होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में उस विषय का प्रथम या सीधा ज्ञान होता है। अनुमानादि अन्य प्रकार के ज्ञानों में एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय न बने हुए वस्तु को अवलम्बन न बना कर उत्पन्न हुआ ज्ञान "स्वविषयविषयक ज्ञान" है। वह ज्ञान जिस ज्ञान का जनक नहीं है वही प्रत्यक्ष ज्ञान है।

प्रत्यक्ष की इस ज्ञानगत परिभाषा पर यह आक्षेप हो सकता है कि "यह नील कमल है" इसे प्रत्यक्ष ज्ञान न माना जायेगा, क्योंकि "नील" विशेषण के ज्ञान से जन्य कमल का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसके उत्तर में परिमलकार कहते हैं— "न च विशिष्ट ज्ञानं विशेषण ज्ञान जन्यमित्यभ्युपगमे"[62] अर्थात् विशिष्ट ज्ञान विशेषणज्ञानजन्य नहीं होता है। नील-कमल के प्रत्यक्ष होने में प्रत्यक्ष के किसी अविषय अंश का उपयोग नहीं किया गया है। जैसे दो भिन्न वस्तुओं का एक साथ प्रत्यक्ष हो सकता है, वैसे ही "नील" और "कमल" का एक साथ प्रत्यक्ष होकर दोनों की एकता भी प्रत्यक्ष होती है।

विवरण और भामती दोनों सम्प्रदायों ने प्रत्यक्ष ज्ञान को एकांगी दृष्टि से समझने का प्रयास किया है और उसी के अनुसार उन्होंने परिभाषायें भी दी हैं। परिणाम-स्वरूप दोनों परिभाषाओं में अपूर्णता और पक्षपात दिखाई देता है। वेदान्त-परिभाषाकार ने इन दोनों मतों का उल्लेख ही नहीं वरन् उनमें समन्वय करने का प्रयास किया है, किन्तु वे विवरण-प्रस्थान की ओर अधिक झुकाव रखते हैं।

धर्मराजाध्वरीन्द्र प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए कहते हैं कि घटादि विषयों से अवच्छिन्न चैतन्य विषय-चैतन्य, अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य-प्रमाण चैतन्य और अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ-चैतन्य है। जब वृत्ति-अवच्छिन्न चैतन्य विषय-अवच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न होता है तो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जैसे तालाब का जल छेद से निकल कर नाली के रास्ते से होता हुआ खेतों में प्रविष्ट होता है और उसी के आकार का तिकोना, चौकोना या वर्तुलाकार बन जाता है वैसे ही पूर्वोक्त तीन उपाधियों में से तैजस अन्तःकरण भी चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा शरीर से बाहर निकल कर घटादि विषय तक जाता है और घटादि विषयों के आकार में परिणत होता है। उस परिणाम को वृत्ति कहते हैं। वृत्ति और घट एकदेशस्थित होने से उपधेयों में भेद नहीं रहता है। इस कारण घटावच्छिन्न चैतन्य और घटाकारवृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य में अभेद होता है और घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[63]

इस विवेचन में विवरण-मत की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्टता और निश्चय दिखाई देता है। विवरणकार अन्तःकरण और विषय का अभेद मानते हुए भी यह नहीं कह सके कि अन्तःकरण इन्द्रिय-द्वारों से निकलकर बाहर जाता है और विषय-अवगुण्ठित होता है। वे यह भी नहीं कह सके कि विषय अन्तःकरण में कैसे प्रविष्ट होता है और दोनों में अभेद कैसे होता है? यदि विषय का ज्ञान हमारे भीतरी अन्तःकरण में होता है तो वस्तु बाहर विद्यमान कैसे ज्ञात होती है? वेदान्त परिभाषा में इन प्रश्नों का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समाधान हो जाता है। अन्तःकरण का बाहर जाना और विषयरूप वृत्ति उत्पन्न होना प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु हो सकता है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र के मतानुसार बाह्य विषयों का ज्ञान बाह्य प्रत्यक्ष से होता है; किन्तु प्रत्यक्ष का यही एक रूप नहीं है। अन्तःकरण प्रत्यक्ष भी होता है। सुख, दुःख, काम, संकल्प इत्यादि भाव अन्तःकरण के धर्म हैं। इनके ज्ञान में इन्द्रिय सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है। अतः इनका ज्ञान अन्तःप्रत्यक्ष से हो जाता है।[64] इसका निष्कर्ष यह है कि प्रत्यक्ष का विषय इन्द्रियों की सीमा में आने वाला ही नहीं, वरन् वह वहाँ है जहाँ अन्तःकरण की पहुँच है। अन्तःकरण का जिस विषय से सम्पर्क हो सकता है उसका प्रत्यक्ष सम्भव है। चेतन आत्मा अन्तःकरण के साथ अनिवार्य रूप से विद्यमान ही है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का भिन्न प्रकार से भी विभाजन हो सकता है— सविकल्प और निर्विकल्प।[65] न्याय आदि कुछ अन्य दर्शनों में भी यह विभाजन स्वीकार किया गया है। वेदान्त का दृष्टिकोण उनसे पृथक् है। विकल्प को विषय करने वाला ज्ञान सविकल्प है, जैसे "मैं घट को जानता हूँ।" परन्तु संसर्ग को विषय न करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक है, जैसे वह देवदत्त है।

तात्पर्य यह है कि सविकल्प ज्ञान में ज्ञेय वस्तु की विशिष्टता ज्ञात होती है। "यह पट नहीं, घट है," —इस ज्ञान में वस्तु की विशेषता घट है। यदि वस्तु की विशिष्टता ज्ञात न हो तो वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष है। यह कहा जा सकता है कि विशेषण विशेष्य सम्बन्ध (वैशिष्ट्य) को विषय न करने वाला ज्ञान निर्विकल्प ज्ञान कहलाता है, जैसे— "सो यं देवदत्तः", "तत्त्वमसि", "वह (सत्) तू है" इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान।[66] इस ज्ञान में सविकल्पक ज्ञान की भाँति घटरूप विशेषण से विशिष्ट ज्ञान को विषय करनेवाला "मैं घट को जान रहा हूँ" ऐसा वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान नहीं होता।

यहाँ पर एक शंका उपस्थित होती है कि वाक्यजन्य ज्ञान होने के कारण एवं इन्द्रियजन्य न होने से निर्विकल्प ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं वरन् शाब्द ज्ञान है। पर वेदान्त में इन्द्रिय जन्यत्व को प्रत्यक्ष का प्रयोजक नहीं माना गया है। अपितु विषय में योग्यता एवं वर्तमानता होते हुए प्रमाण चैतन्य का विषय चैतन्य से अभिन्न होना ही प्रत्यक्ष ज्ञानगत प्रयोजक है। अतः "सो यं देवदत्तः" इस वाक्य जन्यज्ञान का विषय सन्निकृष्ट है। इसीलिए इस वाक्यजन्य ज्ञान का विषय समीप होने के कारण सन्निकृष्ट विषय को उद्देश्यकर अन्तःकरण वृत्ति बाहर निकलती है। इस प्रकार देवदत्तावच्छिन्न (विषयावच्छिन्न) चैतन्य और वृत्यावाच्छिन्न (प्रमाण चैतन्य) का तादात्म्य होने से "सोऽयंदेवदत्तः" वाक्यजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार "तत्त्वमसि" ज्ञान भी प्रत्यक्ष है।[67]

साक्षिचैतन्य की द्विविधता से भी प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का माना जाता है— जीव साक्षी और ईश्वर साक्षी। संसर्ग का विषयत्व और अविषयत्व रूप दो निमित्तों से उसकी द्विविधता का सम्भव होने पर भी वह दोनों प्रकार का ज्ञान चैतन्यरूप होने से एक ही है। शिखामणिकार इस भेद को जीवसाक्षिजन्य और ईश्वरसाक्षिजन्य ज्ञान मानते हैं। ऐसा लक्षण करने से साक्षीद्वैविध्य से प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का हो जाता है। जीव और ईश्वर के निरूपण के विना प्रत्यक्ष ज्ञान के ये दोनों प्रकार समझना कठिन हैं। जीव और जीवसाक्षी में अन्तर यह है कि अन्तःकरण जब चैतन्य का विशेषण रहता है तब वह जीव कहलाता है तथा अन्तःकरण जब चैतन्य की उपाधि रहता है तब उसे जीव साक्षी कहते हैं। प्रत्येक जीवात्मा का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साक्षिचैतन्य भिन्न-भिन्न है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो मुझे ज्ञात हुये विषय का ज्ञान अन्य व्यक्तियों को भी होने लगेगा। इसी दोष को दूर करने के लिए अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद से वेदान्तिओं ने जीव साक्षी में नानात्व स्वीकार किया है।[68]

मायोपहित अर्थात् मायावच्छिन्न चैतन्य ही ईश्वर साक्षिचैतन्य है। क्योंकि उस ईश्वर की उपाधि भूत माया एक है, इसीलिए ईश्वर साक्षिचैतन्य भी एक ही है। प्रत्येक जीव चैतन्य का अन्तःकरण भिन्न होने से अन्तःकरणोपहित चैतन्य भी भिन्न (अनेक) हैं, परन्तु ईश्वर साक्षिचैतन्य एक है, यही दोनों में विशेष अन्तर है। "इन्द्र माया के कारण बहुरूपत्व को प्राप्त होता है" इत्यादि श्रुतिवाक्य में "मायाभिः" इस बहुवचन का आशय "माया के शक्ति विशेष् से है।" अर्थात् मायाभिः —मायाओं से इस प्रयुक्त बहुवचन का अभिप्राय एक महामाया की असंख्य विचित्र अवान्तर शक्तियाँ होने से मुख्य माया के एकत्व के साथ विरोध नहीं है। अथवा मायागत सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के अभिप्राय से वह बहुवचन है। अग्नि आदि पदार्थों में दाहकत्व, प्रकाशत्व आदि कार्यों को देखकर अनन्त शक्तियाँ अनन्त पदार्थों में जैसी कल्पित की जाती हैं, उसी तरह जगत् रूप विचित्र कार्यों के देखने से असंख्य कार्यों की शक्तियाँ माया में कल्पित करनी पड़ती हैं। उन्हीं को शक्ति विशेष अथवा अवान्तर शक्ति कहते हैं। इन्हीं असंख्य शक्तियों (शक्तिविशेष) को ध्यान में रखते हुये मायाभिः शब्द श्रुतिवाक्य में प्रयुक्त किया गया है।[69]

इन्द्रियजन्य और इन्द्रियाजन्य भेद से भी प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है।[70] सुखादि का प्रत्यक्ष इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष है। घ्राण, रसना, चक्षु, श्रोत्र और त्वचा ये पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय से संयुक्त होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करती हैं। घ्राण, रसना और त्वक् तीन इन्द्रियाँ अपने स्थान में स्थित रहकर ही गन्ध, रस और स्पर्श विषयों का क्रमशः प्रत्यक्ष (अनुभव) उत्पन्न करती हैं, परन्तु चक्षु और श्रोत्र दो इन्द्रियाँ स्वयं ही जहाँ विषय हो वहाँ जाकर अपने-अपने विषयों का ग्रहण करती हैं। चक्षु के समान परिच्छिन्न होने से श्रोत्र का भेरी, मृदंगादि स्थानों में गमन सम्भव है। इसी कारण "भेरी शब्द को मैंने सुना," " मृदंग ध्वनि को मैंने सुना" ऐसा अनुभव होता है। इन्हें इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

अनुमान

दूसरा प्रमाण अनुमान है, जिसे शंकर ने स्वीकार किया है और अपने भाष्यों में उसका प्रयोग भी किया है। एक दृष्टि से वे प्रत्यक्ष और अनुमान को समतुल्य समझते हैं।[71] अनुमान प्रमाण से जानने योग्य विषय नानात्वपूर्ण जगत् ही है। हमारे निकट की वस्तुयें जो इन्द्रियों के कार्यक्षेत्र में आ सकती हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण से जानी जाती हैं, किन्तु दूर की वस्तुयें, जहाँ तक इन्द्रियों की गति नहीं है अनुमान के द्वारा जानी जाती हैं। अतः "प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों की अव्यभिचारिता (समञ्जसता) में विरोध नहीं होता है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है।"[72] अनुमान का शाब्दिक अर्थ यही सूचित करता है— अनु = बाद में, मान = ज्ञान अर्थात् एक ज्ञान (प्रत्यक्ष) के आधार पर दूसरा ज्ञान प्राप्त होना अनुमान का लक्षण है।

अनुमान प्रमाण की विशिष्टता "लिंग" है, जैसे प्रत्यक्ष में विषय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष। अनुमान प्रमाण में ज्ञेय पदार्थ के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं होता। यदि ऐसा हो तब तो वह प्रत्यक्ष गोचर कहलायेगा। दूरस्थ या व्यवहित विषय भले ही इन्द्रियों की परिधि में न हो किन्तु उसका कोई लिंग इन्द्रिय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गोचर होना चाहिए। लिंग के अभाव में अनुमान नहीं हो सकता। " लिंगाद्यभावात् नानुमानादीनाम्" अर्थात् लिंग आदि का अभाव होने से (ब्रह्म) अनुमान आदि का विषय नहीं है।[73] शंकर पुनः कहते हैं, "दृष्टसाम्येन अदृष्टमर्थ समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य संनिकृष्यते"[74] अर्थात् दृष्ट अर्थ के साम्य से अदृष्ट पदार्थ का समर्थन करने वाला तर्क अनुभव के सन्निहित है।

. शंकर किसी भी प्रमाण को दूसरे प्रमाण का विरोधी नहीं मानते हैं। अनुमान भी प्रत्यक्ष का विरोधी नहीं है। शंकर के शब्दों में, "प्रत्यक्षविरोधऽनुमानस्याप्रमाण्यात्"[75] अर्थात् प्रत्यक्ष से विरोध होने पर अनुमान की प्रामाणिकता नहीं हो सकती।

नैयायिक परार्थानुमान के पाँच अंग मानते हैं– प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। किन्तु मीमांसक उन्हें संक्षिप्त कर तीन अंगों या वाक्यों तक ही सीमित कर देते हैं। वे तीन प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त हैं। शंकर अनुमान के पाँचों अंग स्वीकार कर उनका प्रयोग करते दिखाई देते हैं। उसका एक उदाहरण इस प्रकार है। इसमें शंकर ने पाँचों अंगों का नामोल्लेख किया है।[76]

1 — जाग्रतदृश्यानां भावानां वैतथ्यम्- इति प्रतिज्ञा
(जाग्रत् में देखे हुए पदार्थ मिथ्या हैं)

2 — दृश्यत्वात् इति हेतुः
(दृश्य होने के कारण)

3 — स्वप्नदृश्यभाववत् इति दृष्टान्तः
(स्वप्न में देखे हुए पदार्थों के समान)

4 — यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां-
वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्व-मविशिष्टुम् इति हेतूपनयः
(जिस प्रकार वहाँ स्वप्न में देखे हुए
पदार्थों का मिथ्यात्व है उसी प्रकार जाग्रत्
में भी उनका दृश्यत्व समानरूप से है)

5 — तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतम् इति निगमनम्
(अतः जागृति में भी उनका मिथ्यात्व माना गया है)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शंकर अनुमान के पाँचों अवयवों को स्वीकार करते हैं; किन्तु उन्होंने सर्वत्र इन पाँचों अवयवों का अनिवार्य रूप से प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने अधिकांश स्थलों में प्रथम तीन अवयवों का ही प्रयोग किया है। सामान्यतः अनुमिति का आधार हेतु और साध्य के मध्य निरन्तर रहने वाली व्याप्ति ही है और नैयायिकों ने व्याप्ति के अनेक भेद भी किये हैं, किन्तु शंकर उनके विवेचन में रुचि नहीं रखते हैं। वे प्रत्यक्ष या अनुमान में कार्य करने वाले मनोविज्ञान का भी उल्लेख नहीं करते हैं। वे न्याय आदि दर्शनों में स्वीकृत प्रमाणों का रूप प्रायः स्वीकार करते दिखाई देते हैं।

अनुमान प्रमाण की उपयोगिता और प्रामाण्य शंकर को व्यावहारिक जीवन में मान्य हैं। "उसे अस्वीकार करने से लोक व्यवहार का उच्छेद प्रसंग हो जायेगा।"[77] भूत और वर्तमान के सादृश्य से भविष्यत् विषय में भी सुख प्राप्ति और दुःख परिहार के लिए प्रवृत्त होते हुए लोग देखे जाते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS.org

परमार्थ ज्ञान में भी शंकर अनुमान का उपयोग एक सीमा तक स्वीकार करते हैं। वह अंतिम प्रमाण नहीं है, उसके लिए शास्त्र ही अंतिम प्रमाण है किन्तु शास्त्रानुकूल तर्क स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। कभी-कभी शास्त्र के अर्थ को निश्चित करने में भी इसका प्रयोग किया जाता है। शंकर कहते हैं– "श्रुति अर्थ में विरोध हो तो अर्थाभास का निराकरणपूर्वक यथार्थ अर्थ का निर्णय वाक्यवृत्ति निरूपणरूप तर्क से किया जाता है।"[78]

अनुमान की परिभाषा देते हुए वेदान्त परिभाषाकार लिखते हैं– "अनुमिति प्रमा का करण ही अनुमान है"[79] और "अनुमिति प्रमा व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न होती है, अतः व्याप्ति ज्ञान होने से अनुमिति का ज्ञान सम्भव है। व्याप्तिज्ञान का संस्कार अवान्तर व्यापार है।"[80]

यहाँ नैयायिकों के तृतीय लिंग परामर्श का खण्डन किया गया है जिसमें प्रथम लिंगज्ञान (धूम्र) रसोई में, दूसरा वन में पर्वत पर धूम्र देखकर और तीसरा वह्निव्याप्त धूम्र देखा जाता है। यह परामर्श वेदान्तियों को मान्य नहीं है। उनके अनुसार यदि व्याप्ति ज्ञान है तो पर्वत पर धूम्र देखकर व्याप्ति संस्कार उत्पन्न होगा और तत्काल अग्नि का ज्ञान हो जायेगा। इस संस्कार को यहाँ स्मृति से भिन्न माना गया है।

व्याप्ति की परिभाषा इस प्रकार की गयी है— "व्याप्तिश्च अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा" अर्थात् समस्त साधनों का जो आश्रय है और उसके आश्रित जो साध्य हैं उससे हेतु का समानाधिकरण्य ही व्याप्ति है। धूम्र (साधन) का आश्रय पर्वत है और पर्वत के आश्रित अग्नि (साध्य) है। धूम्र और अग्नि में, साधन और साध्य में समानाधिकरण है। यही व्याप्ति है। व्याप्ति में व्यभिचार दर्शन न होकर सदा सहचार दर्शन होना आवश्यक है। यह चाहे एक बार दर्शन से हो या अनेक बार से, उसका महत्त्व नहीं है।[81]

नैयायिक तीन प्रकार का लिंग मानते हैं –केवल अन्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। वेदान्तपरिभाषाकार अनुमान को एक अन्वयीरूप ही मानते हैं। नैयायिकों के लिंग विभाजन का खण्डन किया गया है।[82]

यहाँ अनुमान को स्वार्थ और परार्थ दो भेदों में बाँटा गया है किन्तु परार्थानुमान में पाँच अवयवों के स्थान में तीन अवयव ही माने गये हैं।[83]

उपमान प्रमाण

वेदान्त में उपमान निरूपण भादृमीमांसा के अनुसार ही है। वेदान्तपरिभाषाकार उपमान का लक्षण निम्नलिखित पंक्तियों में देते हैं–

"तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्। तथा हि प्रांगणेषु (नगरेषु) दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनगतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिरयं पिण्डो गोसदृश इति तदनन्तरं च भवति निश्चयो ऽनेन सदृशी मदीया गौरिति। तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्य ज्ञानं करणं गोनिष्टगवय सादृश्य ज्ञानं फलम्।[84]

वे.प. 226-230

तात्पर्य यह है कि सादृश्य प्रमा के कारण को उपमान कहते हैं। उपमान प्रक्रिया इस प्रकार से निष्पन्न होती है– जिस पुरुष ने प्रांगण अथवा नगर में गाय का अवलोकन किया हो और वही व्यक्ति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अरण्य में जाकर "गवय" को जब देखता है तो उस समय उसे "अयपिण्डोगोसदृशः" —यह पिण्ड (व्यक्ति पशु) गाय जैसा है, गाय के सदृश है, ऐसा ज्ञान होता है। तत्पश्चात् उसे "अनेनसदृशीमदीयागौः" —"इस गवय जैसी मेरी गाय है" (इस पशु अर्थात् गवय के सदृश (समान) मेरी गाय है) यह निश्चयात्मक ज्ञान होता है। इन दोनों ज्ञानों में से अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर गवय में होने वाला जो गोसादृश्य ज्ञान है, वह करण है अर्थात् उपमान प्रमाण है और गोनिष्ठ गवय का सादृश्य ज्ञान फल अर्थात् उपमिति है।

यहाँ पर सादृश्य ज्ञान को प्रमा और प्रमाण दोनों का बोधन किया गया है। यद्यपि दोनों ही सादृश्य ज्ञान रूप हैं तथापि उनमें भेद है। प्रमाण रूप सादृश्य ज्ञान में "गाय" को "गवय" की उपमा दी गई है अर्थात् इस ज्ञान में "गाय" उपमान और "गवय" उपमेय है। प्रमिति रूप सादृश्य ज्ञान में गाय को गवय की उपमा दी गई है। अर्थात् इस ज्ञान में "गवय" उपमान और (गौ) गाय उपमेय है। प्रथम सादृश्य ज्ञान द्वितीय सादृश्य ज्ञान का जनक है और द्वितीय सादृश्य ज्ञान प्रथम सादृश्य ज्ञान का फल (जन्य-कार्य) है। सारांश यह है कि गवय में गाय के सादृश्य का ज्ञान उपमान प्रमाण और गाय में गवय का सादृश्य ज्ञान उपमिति कहलाता है।

प्रत्यक्ष अनुमान आदि से विलक्षणता रखने के कारण वेदान्ती इसे स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं और प्रत्यक्ष तथा अनुमान में इसकी गतार्थता न होने के कारण परिभाषाकार कहते हैं कि इन्द्रिय सन्निकर्ष न होने के कारण यह गवयनिष्ठ सादृश्य ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि वन में गवय को देखते समय गाय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं रहता। इसी प्रकार वे दो अनुमान प्रयोग भी प्रस्तुत करते हैं।[85] प्रथम में स्वरूपासिद्ध दोष होने के कारण उपमान को अनुमान में सन्निविष्ट नहीं किया जा सकता एवं द्वितीय प्रयोग में यदि अनुमान निर्दृष्ट भी हो तो फिर भी विना अनुमान के "अनेन सदृशीमदीया गौः" इस प्रकार की अबाधित उपमिति होती है। यह आवश्यक भी नहीं कि प्रत्येक सादृश्य प्रमा के समय ऐसा ही अनुमान किया जाये। इसके अतिरिक्त इस सादृश्य-ज्ञान के अनन्तर "गवय सादृश्यं अहं उपमिनोमि" —गवय सादृश्य का मैं अनुमान करता हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय होने की अपेक्षा "गवय सादृश्यं अहं उपमिनोमि" —गवय सादृश्य का मैं उपमान करता हूँ अर्थात् गवय सादृश्य को मैं उपमान द्वारा जानता हूँ, यही अनुव्यवसाय होता है। इसलिए उपमान को अनुमान में सन्निविष्ट नहीं किया जा सकता, वह एक स्वतंत्र प्रमाण है।

यद्यपि परिभाषाकार वैसादृश्य ज्ञान रूपी उपमिति के बारे में मौन रहते हैं परन्तु उनके टीकाकार —शिखामणि[86] एवं मणिप्रभा के रचयिता दोनों वैसादृश्य रूप ज्ञान को उपमिति नहीं मानते हैं। मण्डिप्रभाकार उदाहरण द्वारा अपने मत को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि जहाँ "कमलेन लोचनमुपमिनोमि" —मैं नेत्र को कमल से उपमा देता हूँ, इस प्रकार का उपमान-उपमेय भाव पाया जाय वही उपमान प्रमाण होता है। इसके विपरीत जहाँ वैधर्म्य ज्ञान हो वहाँ उपमान-उपमेय भाव के लुप्त रहने के कारण उपमान प्रमाण सम्भव नहीं होता।[87]

फिर जहाँ साध्य अग्नि प्रत्यक्ष सिद्ध है वहाँ पर "पर्वतो वह्निमान्धूमात्" ऐसा अनुमान प्रयोग होता है। परन्तु इतने से ही प्रत्यक्षप्रमाण को जैसे व्यर्थ नहीं माना जा सकता अर्थात् अनुमान से प्रत्यक्ष की अगतार्थता ही सिद्ध होती है, उसी प्रकार अनुमान में उक्त सादृश्य ज्ञान सिद्ध होने पर भी उपमिति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रमा का पृथक् अनुभव होने से उपमान प्रमाण को अनुमान में परितार्थ नहीं किया जा सकता। अतः उपमिति प्रमा के करण उपमान प्रमाण को पृथक् प्रमाण मानना ही चाहिए।

शब्द प्रमाण

इन्द्रियों की पहुँच के अन्दर उपलब्ध वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसके आगे जहाँ इन्द्रियाँ नहीं पहुँच सकतीं, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष के विपरीत परोक्ष है और उसे अनुमान प्रमाण से जान सकते हैं। किन्तु अपना वास्तविक आत्मा न प्रत्यक्ष प्रमाण से और न अनुमान प्रमाण से ही जाना जा सकता है, उसका "अपरोक्ष" ज्ञान शब्द प्रमाण से ही जाना जाता है।

आत्मा या ब्रह्म अरूप होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं है और उसका कोई लिंग न होने के कारण वह अनुमान से भी नहीं जाना जा सकता। उसका ज्ञान शब्द प्रमाण से ही होता है।[88]

शब्द प्रमाण दो प्रकार का हो सकता है —लौकिक और अलौकिक। जब किसी लैकिक वस्तु या घटना के विषय में किसी आप्त पुरुष से ज्ञान प्राप्त होता है, तो ज्ञान का यह साधन लौकिक शब्द प्रमाण है। शंकर की दृष्टि में अलौकिक शब्द प्रमाण आगम ही है जिससे परमार्थ वस्तु का बोध होता है। "प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पर तत्त्व का बोध सम्भव नहीं है, उसका ज्ञान तो आगम द्वारा ही सम्भव है।"[89]

शंकर शास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उसे ब्रह्म से उत्पन्न मानते हैं। उनका तर्क है कि "अनेक विद्याओं से सम्पन्न, दीपक के समान सब अर्थों का प्रकाशन करने में समर्थ और सर्वज्ञ के समान महान् ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्म से ही उत्पन्न हो सकते हैं। सर्वगुण सम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ को छोड़कर किसी अन्य से नहीं है।[90] यह लोक प्रसिद्ध है कि लौकिक ग्रन्थों की रचना करने वाला विद्वान् अपने लिखे ग्रन्थों से अधिक जानता है, अतः सर्वज्ञान के भण्डार वेदों की उत्पत्ति महान् अपरिच्छिन्न सद्रूप परमात्मा से ही होनी चाहिए। यह उत्पत्ति भी लीला न्याय से पुरुष निःश्वास की भाँति अनायास होती है।"[91]

प्रत्येक कल्प में सृष्टि के प्रभव और प्रलय के साथ श्वास की भाँति वेद भले ही प्रकट और अप्रकट हों किन्तु वे नित्य हैं। "वेद शब्द में नित्यत्व समझना चाहिए।"[92] शंकर ने अपने इस मत के समर्थन में श्रुति और स्मृति प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं।[93] नित्य शब्द प्रमाण से ही नित्य परमात्मा की उपलब्धि सम्भव है।

शब्द प्रमाण ब्रह्म का ज्ञान कराने वाला है। "ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान में योनि, कारण या प्रमाण हैं। शास्त्र प्रमाण से ही अधिगत होता है कि जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म है।"[94]

ब्रह्म से वेद की उत्पत्ति ही नहीं हुई वरन् वेद स्वयं ब्रह्म है। शंकर कहते हैं, "वेद रूप ब्रह्म को तुम कर्म की उत्पत्ति का कारण समझो।"[95] "वेदरूप ब्रह्म साक्षात् परमात्मा नामक अक्षर से पुरुष के निःश्वास की भाँति उत्पन्न हुआ है, इसलिए वह सब अर्थों को प्रकाशित करने वाला होने के कारण सर्वगत है।"[96]

"वेद का अपने अर्थ में प्रामाण्य वैसे ही निरपेक्ष है जैसे सूर्य का रूप विषय में निरपेक्ष प्रामाण्य है।"[97] वेद की प्रामाणिकता किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती। इतना ही नहीं शंकर "श्रुति" को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रत्यक्ष प्रमाण और "स्मृति" को अनुमान प्रमाण मानते हैं। अथवा उसके समतुल्य मानते हैं। उनके शब्दों में, "प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्त्वात्।"[98] अर्थात् श्रुति प्रत्यक्ष है क्योंकि अपने प्रामाण्य के प्रति उसे किसी अन्य प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं है। स्मृति ज्ञान अनुमान है, क्योंकि उसे अपनी प्रमाणता के लिए मूलभूत श्रुति की अपेक्षा होती है। तात्पर्य यह है कि श्रुतियाँ सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी हैं, अतः उनमें जिस ज्ञान का निरूपण किया गया है वह परमात्मा अव्यवहित रूप से उपलब्ध है, उसे किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अथवा, ऋषियों ने परम सत् को अपरोक्ष रूप से देखा या अनुभव किया है, वही श्रुति ज्ञान है। उसे अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं। स्मृतियों की रचना श्रुति ज्ञान के आधार पर की गयी। उनमें स्मृतिकारों की ही अपनी कल्पना है। वह ज्ञान तभी प्रामाणिक होगा, जब श्रुति के अनुकूल और उससे समर्थित हो। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों में यही अन्तर है। प्रत्यक्ष ज्ञान अनुमान आदि की अपेक्षा नहीं रखता किन्तु अनुमान लिंग पर आश्रित है और लिंग प्रत्यक्ष से उपलब्ध है। इसलिए अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता है।

यदि कहें कि श्रुति ज्ञान हमारे लिए परोक्ष ही होगा, वह प्रत्यक्ष के समान साक्षात् ज्ञान नहीं कराता तो यह ठीक नहीं है। श्रुति प्रमाण हमें अपने स्वरूप का ज्ञान अपरोक्ष रूप से कराता है और श्रुतियों में आत्मा का जो रूप चेतनस्वरूप, कूटस्थ असंग आदि बताया गया है वैसा ही हमें उपलब्ध होता है। इसलिए श्रुति प्रमाण से हमें अपने आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होने पर किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। स्मृतियों से आत्मा का ज्ञान परोक्ष रूप से होता है अथवा स्मृतियाँ श्रुतियों के आधार पर हमें आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान कराती हैं। इन दोनों स्थितियों में स्मृतियों को अपने प्रामाण्य के लिए श्रुतियों की अपेक्षा होती है। इसके अतिरिक्त, "स्मृति के परस्पर विरोध होने पर एक का ग्रहण और अन्य का परित्याग अवश्य होने से श्रुति-अनुसारी स्मृतियाँ प्रमाण हैं।"[99]

शंकर ने श्रुति प्रमाण से ब्रह्मज्ञान होने की प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला है। वे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से शब्द प्रमाण की प्रक्रिया का भेद करते हुए कहते हैं— "न हि शास्त्रमिदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिविपादयिषति। किं तर्हि? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्या कल्पितं वेद्य-वेदितृ-वेदनादि भेदमपनयति।"[100] अर्थात् शास्त्र इदं रूप से विषयभूत ब्रह्म का प्रतिपादन करना नहीं चाहता, किन्तु ब्रह्म प्रत्यगात्म रूप से अविषय है ऐसा प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र अविद्या से कल्पित वेद्य-वेदितृ-वेदना आदि भेद को निवृत्त करता है। वे पुनः कहते हैं कि श्रुति तो ऐतिह्यमात्र से अपने अर्थ का अभिधान करती हैं।[101] ऐतिह्य का तात्पर्य है— परोक्षरूप प्रवाह परम्परा। शंकर उन श्रुतियों को उद्धृत करते हैं जो कहती हैं कि मोक्ष के प्रतिबंध (अज्ञान) की निवृत्ति मात्र आत्मज्ञान का फल है।[102]

ब्रह्म विषय रूप से ज्ञात नहीं होता, अतः शास्त्र प्रमाण से ब्रह्मज्ञान उस प्रकार नहीं होता है जैसे अन्य प्रमाणों से रूप और लिंग युक्त विषय ज्ञात होते हैं। यही कारण है कि श्रुति कहती है— "जिसे ऐसा निश्चय है कि ब्रह्म ज्ञान नहीं है उसे ब्रह्म ज्ञात है अर्थात् उसने ब्रह्म के स्वरूप को जाना है और जो ऐसा समझता है कि "मुझे ब्रह्म ज्ञात है" उसने ब्रह्म को जाना ही नहीं, क्योंकि जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है उसे ब्रह्म विषय रूप से अज्ञात है। ब्रह्म को ज्ञान का विषय समझकर "मैंने ब्रह्म को जाना है" ऐसा कहना अज्ञानियों का मत हैं।"[103]

इस प्रकार यह निश्चय है कि शंकर शास्त्र प्रमाण से ब्रह्मज्ञान सम्भव मानते हैं। वे यह भी कहते हैं कि श्रुति वाक्य अज्ञान की निवृत्ति कर ब्रह्मज्ञान कराते हैं। इसमें दृष्टान्त दशम पुरुष की आख्यायिका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है। "आत्मा में दशम संख्या की अपूर्व रूप भ्रम की निवृत्ति के समान शास्त्र अविद्या से आरोपित दुःखित्व रूप भ्रम की निवृत्ति के लिए है।"[104]

ब्रह्मज्ञान में महावाक्यों का विशेष उपयोग है। "अहं ब्रह्मास्मि"[105] भी एक महावाक्य है। इस पर भाष्य लिखते हुए शंकर कहते हैं– "विज्ञान तो मिथ्याज्ञान का निवर्तक होने के सिवा और कुछ करने वाला है नहीं। शास्त्र-वचन किसी वस्तु में कोई सामर्थ्य पैदा करने वाला नहीं होता, क्योंकि शास्त्र केवल ज्ञापक है कारक नहीं—यही वास्तविक स्थिति है।"[106] डॉ.के. सच्चिदानन्द मूर्ति के अनुसार "वे (महावाक्य) आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान कराते हैं। महावाक्य सुनने से जैसे ही आत्मा का ज्ञान उदित होता है, वह स्वभावतः समस्त पूर्व मिथ्या धारणाओं को नष्ट कर देता है।"[107] किन्तु यह कथन शंकर की मान्यता के अनुकूल नहीं प्रतीत होता है। ऊपर शंकर के उद्धरण से इसकी तुलना करने से भेद स्पष्ट हो जायेगा। शंकर के मतानुसार महावाक्य सुनने से केवल अविद्या की निवृत्ति होती है, ब्रह्म ज्ञान अनुभव रूप है। डॉ. मूर्ति महावाक्य से आत्मज्ञान और फिर उससे अविद्या की निवृत्ति मानते हैं। सच बात तो यह है कि शब्द प्रमाण से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने की क्या प्रक्रिया है, इसका शंकर ने अधिक विवेचन नहीं किया है। इसलिए उनके अनुयायियों ने अपनी दृष्टि के अनुसार उनका तात्पर्य निकाला है।

आगम प्रमाण वाक्य द्वारा होता है। जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय होने वाला संसर्ग (वस्तु) अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता है। वह वाक्य प्रमाण है। वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य ज्ञान—ये चार कारण होते हैं।

"आकांक्षा" का तात्पर्य है पदार्थों की परस्पर जिज्ञासा।[108] कोई शब्द सुनकर उससे सम्बन्धित अन्य वस्तुओं की जिज्ञासा होती है, जैसे किसी क्रिया को सुनकर उसके कर्त्ता की जिज्ञासा और कर्त्ता को सुनकर उसके कर्म और करण की जिज्ञासा। अपूर्णता के कारण आकांक्षा उत्पन्न होती है और वह पूर्णता चाहती है। कोई वाक्य अपेक्षित अर्थ देकर तभी प्रमाण बनता है जब वह श्रोता की आकांक्षा पूरी करता है।

जिन पदों के मिलने से वाक्य बनता है वह पदों की योग्यता पर भी निर्भर करता है। आकांक्षा पूर्ण करने के लिए किन्हीं पदों को जोड़ देना मात्र पर्याप्त नहीं है। "अग्नि से सींचता है" —इस वाक्य में पदों की आकांक्षा पूर्ण करने की योग्यता नहीं है। अतः तात्पर्य विषयी भूत संसर्ग का बाध न होना ही "योग्यता" है।[109]

"आसत्ति" का अर्थ है पदों के बीच में व्यवधान न होना।[110] यदि लिखित वाक्य है तो उसके पद इतने पास-पास हों कि उनको मिला कर वाक्य बनता हो और वह अर्थ देने में समर्थ हो। बोला गया वाक्य अपने पदों के बीच कालगत व्यवधान न रखे।

इसके अतिरिक्त वक्ता का तात्पर्य भी समझना होता है और उसी को ध्यान में रखकर वाक्य का अर्थ समझा जाता है, तभी उस वाक्य से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रमाण होता है। वक्ता का तात्पर्य उसके द्वारा दी गयी भूमिका और उपसंहार आदि से ज्ञात होता है। अतः वाक्य में वक्ता के विवक्षित अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता को ही तात्पर्य कहते हैं।[111]

वेदान्त के महावाक्यों का अर्थ लक्षणावृत्ति से किया जाता है। अतः शंकर आदि आचार्यों ने लक्षणा के प्रकार भेदों पर विचार किया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी उनका उल्लेख कर आगम प्रमाण का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सर्वांगीण निरूपण किया है। इनकी विशेषता यही है कि वे परम्परागत विचारों को व्यवस्थित और एक स्थान में एकत्र कर देते हैं। वे कहते हैं—पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—शक्य (शक्तिरूप वृत्ति से युक्त) और लक्ष्य (लक्षणारूप वृत्ति से युक्त)।[112] शक्यत्व जाति में रहता है व्यक्ति में नहीं। प्रत्येक व्यक्ति में पृथक् शक्यत्व मानने में गौरव है। लक्ष्य पदार्थ वह है जो लक्षणाजन्य ज्ञान में विषय हो। लक्षणा तीन प्रकार की है —जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा।[113] तीसरे प्रकार की लक्षणा से ही "तत्त्वमसि" महावाक्य का अर्थ जाना जाता है। वेदान्त परिभाषाकार ने इस मत पर होने वाली संभावित आपत्तियों पर विचार कर उनका निराकरण भी किया है।

अर्थापत्ति प्रमाण

भाट्टमीमांसकों की भाँति वेदान्ती भी अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। जिस प्रकार प्रत्यक्ष शब्द प्रमा और प्रमाण का बोधक है उसी प्रकार अर्थापत्ति शब्द भी प्रमा और प्रमाण दोनों का बोधक है। अर्थापत्ति का ही अपर नाम अन्यथा अनुपपत्ति है। वेदान्त परिभाषा में अर्थापत्ति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

तत्रोपपाद्य ..... रात्रिभोजनमुपपादकम्।[114]

"उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना करना ही अर्थापत्ति प्रमा है।" इन दोनों ज्ञानों में उपपाद्य ज्ञान करण रूप अर्थात् प्रमाण है और उपपादक का ज्ञान प्रमा या फल है। अब प्रश्न यह उठता है कि उपपाद्य और उपपादक क्या है? जिसके विना जो अनुपन्न (सम्भव न हो) होता है, वह उपपाद्य कहलाता है तथा जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती है वह उसका उपपादक कहा जाता है। जैसे, रात्रि भोजन के विना दिवाअभोजी पुरुष में मोटापन अनुपपन्न है अर्थात् सम्भव नहीं होता, इसलिए मोटापन रात्रि भोजन का उपपाद्य है और रात्रि भोजन के अभाव में वैसे मोटापन की अनुपपत्ति है, इस कारण रात्रि भोजन उस पुष्टि मोटापन का उपपादन है। इसे और स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। जैसे कोई पुरुष दिन में भोजन नहीं करता है किन्तु उसका शरीर पुष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह सर्वथा सत्य है कि भोजन के विना शरीर पुष्टि संभव नहीं है। इससे यह कल्पना की जाती है कि वह मनुष्य क्योंकि पुष्ट दिखाई देता है, इसलिए वह रात्रि में अवश्य ही भोजन करता होगा। इसी कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। अन्य प्रकार से यदि किसी कार्य की उपपत्ति नहीं हो सके तो वहाँ जिस कारण की कल्पना कार्य के ज्ञान के लिए की जाती है उसे ही अन्यथानुपपत्ति भी कहते हैं।

हम पूर्व में उपपाद्य और उपपादक का अर्थ स्पष्ट कर चुके हैं। परन्तु व्यतिरेक द्वारा उसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। उपपाद्य का लक्षण परिभाषाकार ने निषेधात्मक रूप से देते हुए कहा है— "येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्" —जिसके विना जिसकी अनुपपत्ति होती है (अयोग्य रूप से प्रतीति होती है) वह उपपाद्य है। इसी बात को मणिप्रभाकर "उपपाद्यदकाभाव व्यापकी भूताभाव प्रतियोगित्वम्" रूप से व्यतिरेक सहचार बतलाते हुए प्रकट करते हैं। प्रकृत स्थल में मोटापन उपपाद्य है और "रात्रि भोजन" उपपादक। उपपाद्यरूप मोटापन का अभाव, उपपादक रूप रात्रि भोजन के अभाव का व्यापकीभूत अर्थात् व्यापक है। अर्थात् जहाँ-जहाँ भोजन का अभाव रहता है वहाँ-वहाँ नियमतः निश्चय रूप से मोटापन का भी अभाव रहता है। अर्थात् रात्रि भोजन के विना दिन में भोजन न करने वाले पुरुष का शरीर पुष्ट रहना अनुपपन्न है, इसलिए मोटापन को उपपाद्य कहते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसी प्रकार "यस्याभावेयस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्" — उपपादक का लक्षण व्यतिरेक रूप से किया गया है। अर्थात् जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती है वह उपपादक कहलाता है। उपपादक लक्षण में उपपाद्य जैसा व्यतिरेक सहचार नहीं है, इसीलिए अर्थापत्ति को व्यतिरेक अनुमान से भिन्न स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। दिन में भोजन करने वाले पुरुष के मोटापन की जिस रात्रि भोजन के अभाव में अनुपपत्ति होती है, वह रात्रि भोजन नहीं उपपादक है। इसी कारण टीकाकारों ने उपपादक का लक्षण— "उपपाद्याभाव व्याप्याभावप्रतियोगित्व" किया है। उपपाद्य का अभाव उपपादक के अभाव का व्यापक होता है अर्थात् उपपाद्याभाव व्यापक और उपपादकभाव व्याप्य होता है। मोटापन के अभाव का व्याप्य जो रात्रि भोजन का अभाव है उसका रात्रि भोजन प्रतियोगी है। यहाँ पूर्वोत्तर व्यतिरेक सहचार वाला क्रम नहीं है।

जब अर्थापत्ति का अर्थ "अर्थस्य आपत्तिः अर्थापत्तिः" इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास द्वारा करेंगे तब अर्थापत्ति का "कल्पना" अर्थ होने के कारण प्रमा रूप अर्थ होगा। यदि इसको बहुव्रीहि समास से व्युत्पत्यर्थ मानें तो— "अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् तत् अर्थापत्तिः" प्रमाणरूप में आर्थित होगा। तात्पर्य यह है कि अर्थ अर्थात् उपपादक उसकी आपत्ति (कल्पना) इस अर्थ में अर्थापत्ति पद प्रमा का बोधक होगा, क्योंकि "अर्थस्य आपत्तिः" ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास घटित होता है और जिससे अर्थ की कल्पना की जाय, वह उपपाद्य की अनुपपत्ति का ज्ञातरूप "अर्थापत्ति पद प्रमाण का बोधक है" क्योंकि "अर्थस्य आपत्तिर्यस्मात् तत्" इस बहुव्रीहि समास से अर्थ की कल्पना की जाती है। प्रकृत उदाहरण में रात्रि भोजन कल्पना रूप प्रमा के अर्थ में और उस कल्पना के साधन भूत मोटापन आदि ज्ञान प्रमाण के अर्थ में प्रयुक्त होता है।"[115]

अर्थापत्ति दृष्टार्थापत्ति एवं श्रुतार्थापत्ति भेद से दो प्रकार की होती है।[116] जहाँ दृष्ट उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान से उपपादक की कल्पना की जाती है वह दृष्टार्थपत्ति एवं जहाँ श्रुत उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान द्वारा, उपपादक की कल्पना की जाती है वह श्रुतार्थापत्ति कहलाती है। दिवाअभोजी स्थूल में दृष्टार्थापत्ति है, क्योंकि उपपाद्य स्थूलत्व दृष्ट है। यह उदाहरण पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं। परिभाषाकार एक दूसरा भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। दृष्ट पदार्थ का प्रथम "इदंरजतम्" यह रजत है, ऐसा भान होता है। परन्तु किसी आप्त के कहने पर अथवा स्वयं प्रत्यक्ष द्वारा उसे हाथ से स्पर्श करने के पश्चात् "नेदंरजतम्" यह रजत नहीं है ऐसा ज्ञान होता है। रजत यदि वास्तविक पदार्थ होता है तो उसका निषेध नहीं किया जा सकता था। अतः ऐसी कल्पना का उदय होता है कि यहाँ पर वास्तव में रजत की सत्ता नहीं है अर्थात् रजत सत्य नहीं है। वह सद्भिन्न अर्थात् असत् या मिथ्या है, या इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं —रजत में सत्यत्व का अत्यन्ताभाव है। यहाँ पर रजत और शुक्ति दोनों पदार्थ दृष्ट हैं और निषेधात्मक रूप से सत्यत्वत्यान्ताभाववत्व रूप मिथ्याभाव की कल्पना की जाती है। सत्य पदार्थ का त्रिकाल में भी निषेध होना असम्भव है। अतः दृष्ट विषय द्वारा दृष्टार्थापत्ति से रजत के मिथ्यात्व का निश्चय किया जाता है।[117]

श्रुतार्थापत्ति[118] में श्रुत अर्थ की उपपत्ति से उपपादक की कल्पना की जाती है। श्रुत (सुने हुए) वाक्य की स्वार्थानुपपत्ति (अर्थात् वाक्यार्थ की अनुपपत्ति के कारण या मुख्य अर्थ के असम्भव होने के कारण) के द्वारा अन्य अर्थ की कल्पना उपपत्ति हेतु जहाँ की जाती है उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। उदाहरण है— "तरतिशोकमात्मवित" आत्मवेत्ता पुरुष शोक को पार कर जाता है। यहाँ शोक शब्द का अर्थ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"कर्तृत्वादि समस्तबन्ध" है, और ज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है, ऐसा श्रुति का मुख्य आशय है। परन्तु श्रुति का यह अर्थ उपपन्न नहीं होता, क्योंकि किसी वस्तु की निवृत्ति उस के ज्ञान से नहीं हुआ करती। पुस्तक का ज्ञान होने पर पुस्तक नष्ट हो जाती हो, ऐसा अनुभव नहीं होता। ज्ञान केवल अज्ञान का ही निवर्तक है। इसलिए श्रुतार्थ की अनुपपत्ति होती है। अतः उसकी उपपत्ति के हेतु समस्त बन्ध ज्ञान-निवर्त्य-ज्ञान से नष्ट होने योग्य है, यह सिद्ध करने के लिए बन्ध अज्ञानमूलक है (अर्थात् शुक्ति रजतादि के समान वास्तविक न होकर अज्ञान से ही भासित होती है) ऐसी कल्पना करनी पड़ती है। तात्पर्य यह है कि यही ज्ञान से शोक की निवृत्ति श्रुत है और शोक मिथ्यात्व विना उसकी अनुपपत्ति होती है, क्योंकि ज्ञान मिथ्यात्व का ही बाधक होता है। इसलिए अन्य प्रकार के ज्ञान से शोक निवृत्ति की अनुपपत्ति से बन्धन्मथ्यात्व की कल्पना की जाती है। यहाँ बन्ध-मिथ्यात्व उपपादक और ज्ञान से शोक निवृत्ति उपपाद्य है, वह दृष्ट नहीं किन्तु श्रुत है, इसलिए इसको श्रुतार्थापत्ति कहा जाता है। श्रुति वाक्य का उदाहरण देकर ग्रन्थकार लौकिक वाक्य का भी दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। यथा– (गृहे सन् देवदत्तोजीवति) जीवीदेवदत्तोगृहे नेति– देवदत्त जीवित है किन्तु घर में नहीं है, इस वाक्य के सुनने पर जो पुरुष घर में नहीं है और घर से बाहर भी नहीं है उसका जीवित रहना असम्भव है। इस कारण ऐसी कल्पना करनी पड़ती है कि जीवित होने के कारण जब वह घर में नहीं है तो बाहर ही होगा, इसलिए गृह में असत् देवदत्त के जीवन की अनुपपत्ति से देवदत्त की गृह से बाहर सत्ता की कल्पना की जाती है। यहाँ गृह में असत् देवदत्त का जीवन दृष्ट नहीं किन्तु श्रुत है। अतः श्रुत अर्थ की अनुपपत्ति से उपपादक की कल्पना श्रुतार्थापत्ति कही जाती है। प्रकृत में गृह में असत् (न रहने वाले) देवदत्त का जीवन उपपाद्य है और गृह से बाहर उसकी सत्ता उपपादक है।

श्रुतार्थापत्ति के दो भेद हैं– प्रथम अभिधानानुपपत्ति और दूसरी अभिहितानुपपत्ति।[119] क्रिया वाचक पदों को कारकों की आकांक्षा रहती है और इसी प्रकार कारकों को क्रिया की अपेक्षा रहती है। विना इसके केवल क्रियार्थक या कारकार्थक पद विवक्षित अर्थ का बोध नहीं करा सकते। कितनी ही जगह ऐसे पद श्रुत न रहने पर भी वक्ता के तात्पर्य विषयभूत अर्थ की उपपत्ति के लिए उनकी कल्पना करके अन्यव बोध करना पड़ता है। अभिधान का अर्थ है अन्वय और उसकी अनुपपत्ति का अर्थ है अन्वयबोधाभाव। अभिधानानुपपत्ति का अर्थ होगा अन्वयबोधाभाव, जैसे, जब हम वाक्य के एक देश (एक भाग) को सुन लेते हैं, किन्तु अन्य देश (अन्य भाग) नहीं सुनते अर्थात् उस एक पद के या अन्य कुछ भाग के अन्वय की अनुपपत्ति होने पर उस पद के साथ अन्वित होने योग्य किसी दूसरे पद की कल्पना (अध्याहार) करते हैं। इसी अध्याहार रूप कल्पना को अभिधानानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति कहते हैं।[120] जैसे कोई व्यक्ति व्यग्रता से अथवा अन्य किसी कारण से "द्वार-द्वार" इतना ही कहके चुप हो जाता है। इस समय वहाँ की परिस्थिति का अवलोकन कर उस वक्ता के तात्पर्य विषय भूत अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिए "द्वार" इस कर्मवाचक पद को इस समय "विधेहि" "लगाओ-बन्द करो" इस क्रिया वाचक पद की ही आकांक्षा है। यह समझकर "विधेहि" पद का अध्याहार करके उस वाक्य को पूर्ण किया जाता है। यहाँ अर्थ का अथवा शब्द का अध्याहार उपपादक और बोध जिसका फल है ऐसा शब्द प्रयोग उपपाद्य है। इसी प्रकार "विश्वजितोयजेत" – "विश्वजित यज्ञ करे" इस वाक्यैक देश को श्रवण करने पर उस योग की सफलता सिद्ध करने के लिए "स्वर्गकाम" अर्थात् "स्वर्ग की इच्छा करने वाला" इस पद का अध्याहार कर लिया जाता है।[121] श्रुतार्थापत्ति के दो भेदों में से एक अभिधानानुपपत्ति का वर्णन हो चुका है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, AAIS(USA)

जहाँ पर वाक्य से ज्ञात हुआ अर्थ अनुपपन्न है अर्थात् ज्ञात होने पर भी वाक्य से जहाँ प्रमाणान्तर-विरुद्ध अन्य अर्थ की कल्पना होती है, वहाँ पर वाक्यार्थ से बहिर्भूत अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। इसी कल्पना को अभिहितानुपपत्ति कहते हैं। जैसे "स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत"– "स्वर्ग की कामना रखने वाला (स्वर्गेच्छु) पुरुष ज्योतिष्टोमयाग (यज्ञ) करे।" इस श्रुति वाक्य का आशय यह है कि "ज्योतिष्टोमयज्ञ स्वर्ग का साधन है।" परन्तु ऐसा ज्ञात नहीं होता, क्योंकि क्रिया क्षणिक होती है और देवता के उद्देश्य से हविः प्रक्षेप रूप क्रिया ही यज्ञ है। ज्योतिष्टोमयज्ञ क्षणिक है क्योंकि यज्ञ होते ही वह कर्म समाप्त (नष्ट) हो जाता है। अनुभव में याग के समाप्त होते ही यजमान स्वर्गस्थ हुआ दिखाई नहीं देता। अतः स्वर्ग का साधन ही जब ऐसा विनाशी है तो उससे स्वर्ग का साधन किस प्रकार होगा? कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य नहीं हो सकता। इस प्रकार से श्रुत्यर्थ जो कि श्रुति से बताया गया है– याग स्वर्ग का साधन है, अनुपपन्न होता है। इसलिए श्रुत्यर्थ की उपपत्ति के लिए वाक्यार्थ से बहिर्भूत अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। वह पदार्थ अपूर्व ही है। यद्यपि यज्ञ विनाशी है तथापि वह अपने स्थिति क्षण में ही (उत्पन्न होते ही) स्वर्ग के साधन भूत एक विलक्षण अपूर्व (अदृष्ट) को उत्पन्न करता है, तब नष्ट होता है। यह अपूर्व याग और स्वर्ग का मध्यवर्ती व्यापार है। उस व्यापार से युक्त हुए याग से कालान्तर में स्वर्ग रूप फल प्राप्त हो सकता है, जिससे "याग स्वर्ग का साधन है" इस श्रुत्यर्थ की अनुपपत्ति नहीं हो पाती, क्योंकि व्यापार के कारण व्यापारवान साधन की अन्यथासिद्धि नहीं होती। यहाँ पर योग की स्वर्ग साधनता उपपाद्य है और अन्य प्रकार उसकी अनुपपत्ति से अपूर्व की कल्पना उपपादक है। यहाँ पर भी स्वर्ग साधनत्व दृष्ट नहीं किन्तु श्रुत है।

नैयायिकों द्वारा प्रतिष्ठापित केवलान्वयि, केवल व्यतिरेकि और अन्वयव्यतिरेकी अनुमान भेदों में से वेदान्ती व्यतिरेकि अनुमान को नहीं मानते। केवलान्वयि भी उनको मान्य नहीं। वे अनुमान को अन्वयी ही मानते हैं। ऐसा मानने का कारण यह है कि वे अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार करते हैं। अनुमान से अर्थापत्ति को भिन्न बताते हुए परिभाषाकार ने कहा है कि अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। अनुमान व्याप्ति के आधार पर सम्पन्न होता है। अन्वयव्याप्ति से युक्त अन्वयी अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव हो नहीं सकता, कारण जो-जो दिवाअभोजी रहते हुए भी पुष्ट रहता है वह-वह रात्रि भोजी होता है। ऐसा सहचार दर्शन अन्वयरूप से लब्ध नहीं है और इसलिए मोटापन और रात्रि भोजन में अन्वय व्याप्ति को ग्रहण नहीं किया जा सकता। साधन से साध्य की अनुमिति अन्वय व्याप्ति से ही होती है। साध्याभाव और साधनाभावरूप व्यतिरेक व्याप्ति से नहीं। ऐसा पूर्व से सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए व्यतिरेकी अनुमान में भी अर्थापत्ति का अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता। फिर अनुभव भी इस बात का साक्षी है कि अर्थापत्ति प्रमाण से जो रात्रि भोजन का ज्ञान होता है वह यदि अनुमान से हुआ होता तो "मैं रात्रि भोजन का अनुमान करता हूँ" ऐसा अनुव्यवसाय हुआ होता। परन्तु ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता, वरन् "दिवा" अभोजी पुष्ट दिखने वाले पुरुष की पुष्टता से उसके रात्रि भाजनत्व की कल्पना करता हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय होता है। अतः अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानना चाहिए।[122] अर्थापत्ति प्रमाण की सिद्धि हो जाने पर व्यतिरेकी अनुमान व्यर्थ हो जाता है। नैयायिक व्यतिरेकी अनुमान से होने वाले ज्ञान को अनुमिति ज्ञान मानते हैं, वह वस्तुतः अनुमिति ज्ञान नहीं वरन् अर्थापत्ति ज्ञान ही है।[123]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुपलब्धि प्रमाण

अनुपलब्धि द्वारा हमें किसी विषय के अभाव का साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है। अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण वेदान्त परिभाषाकार ने इस प्रकार दिया है—

"ज्ञानकरणाजन्या भावानुभावा साधारण कारणमनुपलब्धि रूपं प्रमाणम्। अनुमानजन्यातीन्द्रियाभावानुभव हेतावनुमानावति व्याप्ति वारणाय अजन्यान्त पदम्। अदृष्टादौ साधारण कारणेऽति व्याप्ति वारणाय असाधारणेति पदम्। अभावस्मृत्यसाधारण हेतु संस्कारेऽतिव्याप्ति वारणाय अनुभवेति विशेषणम्।"[124]

ज्ञानरूप करण से उत्पन्न होने वाला जो अभाव का अनुभव है उसके असाधारण कारण को ही अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। अनुमान प्रमाण से उत्पन्न होने वाला जो अतीन्द्रिय अभाव का अनुमिति रूप अनुभव है उसका कारण अनुमान आदि होता है, उसमें अतिव्याप्ति के निरसन के लिए अनुपलब्धि लक्षण में "ज्ञानकरणाजन्य" यह पद दिया गया है। अर्थात् जिस प्रकार अनुमिति प्रमा में व्याप्ति ज्ञान, उपमिति प्रमा में सादृश्य ज्ञान तथा शाब्द प्रमा में पद ज्ञान करण होते हैं और उनसे अनुमिति, उपमिति एवं शाब्द प्रमा होती है उस प्रकार अभाव प्रमा नहीं है क्योंकि अभाव का अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा सम्पन्न नहीं होता। इसीलिए इसको ज्ञानकरणाजन्य (अन्यज्ञान जिसके कारण न हों) कहा गया है। अदृष्टादि साधारण कारणों में अतिव्याप्ति कारण के लिए असाधारण विशेषण का लक्षण में निवेश किया गया है। स्मृति के असाधारण कारण संस्कार में लक्षण की अव्याप्ति न हो इसलिए अनुभव पद दिया गया है।

प्रत्यक्ष ज्ञान में इसका लक्षण नहीं जाय इसीलिए इसमें "ज्ञानकरणाजन्य अनुभवासाधारणकारण" इतना ही न कह कर उसमें "अभावानुभव" पद और जोड़ा गया है। क्योंकि अभाव प्रत्यक्ष ज्ञान का करण प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है। अर्थात् घट ज्ञानाभाव के कारण घटाभाव का ज्ञान होता है। उदाहरणस्वरूप "यदि अत्र भूतले घटः स्यात्, तर्हि उपलभ्यते नोपलभ्यते तस्मान्नास्ति" —यदि इस भूतल पर घट होता तो दिखाई देता किन्तु दिखाई नहीं देता इसलिए वह नहीं है—इसी प्रकार अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अतः इसे प्रत्यक्ष ज्ञान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। अनुमान आदि प्रमाणों के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि घटादि पदार्थों के अभाव का ज्ञान जिस प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण से होता है वैसे ही अतीन्द्रिय धर्माधर्म आदि पदार्थों का अभाव भी अनुपलब्धि से ही ज्ञात हो सकता है। अतः उभयत्र अनुपलब्धियों के समान होने पर ज्ञानकरणाजन्य पद का कोई प्रयोजन नहीं है।

इसी बात का समाधान करने के लिए अनुपलब्धि की व्याख्या परिभाषाकार ने इस प्रकार की है—

"धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्त्वेऽपि तदभावानिश्चयेनयोग्यानुपलब्धेरेवाभावग्राहकत्वात्"[125] धर्माधर्म की अनुपलब्धि होने पर उनके अभाव का निश्चय नहीं हो पाता इसलिए योग्यानुपलब्धि ही अभावग्राहक (अभाव की ज्ञापिका) है।

योग्यानुपलब्धि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए परिभाषाकार ने आगे कहा है कि अनुपलब्धि का अर्थ है ज्ञानाभाव। उपलब्धि को ज्ञान कहते हैं और उपलब्धि (ज्ञान) के अभाव को अनुपलब्धि। इस अभाव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA).

में योग्यता कैसी है? इसी के समाधान में वेदान्ती कहता है– "अनुपलब्धेर्योग्यता च– तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसज्जित प्रतियोगित्वम्"– अर्थात् अभाव के प्रतियोगी की तर्क से अनुपलब्धि की उपलब्धि की प्राप्ति कर सकना ही अनुपलब्धि की योग्यता है। तात्पर्य यह है कि तर्कित प्रतियोगी के सत्त्व (अस्तित्व) से प्राप्त हुआ प्रतियोगित्व ही अनुपलब्धि की योग्यता है, अर्थात् "यदि यहाँ होता" इस रीति से तर्कित अभाव के प्रतियोगी का सत्त्व उसके योग से अनुपलब्धि का प्रतियोगी होता तो "वह उपलब्ध हुआ होता" –इस रीति से प्राप्त होता है। इसी ज्ञान को योग्यता कहते हैं। जिसका अभाव ग्रहण किया जाता है उसके प्रतियोगी के अधिकरण में कल्पित (कदाचित हुआ हो इस आकार में कल्पना किया हुआ)–सत्त्व (सत्ता) के योग से अनुपलब्धि का प्रतियोगी रूप उपलम्भ अर्थात् उपलब्धि (तो दिखाई देता, इस ज्ञान के योग्य होना) ही अनुपलब्धि की योग्यता है। उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है– जैसे, स्पष्ट प्रकाश वाले भूतल पर– "यहाँ यदि घट हो ते दिखाई देता" ऐसा कह सकते हैं, पर "जब वह नहीं दिखाई देता तो नहीं है।" इस प्रकार के घटाभाव का जो स्पष्ट प्रकाश से युक्त भूतल पर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है। किन्तु अंधकार में यदि ऐसा तर्क किया जाता– "घट होता तो दिखाई देता" पर ऐसा उपादान सम्भव नहीं क्योंकि अंधकार में घट का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिए वहाँ पर स्थित घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि द्वारा नहीं होता। इसी प्रकार पिशाच का प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर "स्तम्भ में" यदि वह होता तो उसका स्तम्भ के समान ही प्रत्यक्ष हुआ होता, परन्तु वह होता ही नहीं, इसलिए स्तम्भ में पिशाच का अभाव योग्यानुपलब्धि द्वारा नहीं हो सकता। "आत्मा में भी धर्माधमार्दि यदि होते तो दिखाई देते, ऐसा ज्ञानापादन नहीं हो सकता क्योंकि धर्माधर्म आदि पदार्थ परोक्ष होने के कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष योग्य नहीं होते इसलिए उनके अभाव का ज्ञान भी योग्यानुपलब्धि द्वारा नहीं होता। सारांश यह है कि जिन पदार्थों में इन्द्रिय प्रत्यक्ष की योग्यता रहती है उन्हीं के अभाव को योग्यानुपलब्धि द्वारा जाना जा सकता है। अतीन्द्रिय परोक्ष या कल्पित पदार्थों का इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण उनका अभावकामी ज्ञान अनुमानादि अन्य प्रमाणों से ही होता है। केवल अनुपलब्धि अभाव के प्रत्यक्ष में कारण नहीं होती, वरन् प्रत्यक्ष योग्य अनुपलब्धि ही अभाव प्रमाण कही जाती है।[126]

अभाव चार प्रकार का होता है– (1) प्रागभाव, (2) प्रध्वंसाभाव, (3) अत्यन्ताभाव, और (4) अन्योन्याभाव।

मृत्पिण्डादि कारणों में घट रूप कार्य का उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव है वह प्रागभाव कहलाता है। वह "भविष्यति"–अर्थात् होगा। इत्याकारक प्रतीति का विषय होता है।

मुग्दर प्रहार के पश्चात् जो अभाव होता है वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। नैयायिक इसको सादि और अनन्त मानते हैं परन्तु वेदान्ती नहीं, कारण ऐसा मानने पर प्रध्वंसाभाव और ब्रह्म दो अविनाशी मानने पड़ेंगे।

जहाँ पर जिस वस्तु की तीनों कालों में प्रतीति न होती हो वहाँ उस वस्तु का अत्यन्ताभाव होता है, जैसे वायु में रूप का अभाव।

यह नहीं है, ऐसी प्रतीति का विषय जो अभाव है वह अन्योन्याभाव कहलाता है, जैसे, यह घट पट नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सन्दर्भ-सूची

1. "अनधिगताबाधित विषय ज्ञानत्वम् प्रमात्वं", वेदान्त-परिभाषा, अध्याय 1.
2. "प्रमाकरणं प्रमाणम्", वेदान्त-परिभाषा, अध्याय 1.
3. तैत्तिरीय उपनिषद्, 2.1.
4. वही.
5. "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति", तै.उ. 2.1.
6. छान्दोग्य उपनिषद्, 4.1.1. "वाचारम्भणं विकारो नामधेषम्".
7. प्रश्नोपनिषद्, 5.5.
8. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4.4.21.
9. नेह नानास्ति किंचन.
10. "बोधं बोधं प्रति विदितं", केन उपनिषद्, 2.4.
11. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 1.3.
12. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 2.8. से 16.
13. वही, 4.20 और कठोपनिषद् 2.3.9. (कुछ अन्तर)
14. केन उपनिषद्, 1.6.
15. कठोपनिषद् 2.1.1. (पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयंभू)
16. वही, 2.3.12.
17. कठ उपनिषद्, 1.2.9.
18. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.13.2.
19. वही, 6.8.2.
20. वही, 6.1.4.
21. ब्रह्मसूत्र शां.भा. 1.1.2.
22. वही (कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं कर्म)
23. वही.
24. वही, 1.1.4. (प्रत्यक्षादि प्रमाण विषय वस्तु ज्ञान वद्वस्तु तन्त्रा)
25. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 2.2.29.
26. वही 1.1.4. (वेद्यवेदितृवेदनाभेदः)
27. वही, 2.2.28. (विज्ञानस्योत्पत्तिप्रध्वंसानेकत्वादिविशेषवत्त्वाभ्युपगमात्, अतः प्रदीपवाद्विज्ञानस्यापि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्माभिः प्रसाधितम्).
28. माण्डूक्य कारिका, शां.भा., 4.1.
29. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन्, भाग 2, पृ. 482.
30. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा., 3.3.1. (प्रस्तावना)
31. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 2.1.18.
32. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, भाग 1, पृ. 484.
33. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., प्रस्तावना (तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च).
34. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 1.1.2. पृ. 38.
35. वही (न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादव एव प्रमाण ब्रह्म जिज्ञासायाम्, किन्तु श्रुत्यादयो नुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम् अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य) पृ. 39.
36. श्रीमद्भगवद्गीता, शां.भा. 2.21. पृ. 46 (शास्त्राचार्य उपदेश शमदमादि संस्कृत मन आत्मदर्शने करणम् तथा च तदधिगमाय अनुमाने आगमे च सति ज्ञानं न उपपद्यते इति साहसम् एतत्).
37. वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृ. 18 (तानिच प्रमाणानि षट्).
38. श्रीमद्भगवद्गीता, 2.14 और उस पर शांकरभाष्य.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. Archive.org

39. वहीं.

40. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 2.2.28. पृ. 447 (उपलभ्यते हि प्रति प्रत्ययं बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यं घटःपट इति).

41. The Six Ways of Knowing, D.M. Datta, Page 98 (In epistemology Samkara and many of his followers advocate a theory of direct realism, which chiefly destinguishes the Advaitins from their opponents, the Buddhists).

42. केन उपनिषद्, शां.भा. 1.3. (स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यम्).

43. वही, 1.3.

44. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 2.3.32. (तस्माद्दास्यावधानानवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्वन्मनः)

45. बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.5.3.

46. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 1.1.9.

47. श्रीमद्भगवद्गीता,, शां.भा. 2.67.

48. केन उपनिषद्, शां.भा. 1.6. (मनः सर्वकरण साधारणं).

49. ब्रह्मसूत्र, शां.भा 1.1.2. पृ. 41 (स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि। सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मण इदं ब्रह्मणा संबद्धं कार्यमिति गृह्येत।).

50. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा. 2.1.20 पृ. 493.

51. वही, पृ. 474 (न अग्निना शीत आदित्यो न तपति इति वा दृष्टान्त शतेनापि प्रतिपादयितुं शक्यम्। न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते).

52. श्रीमद्भगवद्गीता, शां.भा. 18.66. पृ. 473.

53. वेदान्त परिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, प्रयोजन परिच्छेद, 356. (पूर्वाचार्याणामयमाशयः। संविदापरोक्ष्यं न करण—).

54. विशेषोत्पत्तिनिबन्धनम् किन्तु प्रमेय विशेषनिबंधनमित्युपादितम्। अन्येषां त्वेवमाशयः करणविशेषनिबन्धनमेव ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वं, न विषयविशेष-निबन्धनम्

55. पंचपादिका, पृ. 57.

56. वही, पृ. 58.

57. वही, विवरण, प्रकाशात्मा, पृ. 403.

58. कल्पतरु परिमल, अप्पयदीक्षित, पृ. 55.

59. भामती, 1.1.1. पृ. 57. (न चैष साक्षात्कारो शब्दस्य प्रमाणस्य फलम् अपितु प्रत्यक्षस्य तस्यैव तत्फलत्वनियमात्। अन्यथा कुटजबीजादपि वरांकुरोत्पत्तिप्रसंगात्).

60. वेदान्तकल्पतरु 1.1.1. पृ. 55-56. (तत्रापरोक्षप्रमाकरणादेव तत्साक्षात्कारः। शब्दस्तु नापरोक्षप्रमाहेतुः क्लृप्तः).

61. कल्पतरुपरिमल, 1.1.1. पृ. 56. (स्वाविषयविषयकज्ञानाजन्यंज्ञानत्वं ज्ञानापरोक्ष्यमिति निर्वक्तव्यम्).

62. कल्पतरुपरिमल, 1.1.1. पृ. 56.

63. वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृ. 37.

64. वे.प. प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृ. 41 (अहं सुखी इत्यादि ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्).

65. वही. पृ. 71 (तत्र प्रत्यक्षं द्विविधम् सविकल्प निर्विकल्पक भदात्).

66. वे.प.पृ. 88.

67. वही.

68. वही, पृ. 102.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

69. वही, पृ. 105.
70. वही, पृ. 177-180.
71. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा. 2.1.20. पृ. 494
72. वही, 1.2.1. पृ. 53 (न प्रत्यक्षानुमानयोर्विरुद्धाव्यभिचारिता, प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य).
73. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 1.1.6. पृ. 349.
74. वही, 2.1.4. पृ. 344.
75. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा. 2.4. पृ. 883.
76. गौडपादकारिका, शां.भा. 2.4. पृ. 86.
77. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 2.1.11. पृ. 357. (सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसंगः...).
78. वही, (श्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्थाभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणं तर्कणेव वाक्यवृत्तिनिरूपणरूपेणक्रियते).
79. वही, अनुमान परिच्छेद, पृ. 135 (अनुमितिकरणमनुमानम् अनुमितिश्चव्याप्तिज्ञानजन्या).
80. वही, पृ. 137 (तत्संस्कारोऽन्तरव्यापारः).
81. वेद प. अनुमान परिच्छेद पृ. 146.
82. वही, पृ. 148., 149.
83. वही, पृ. 151 (अवयवाश्च त्रय एव प्रसिद्धाः).
84. वे.प., पृ. 226-230.
85. वेदान्त परिभाषा, पृ. 231. न चेदं प्रत्यक्षेणं संभवति, गोपिण्डस्य तदेन्द्रियासन्निकर्षात्।
86. शिखामणि, पृ. 228, न च गोविसदृश मभ्युपगमात्।
87. वही, पृ. 231-233. (1) नाप्यनुमानेन गवयनिष्ठगोसादृश्य स्यात्लिंगत्वात्।
(2) नापि "मदीयागौरेतद्गवयसदृशी। .....इतिवाचयम्।
88. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 2.1.6. पृ. 349 (रूपाद्याभावाद् हि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः लिंगाद्यभाबाच्चं नानुमानादीनां आगममात्रं समधिगम्य एवं त्वयमर्थो।)
89. केन उपनिषद्, शां.भा. 1.4. (प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणेर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः आगमेन तु शक्यते एव प्रत्याययितुम्).
90. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 1.1.3. पृ. 43. (महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोयबृहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थवि द्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म।).
91. वही, पृ. 45. (अप्रत्यनेनैव लीलान्यायेन पुरुष निःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः संभवः).
92. वही, 1.3.29 (वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम्.)
93. वही.
94. ब्रह्मसूत्र, शां.भा 1.1.3. पृ. 45. (ऋग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादि कारणं ब्रह्माधिगम्यते).
95. श्रीमद्भगवद्गीता, शां.भा. 3.15. पृ. 91 (ब्रह्मवेदः स उद्भवः कारणं यस्य तत् कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि).
96. वही, पृ. 91.
97. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 2.1.1. पृ. 340

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिप रूपविषये).

98. वही, 1.3.28. पृ. 248.

99. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 2.1.1. पृ. 338 (विप्रतिपत्तौ च स्मृतिनाम् अवश्य कत्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे च श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणम्).

100. वही. 1.1.4. पृ. 63.

101. वही, 2.1.4. पृ. 344. (श्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिध्यनात्).

102. वही, 1.1.4. पृ. 60. (श्रुतयोमोसप्रतिबन्ध निवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति).

103. केन उपनिषद्, शां.भा. 2.3.

104. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा. 1.4.7. पृ. 206. (आत्मनि प्रकृत संख्यापूरणभ्रमायोहवत्).

105. बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.4.10. पृ. 243.

106. वही, पृ. 255 (विज्ञानस्य च मिथ्याज्ञाननिवर्तकत्वव्यतिरेकेणाकरकत्वमित्यवोचाम। न च वचनं वस्तुतः सामर्थ्यजनकम्। ज्ञापकं हि शास्त्रं न कारकमिति स्थितिः).

107. Revelation and Reason is Advaita Vedanta, K. Satchidananda Murty, p. 103.

108. वे.प. आगम परिच्छेद, पृ. 171. (पदार्थानां परस्पर जिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकांक्षा)

109. वही, पृ. 181. (योग्यता च तात्पर्यविषयी भूत संसर्गाबाधः).

110. वही, पृ. 183. (आसत्तिश्चाव्यवधानेनः पद जन्यपदार्थोपस्थितिः).

111. वे.प. आगम परिच्छेद, पृ. 227 (तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम्).

112. वही. पृ. 187 (पदार्थश्च द्विविधा-शक्योलक्ष्यश्चेति).

113. वही, पृ. 204.

114. वेदान्तं परिभाषा, पृं. 307-309.

115. वही, पृ. 310, रात्रिभोज ..... प्रयोगः। मणिप्रभा—पृ. 310, अर्थकल्पना ..... लक्षणत्वसति।

116. वही, पृ. 310. साचार्थापत्ति ..... चेति.

117. वही, पृ. 311. तत्र दृष्टार्था ..... कल्पयतीति.

118. वही, पृ. 311. श्रुतार्थापत्ति ..... कल्पयति.

119. वही, पृ. 311. श्रुतार्थापतिश्चद्विविध ..... उपपत्तिश्च.

120. वही, पृ. 311. तत्र, यत्र ..... पदाध्याहारः।

121. वही, पृ. 313. अभिहिता ..... कल्प्यते।

122. वही, पृ. 314. न चेयमर्था ..... कल्पयामिति।

123. वही, पृ. 315. एवमर्थापत्ते ..... कल्पयामीति।

124. वही, पृ. 288.

125. वही, पृ. 293.

126. वही, पृ. 318-319; अनुपलब्धेर्योग्यता ..... गम्यत्वम्।

■

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय 6

भ्रम-सिद्धान्त

जहाँ जो वस्तु नहीं है वहाँ उसका निश्चयात्मक ज्ञान एवं जो जिस प्रकार का नहीं है उसे वैसे निश्चित करना भ्रम अथवा विपर्यय है। रस्सी सर्प प्रतीत होती है, सीप चांदी दिखाई देती है, मरुस्थल में जल का आभास होता है, आदि। भारत के लगभग सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने इसके विषय में विचार किया है और उस सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। इन भ्रान्तिविषयक सिद्धान्तों को "ख्यातिवाद" कहते हैं। ख्यातिवाद के अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए आचार्यों ने अन्य सिद्धान्तों का खण्डन भी किया है।

शंकराचार्य का भ्रान्तिविषयक सिद्धान्त "अनिर्वचनीयख्याति" कहलाता है। उसे भली-भाँति समझने के लिए हमें विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित भ्रम-सिद्धान्तों पर विचार करना होगा और उन सिद्धान्तों की दुर्बलता भी समझनी होगी। हम उनका अलग-अलग विवेचन करेंगे।

(1) अख्यातिवाद

अख्यातिवाद का सिद्धान्त प्रभाकर मीमांसकों का है। उन्होंने उसे "विवेकख्याति" नाम भी दिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी ज्ञान सत्य हैं। भ्रम किसी मिथ्या वस्तु का ज्ञान नहीं है, वरन् दो वस्तुओं के पृथक् ज्ञान को एक दूसरे से गड़बड़ा देने से होता है। रज्जु में सर्प-ज्ञान को भ्रम कहते हैं। यहाँ हमें रज्जु का प्रत्यक्ष और सर्प का स्मृति ज्ञान होता है। यहाँ विवेक न रह जाने पर हम रज्जु को ही सर्प मान लेते हैं। यह भ्रम किसी दोष के कारण होता है। "प्रभाकर" इसे "स्मृति-प्रमोष" अर्थात् स्मृति में बाधा या आवरण उत्पन्न होना मानते हैं। उनके अनुसार किसी ज्ञान को मिथ्या मानना उसे ज्ञान न मानने के समान है।

यह मत मान्य नहीं हो सकता। यदि सर्प को हम स्मृति मानें तो प्रश्न होगा कि वह हमें दिखाई क्यों देता है। यदि स्मृति होते हुये भी दिखाई देना मानें तो स्मृति और प्रत्यक्ष में अन्तर नहीं रहेगा।

यदि प्रभाकर मीमांसक यह मानें कि भ्रम के समय स्मृति का सर्प दिखाई नहीं देता है, तो यह अनुभव विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त स्मृति का अनुभव जैसा होता है वैसा ही सर्प प्रतीत होना चाहिए। उसे सामने मान कर हम डर नहीं सकते हैं।

स्मृति का सर्प परिचित होता है और भ्रम का सर्प अपरिचित है। इस कारण हम यह नहीं मान सकते कि हमें स्मृति का सर्प दिखाई देता है। इसलिए नैयायिक और वेदान्ती यही मानते हैं कि भ्रम के समय शुक्ति (इदं रूप में) और चांदी दोनों हमारी चेतना में आते हैं, तभी हम कहते हैं कि "यह रजत है।" न रजत स्मृति रूप है और न कहा जा सकता है कि केवल शुक्ति हमारी चेतना में आती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गंगेश का मत है कि भ्रांति में हमें दोनों वस्तुओं का ज्ञान होता है, एक का नहीं। शुक्ति का ज्ञान सामान्य प्रत्यक्ष रूप में होता है और रजत का ज्ञान "ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष" से होता है।

इसके अतिरिक्त अख्यातिवाद का सिद्धान्त इसलिए भी त्रुटिपूर्ण है कि वह ज्ञान व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त नहीं कर सकता। एक ही वस्तु में शुक्ति और रजत का सत्य ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता। यदि दोनों को आगे पीछे मानें, तो न शुक्ति ज्ञान कर्म के लिए प्रेरित करेगा क्योंकि वह लोभ उत्पन्न नहीं कर सकता और न उसके बाद होने वाला स्मृति रूप रजत ज्ञान कर्म के लिए प्रेरित कर सकता है, क्योंकि वह स्मृति रूप है, प्रत्यक्ष रूप नहीं।

(2) विपरीतख्यातिवाद

यह मत भाट्टमीमांसकों का है। उनका मत है कि किसी-किसी समय मिथ्या विषय भी प्रत्यक्ष सा भासित होने लगता है। जब हम रस्सी में सर्प का प्रत्यक्ष करते हैं और कहते हैं कि "यह सर्प है" तो यहाँ उद्देश्य और विधेय दोनों यथार्थ हैं जो रस्सी वर्तमान है वह साँप की कोटि में ले जाती है। वस्तुतः सत्ता दोनों की ही है। भ्रम इस बात को लेकर होता है कि हम दो यथार्थ किन्तु पृथक् वस्तुओं में उद्देश्य-विधेय का सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। भ्रम इसी सम्बन्ध या संसर्ग को लेकर होता है, न कि विषयों को लेकर जो वास्तविक पदार्थ हैं। ऐसे भ्रम के कारण लोग विपरीत आचरण करते हैं। इसे विपरीतख्यातिवाद इसीलिए कहा जाता है कि इसके कारण अकार्य में कार्यता का भान होता है।[1]

कुमारिल भट्ट का मत वास्तव में नैयायिकों के भ्रम विषयक मत से मिलता-जुलता है। अतः इसकी समीक्षा भी नैयायिकों के भ्रम विषयक सिद्धान्त के समान ही समझनी चाहिए।

(3) असत्ख्यातिवाद

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक माध्यमिक हैं। उनके अनुसार जिस वस्तु की भ्रान्तप्रतीति होती है वह असत् है। अतः असत् वस्तु का सत् के समान भासित होना असत् ख्याति है। यदि हमें चांदी का भ्रम है तो इसका अर्थ है कि बाह्य जगत् में चांदी नहीं है, फिर भी हमारी आँखों को चांदी की सत्ता प्रतीत होती है। इसलिए माध्यमिक सम्प्रदाय मानता है कि यथार्थ में वस्तु की कोई सत्ता नहीं होती है, फिर भी वह सत्यवत् प्रतीत होती है। समस्त जगत् की प्रतीति भी इसी प्रकार की है। उसे माध्यमिक शून्य कहते हैं। बाह्य जगत् की वस्तुएँ ही नहीं वरन् आन्तरिक विज्ञान भी शून्य है।

ज्ञाता विज्ञान और ज्ञेय बाह्य वस्तुएँ दोनों शून्य होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि किसी वस्तु का बोध कैसे होता है। माध्यमिक उसकी व्याख्या संस्कार से करते है। हम अपने संस्कारों के कारण बाहर वस्तु न होते हुए भी देखते हैं। संस्कार पूर्व प्रत्यक्ष के कारण निर्मित होते हैं और वह पूर्व प्रत्यक्ष भी उसके पूर्व संस्कार के कारण था। इस प्रकार संस्कार और प्रत्यक्ष अन्योन्याश्रित हैं और दोनों ही निःस्वभाव और शून्य हैं।[2] चन्द्रकीर्ति मध्यमकशास्त्र की एक कारिका पर टीका करते हुए लिखते हैं कि द्रष्टा के अभाव में द्रष्टव्य और दर्शन भी नहीं हैं। अतः विज्ञान, स्पर्श, वेदना और तृष्णा चतुष्टय भी नहीं है।[3] अतः अनुभव जगत् अज्ञानजन्य प्रतीतियों से उत्पन्न भ्रम मात्र है। उसमें सत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

जयन्त भट्ट इस मत का खण्डन करते हैं। उनका तर्क है कि यदि भ्रम की वस्तु किसी अन्य देश-काल में देखी हुई वस्तु है तो उसे विपरीत ख्याति मानना चाहिए। असत् ख्याति नहीं। दूसरी स्थिति में,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यदि भ्रम की वस्तु कुछ भी नहीं है, फिर भी दिखाई देती है, ऐसा असत्ख्यातिवादी मानते हैं तब तो आकाश-कुसुम दिखाई भी देना चाहिए। क्योंकि कोई अस्तित्वहीन वस्तु चेतना में नहीं आती, अतः उसका भ्रम भी नहीं हो सकता।

यदि माध्यमिक यह कहें कि अस्तित्वहीन वस्तुएँ वासनाभ्यास से चेतना में आ सकती हैं, तो वस्तुएँ न होने पर वासना ही निर्मित न होगी। किसी भी काल में वस्तुएँ न होने पर वासनायें उत्पन्न होना असंगत है।

प्रभाचन्द्र[5] का आक्षेप भी कुछ इसी प्रकार का है।

(4) आत्मख्यातिवाद

इस सिद्धान्त का प्रतिपादक बौद्धों का योगाचार सम्प्रदाय है। इनके दर्शन में क्षणिक विज्ञान मात्र की सत्ता स्वीकार की जाती है। इसके अतिरिक्त न कोई बाह्य पदार्थ है और न नित्य आत्म-तत्त्व। बाहर जो कुछ जगत् दिखाई दे रहा है वह हमारे विज्ञान का ही प्रक्षेप है। विज्ञान एक विशाल सागर के समान है जिसमें अविराम गति से लहरें उठती रहती हैं। इस तरंगायित विज्ञान में नाना रूप जगत् की प्रतीति होती है।

विज्ञान से बाहर कोई स्वतंत्र वस्तु न मान्य होने के कारण शुक्ति में रजत की भ्रांति का कारण शुक्ति नहीं मानी जा सकती। रजत की प्रतीति का कारण विज्ञान में स्थित वासनायें हो सकती हैं। अनादि अविद्या के कारण रजत की वासनायें उत्पन्न हुईं और वासना ही बाहर जगत् में रजत की भ्रांति का प्रक्षेप करती है। इस प्रकार भ्रांति का कोई बाहर कारण नहीं है वरन् वह आत्मगत है। योगाचार सम्प्रदाय भ्रांति को वासना के कारण विज्ञान के प्रक्षिप्त मानता है, इसलिए उसे आत्मख्यातिवाद कहते हैं। इस मत के अनुसार विज्ञान के रूप में शुक्ति और उस पर अध्यस्त रजत दोनों सत्य हैं किन्तु बाह्य पदार्थ के रूप में वे दोनों असत्य हैं।

इस मत में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि बाह्य पदार्थ न मानने के कारण यथार्थ ज्ञान और भ्रांति में भेद नहीं किया जा सकता। जैसे रजत की कल्पना मिथ्या है वैसे ही शुक्ति भी कल्पना है और मिथ्या है। मिथ्या शुक्ति पर मिथ्या रजत की भ्रांति नहीं कही जा सकती।

इसके अतिरिक्त यदि विज्ञान ही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के भेद से विद्यमान है और उसके बाहर कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है तो ज्ञान यही होगा कि "मैं रजत हूँ" किन्तु "यह रजत है" ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता।

अद्वैत वेदान्ती विद्यारण्य स्वामी ने इस मत का खण्डन किया है। रजत की भ्रांति में रजत की उत्पत्ति होती है या नहीं? एक विशेष की रजत होने के कारण क्या कह सकते हैं इसकी उत्पत्ति नहीं होती है अथवा अन्य सामान्य रजत के समान इसकी भी उत्पत्ति होती है। प्रथम विकल्प में उसका ज्ञान नहीं होना चाहिए। यदि उसकी सत्ता प्रतीत होती है तो उसकी उत्पत्ति अवश्य होनी चाहिए। यदि उत्पत्ति होती है तो बताना होगा कि वह विज्ञान से उत्पन्न होता है अथवा किसी वस्तु से? उसकी उत्पत्ति किसी वस्तु से नहीं कही जा सकती, क्योंकि योगाचार विज्ञान से स्वतंत्र किसी वस्तु की सत्ता नहीं मानते। यदि कहें कि ज्ञान से ही इसकी उत्पत्ति होती है तो बताना होगा कि वह शुद्ध ज्ञान से उत्पन्न होता है या अशुद्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ज्ञान से? विशुद्ध ज्ञान से उसकी उत्पत्ति इसलिये नहीं मानी जा सकती क्योंकि वह निर्वाण स्वरूप है। यदि कहें कि यह मलिन ज्ञान उत्पन्न होता है तो यह बताना होगा कि वह ज्ञान उसी भ्रान्त रजत से मलिन हुआ है अथवा किसी दूसरे ज्ञान से? पहला पक्ष सम्भव नहीं है। विज्ञान क्षणिक होने के कारण वह जिस क्षण उत्पन्न किया जायगा और जिस क्षण उत्पन्न होगा वे दोनों पृथक् होंगे। अतः रजत दिखाई न देगा। दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है। यदि दूसरे ज्ञान से रजन के भ्रान्त ज्ञान की उत्पत्ति मानें तो यह नहीं बताया जा सकेगा कि वह ज्ञान रजत की भ्रान्ति क्यों उत्पन्न करता है। यदि कहा जाय कि अशुद्ध ज्ञान से ही रजत की भ्रान्ति होती है तो उस ज्ञान का कारण रजत ही है या रजत से पृथक् कोई वस्तु? यदि रजत से ही वह ज्ञान उत्पन्न मानें तो रजत की सत्ता वास्तविक माननी होगी। इसे योगाचार सम्प्रदाय मानता नहीं है। यदि उस ज्ञान का कारण रजत नहीं है तो भ्रामक ज्ञान नहीं उत्पन्न होगा। अतः आत्मख्यातिवाद से भ्रान्ति की व्याख्या नहीं हो सकती।

(5) अन्यथाख्यातिवाद

भ्रम विषयक नैयायिकों का सिद्धान्त अन्यथाख्यातिवाद कहलाता है। उनके अनुसार भ्रान्ति की उत्पत्ति प्रस्तुत वस्तु और समझी वस्तु का गलंत संयोग है। "अन्यथा" का अर्थ है "अन्य प्रकार से" और "अन्य स्थान में"। भ्रम में ये दोनों ही बातें होती हैं। प्रस्तुत वस्तु अन्य प्रकार से दिखाई देती है और दिखाई देने वाली वस्तु अन्य स्थान में विद्यमान होती है।

शुक्ति और रजत दोनों ही सत् हैं; किन्तु दोनों का संयोग गलत है, इसलिए भ्रम है। शुक्ति को रजत समझ लिया जाता है और रजत अन्य स्थान अर्थात् बाजार में होता है। इसमें त्रुटि का कारण प्रत्यक्ष-कर्त्ता का मन है। बाहर वस्तुओं में कोई गड़बड़ी नहीं है। गंगेश का कथन है कि "भ्रम में हम एक सत् वस्तु को कोई दूसरी वस्तु मान लेते हैं जो अन्यत्र विद्यमान होती है।" वात्स्यायन और उद्योतकर इस त्रुटि का कारण मानसिक गड़बड़ी मानते हैं।

शुक्ति को देखकर रजत की स्मृति आ जाने से "ज्ञान-लक्षण" होता है। यह अलौकिक प्रत्यक्ष का एक प्रकार है। इस प्रकार नैयायिक रजत का प्रत्यक्ष भी सत्य मानते हैं। भ्रम और यथार्थ ज्ञान में अन्तर मानना आवश्यक है, इसलिए नैयायिक कहते हैं कि जो वस्तु व्यवहार में आवे वह सत् है और जो व्यवहार में न आवे वही असत् है, भ्रम है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप तो यह हो सकता है कि शुक्ति और रजत दोनों सत्य होने पर दोनों का सम्बन्ध मिथ्या कैसे हो सकता है? वह सम्बन्ध भी सत्य होगा और भ्रांति नहीं हो सकती है।

दूसरे, यदि सत्य कहीं अन्यत्र है तो हम उसका स्मरण मात्र कर सकते हैं; उसे प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। उसे अलौकिक प्रत्यक्ष का एक प्रकार "ज्ञानलक्षणप्रत्यक्ष" मानना त्रुटिपूर्ण है। क्या सभी स्मृतियाँ ज्ञानलक्षणप्रत्यक्ष होती हैं? यदि होती हैं तो उनमें कोई अन्तर नहीं होगा और यदि कुछ ही होती हैं तो उसका क्या कारण है यह बताना होगा। इसके अतिरिक्त इस असाधारण प्रत्यक्ष और अनुमान में भी भेद बताना होगा।

(6) सदसत्ख्यातिवाद

सांख्यदर्शन के अनुसार भ्रम एक अंश में सत् और दूसरे अंश में असत् है। इस प्रकार यह सत् और असत् का संयोग है। "यह रजत है" इस भ्रान्त ज्ञान में "यह" शुक्ति का वाचक है और "वह"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सत् है। "रजत" की प्रतीति असत् है, क्योंकि वहाँ रजत नहीं है फिर भी रजत दिखाई देता है। परीक्षा करने पर रजत का बोध भी हो जाता है, इसलिए वह मिथ्या है। इस प्रकार भ्रम में सत् और असत् दोनों वस्तुयें सम्मिलित होती हैं।

विज्ञानभिक्षु भी यही सिद्धान्त मानते हैं, किन्तु उनकी व्याख्या भिन्न प्रकार की है। उनके अनुसार रजत "सत्" है क्योंकि वह रजत-विक्रेता की दूकान पर मिलने वाली सत् वस्तु है। किन्तु शुक्ति में उसका आरोप "असत्" है। इस प्रकार रजत ही "सत्" और "असत्" दोनों है और उसका भ्रम ही सदसत्ख्याति है।

इस मत के अनुसार सांख्य रजत की प्रतीति असत् मानते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि यदि रजत असत् है तो वह दिखाई कैसे देता है? आकाश कुसुम या शशशृंग कभी देखे नहीं जाते। यदि असत् रजत भी दिखाई दे सकता है तो वह किस कारण? इसका स्पष्टीकरण सांख्यमत में नहीं किया गया है। असत् वस्तु के सत् प्रतीत होने का कारण मानसिक है या कोई बाह्य कारण है, यह बताना चाहिए।

विज्ञानभिक्षु रजत को ही सत् और असत् दोनों मानते हैं। मध्यम परिहार के नियम से यह स्वीकृत नहीं है। अन्यत्र विद्यमान रजत भेले ही सत् हो किन्तु शुक्ति में देखा गया रजत उन्हें असत् ही मान्य है। अतः उन्हें भी यह बताना होगा कि असत् वस्तु की सत् प्रतीति क्यों होती है?

(7) सत्ख्यातिवाद

रामानुज इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। प्राचीन सांख्य और प्रभाकर के मीमांसा दर्शन में भी यही मत माना गया है। इन के अनुसार शुक्ति में रजत की प्रतीति भ्रान्ति नहीं है। वह आंशिक सत्य है। यदि पूर्ण सत्य ज्ञात हो तो भ्रांति नहीं हो सकती। आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य बनाना ही भ्रम का निवारण है। सत्य का ज्ञान भ्रम का बोध नहीं करता, वरन् उसे पूर्णता प्रदान करता है।

रामानुज के अनुसार जगत् की सभी वस्तुयें त्रिवृत्तकरण या पंचीकरण से निर्मित हुई हैं। अतः उन सब में सभी पंचमहाभूतों के गुण विद्यमान हैं। उन का अनुपात भिन्न-भिन्न हो सकता है। सीप में जब हम पंचमहाभूतों के गुण उचित अनुपात में नहीं देख पाते, वरन् केवल वही गुण देखते हैं जिनसे रजत की उत्पत्ति होती है तो हम उस वस्तु को रजत मान लेते हैं। यदि हम वहाँ उपस्थित अन्य गुणों को भी देख लें तो हमें सीप का ज्ञान हो जाता है। अतः सीप को रजत समझना हमारा अधूरा ज्ञान है, भ्रम नहीं। सभी ज्ञान यथार्थ होते हैं— "यथार्थ सर्वविज्ञानम्"—भ्रम नाम का कोई ज्ञान नहीं है।

रामानुज और प्रभाकर में इस मत के विषय में कुछ भेद है। प्रभाकर दृष्ट शुक्ति और स्मृत रजत में भेद नहीं करते हैं। रामानुज शुक्ति में ही रजत के कुछ यथार्थ गुण मानते हैं। इसके अतिरिक्त प्रभाकर के अनुसार सत्य अर्थक्रियाकारी है। भ्रान्त रजत भी जब तक व्यवहार में कार्यकारी है, वह सत्य ही है। रामानुज ऐसा नहीं मानते। वे ज्ञान के प्रकाशात्मक पक्ष को महत्त्व देते हैं। अतः सत्ख्यातिवाद के यथार्थ समर्थक रामानुज ही हैं।

यह मत भी तर्क-संगत नहीं है। अन्य दार्शनिकों ने इसका खण्डन किया है। यदि भ्रम का विषय भी सत्य ही है तो वह भ्रम ही नहीं है। रामानुज स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि भ्रम ज्ञान नहीं होता है। ऐसा मानने से व्यवहार में कठिनाई आती है। यदि हम शुक्ति रजत लेकर रजत-विक्रेता से उसका आंशिक मूल्य प्राप्त करना चाहें तो उसे आंशिक सत्य मानकर वह कुछ भी मूल्य न देगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(IDSA)

मरुस्थल में प्रतीत होने वाले जल में आंशिक सत्यता कैसे मानी जा सकती है? संभव है पंचीकरण के कारण बालुका में जल का अंश भी विद्यमान हो किन्तु बालू में जल नहीं देखा जा सकता है। पंचीकृत वस्तु में पाँचों गुण अलग-अलग नहीं दिखाई देते हैं। यदि वे अलग हों तो निश्चय ही इतने सूक्ष्म होंगे कि उन्हें देखा नहीं जा सकता। अपंचीकृत पंचभूत अगोचर होने के कारण ही उनका पंचीकरण मानकर उन्हें स्थूल रूप में देखा जाता है। गोचर रूप धारण करने पर उनमें पृथक् तत्त्व नहीं देखे जा सकते। अतः बालू में जल का एक अंश सत्य रूप में देखना कुतर्क मात्र है।

इस के अतिरिक्त, यह विचित्र बात है कि बालू में जल के सूक्ष्म अंश दूर से स्पष्ट दिखाई देते हैं, वरन् वही प्रधान बन जाते हैं और निकट से देखने पर वे बिल्कुल नहीं दिखाई देते। यदि बालू में जल का सत्यांश है तो उसे निकट से अधिक स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। पुनः, बालू में अग्नि का भी अंश है। वह तो प्रकाशवान् होता है। उसे तो बालू में रात्रि के समय भी दिखना चाहिए किन्तु वह कभी नहीं दिखाई देता।

रामानुज के अनुसार शुक्ति में अग्नि तत्त्व रजत रूप भासित होता है। प्रश्न है कि अग्नि तत्त्व रजत ही क्यों दिखाई देते हैं वे दीपक या जुगनू रूप क्यों नहीं दिखाई देते? उनमें तो अग्नि स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

यह कहना उचित नहीं है कि शुक्ति में रजत प्रतीत होती है, वही अग्नि और रजत होने का प्रमाण है। इसमें अन्योन्याश्रय दोष है। शुक्ति में अग्नि होने से वह रजत भासित होती है और क्योंकि रजत भासित होती है, इसलिए शुक्ति में अग्नि का होना सिद्ध है।

शुक्ति और रजत में समानता से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि शुक्ति में रजत तत्त्व आंशिक रूप में विद्यमान है, क्योंकि ऐसा नियम नहीं है कि जहाँ समानता देखने में आवे वहाँ एक वस्तु में दूसरी वस्तु के कुछ अंश होने चाहिए।

रामानुज के अनुसार सभी ज्ञान सत्य हैं, भले ही वह आंशिक सत्य हो। कोई ज्ञान आंशिक सत्य होने का यह निहितार्थ है कि उस का शेष अंश असत्य है। यदि किसी वस्तु में असत्य का अंश अधिक है तब उसे असत्य या भ्रम ही मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त, सत्य और असत्य के अंश मिलाये नहीं जा सकते हैं।

अनिर्वचनीय ख्यातिवाद

अद्वैत-वेदान्त उपर्युक्त किसी सिद्धान्त से सहमत नहीं है। उसने इन सभी सिद्धान्तों का खण्डन किया है। उसका अपना मत अनिर्वचनीयख्यातिवाद कहलाता है। तुलना करने से स्पष्ट हो जायगा कि यही सिद्धान्त सर्वाधिक वैज्ञानिक और तर्कसंगत है।

शंकराचार्य ने भ्रम की व्याख्या अध्यास-सिद्धान्त से की है। उसी दृष्टि से उन्होंने अन्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित भ्रम सिद्धान्तों को देखा है। यद्यपि उन्होंने उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले आचार्यों का नाम नहीं लिया है, किन्तु सिद्धान्तों का उल्लेख अवश्य किया है। उनमें से पहला मत है "अन्यत्रान्यधर्माध्यासः"[6] अर्थात् एक में दूसरे के धर्म के आरोप को अध्यास कहते हैं। यह आत्मख्यातिवाद का सूचक है। इसके प्रतिपादक विज्ञानवादी हैं। इस मत में क्षणिक विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य कुछ नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है, तो भी अनादि अविद्या के कारण विज्ञान ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप में पृथक्-पृथक् भासित होता है। यही भ्रम है। विज्ञानरूप आत्मा का धर्म-आकर विशेष जो रजत आदि है उसकी बाह्य असत् शुक्ति आदि में प्रतीति ही अध्यास है।

"अन्यत्रान्यधर्माध्यास" न्याय और वैशेषिक मत का भी सूचक हो सकता है। उनका मत अन्यथाख्यातिवाद है। उनके मत में भ्रमस्थल से भिन्न बाजार आदि स्थान में अनुभूत रजत आदि की अन्यत्र शुक्ति आदि में प्रतीति अध्यास है। इस मत में भ्रम के आधार और आधेय दोनों बाह्यवर्ती हैं, मानसिक नहीं।

शंकराचार्य द्वारा उद्धृत दूसरा भ्रम-सिद्धान्त इस प्रकार है– "यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम"[7] अर्थात् जिसमें जिसका अध्यास है उसके भेद को न ग्रहण करना भ्रम है। यह मत सांख्य और मीमांसकों के अख्यातिवाद का सूचक है। इसके अनुसार "यह रजत है" इस प्रकार के भ्रम में दो ज्ञान होते हैं– "इदं" अंश का नेत्रों से प्रत्यक्ष ज्ञान और रजत आदि का स्मृति ज्ञान। ये दोनों ज्ञान सत्य हैं और इनके विषय भी सत्य हैं। उनके मत में कोई भी ज्ञान मिथ्या नहीं है। भ्रम का कारण अविवेक है और वही विवेक से बाधित होता है।

तीसरा मत है– "यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते"[8] अर्थात् जिसमें जिसका अध्यास है उसमें विरुद्ध धर्मत्व की कल्पना को अध्यास कहते हैं। यह मत माध्यमिकों का हो सकता है जिसे असत्ख्यातिवाद कहते हैं। उनके अनुसार शुक्ति में रजत का अध्यास है और रजत की कल्पना अत्यन्त असत् है।

शंकराचार्य इन तीनों मतों का विश्लेषण कर निर्णय निकालते हैं कि सभी मतों में "अन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरित"[9] अर्थात् अन्य में अन्य धर्म की प्रतीति रूप लक्षण का व्यभिचार नहीं होता है। यद्यपि सभी पक्षों में अधिष्ठान और अध्यारोप का किस प्रकार सम्बन्ध होता है, इस विषय में उनका विवाद है किन्तु अन्य से अन्य का अवभास होना सभी स्वीकार करते हैं।

शंकराचार्य अपनी परिभाषा इस प्रकार देते हैं– "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः"[10] अर्थात् स्मृति रूप पूर्वदृष्ट का अन्य (अधिष्ठान) में अवभास (प्रतीति) ही अध्यास है। इसमें भी एक अधिष्ठान माना गया है और उस पर एक अध्यारोप स्वीकार किया गया है। अधिष्ठान रूप शुक्ति है और उस पर अध्यारोपित रजत है। यह रजत स्मृतिरूप पूर्वदृष्ट है, किन्तु जिस समय अविद्या के कारण रजत सत्य प्रतीत होता है वह स्मृति नहीं प्रतीत होता है। उसे सत् नहीं कह सकते क्योंकि उसका बाध होता है। वह असत् भी नहीं है क्योंकि आकाश कुसुम जैसा न होकर प्रत्यक्ष दिखाई देता है। उसे सत् और असत् दोनों भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इन दोनों रूपों का परस्पर विरोध है। शंकर ऐसी वस्तु को अनिर्वचनीय मानते हैं जो न सत् है, न असत् और न उभयात्मक। भ्रम भी ऐसा ही होने के कारण अनिर्वचनीयख्याति कहलाता है। रजत एक अवभास है, इसलिए उसकी प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है।

प्रत्यक्ष ज्ञान में अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा बाहर निकल कर दृष्टा विषय का आकार धारण करती है जिससे विषय का आवरण नष्ट होता है और उसका ज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु जब शुक्ति आदि को देखने पर अन्तःकरण की वृत्ति शुक्ति रूप धारण करती है तो तिमिर आदि दोष के कारण अज्ञान का आवरण भंग नहीं होता। उसी समय पूर्वदृष्ट वस्तु का संस्कार उदित होकर रजत की स्मृति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आती है और शुक्ति की अविद्या क्षुब्ध होकर तमोगुण के कारण रजत की प्रतीति करती है। इस प्रकार भ्रमस्थल में रजत आदि विषय और उनका ज्ञान एक ही समय उत्पन्न होते हैं।

विद्यारण्य स्वामी ने भ्रम का विस्तृत विश्लेषण किया है। वे कहते हैं, अविद्या आवरण और विक्षेप रूपा है। दृष्टान्त में शुक्ति का न प्रतीत होना आवरण और रजत का भासित होना विक्षेप दोनों ही अविद्या के कार्य हैं। "यह रजत है" इस बोध में "इदं" अंश सीप में होता है और यह सत्य होता है, क्योंकि इसका बाध नहीं होता। सीप का यहपन और सत्यता असत् रजत को यहपन और सत्यता प्राप्त हो जाती है। जब हम रजत देखते हैं तो उसमें भासित होने वाला इदम् सीप का होता है। रजत में जो सत्यता भासित होती है वह भी सीप की होती है।

अविद्या सीप को सम्पूर्ण रूप से नहीं ढकती अर्थात् उसकी इदंता और सत्यता नहीं की जाती है। अविद्या का दूसरा कार्य विक्षेप हैं। उससे रजत की कल्पना उत्पन्न होतीं है। यद्यपि रजत स्वतः मिथ्या है किन्तु सीप की इदंता और सत्यता पाकर वह स्वयं सत्य प्रतीत होता है और हम कहते हैं– "यह रजत है"। अविद्या के नष्ट होने पर आवरण और विक्षेप दोनों नहीं रहते हैं। इससे "यह सीप है" इस प्रकार का बोध उत्पन्न होता है।[11]

अद्वैतवाद के इस अनिर्वचनीयख्यातिवाद पर रामानुज ने अनेक आपत्तियाँ उठाई हैं और उसे तर्कसंगत नहीं माना है। इसका कारण दृष्टिभेद है। रामानुज की आपत्तियाँ कहाँ तक उपयुक्त हैं, इस प्रश्न पर हम विचार करेंगे।[12]

रामानुज के अनुसार अनिर्वचनीयख्याति भी अन्यथाख्याति से पृथक् नहीं है। इस बात को मानना कि भ्रम की वस्तु अनिर्वचनीय है, इस तथ्य को भी स्वीकार करता है कि एक वस्तु अन्य वस्तु के समान भासित होती है। अनिर्वचनीय वस्तु भ्रम के समय सत् प्रतीत होती है।

अद्वैत-वेदान्त इसे स्वीकार नहीं करता। अनिर्वचनीयख्याति और अन्यथाख्याति में तालमेल नहीं है। अन्यथाख्याति के अनुसार सीप में चांदी की प्रतीति है वह बाजार आदि में अन्यत्र होती है। अनिर्वचनीयख्याति में यह माना जाता है कि रजत अन्यत्र नहीं होता है वरन् अविद्या के कारण विक्षेप से उत्पन्न होता है। अविद्या के रहने तक वह सत् प्रतीत होता है, किन्तु अविद्या के नष्ट होने पर रजत का बोध हो जाता है।

दूसरी आपत्ति यह है कि यदि भ्रम काल में वस्तु अनिर्वचनीय ज्ञान होती है, तो वह नहीं होगा और यदि कहें भ्रम काल में वह अनिर्वचनीय नहीं होता हैं किन्तु ज्ञान होने पर ही वैसा ज्ञात होता है, तब यह अन्यथाख्याति ही है क्योंकि भ्रम वस्तु उस समय सत् ही ज्ञात होती है।

इस आपत्ति में अनिर्वचनीय वस्तु में अनिर्वचनीयत्व का कोई स्थायी गुण मान लिया गया है, जब कि ऐसा नहीं है। एक ही वस्तु एक काल में सत् और दूसरे में असत् दिखाई देती है। वह न सत् दिखाई देते समय अनिर्वचनीय है और न असत् दिखाई देते समय। एक ही वस्तु सत् और असत् नहीं हो सकती इसलिए उसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

तीसरी आपत्ति यह हो सकती है कि कोई वस्तु सत् या असत् ही होगी, अनिर्वचनीय जैसी कोई वस्तु नहीं होती है, क्योंकि तर्क का माध्यम परिहार का नियम उसे स्वीकार नहीं करता है। शंकराचार्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कहते हैं कि तर्कसिद्ध न होकर भी अनुभव में आने के कारण ही अनिर्वचनीय है। यह "सर्वलोकप्रत्यक्षः" है।[14]

चौथी आपत्ति यह की जाती है कि हम जो कुछ देखते हैं वह सत् ही होता है, असत् ज्ञान या भ्रम ज्ञान जैसी कोई वस्तु नहीं है। इसके उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं— "मिथ्याप्रत्ययरूपः ..... सर्वलोकप्रत्यक्षः"[15] अर्थात् मिथ्याप्रत्ययरूप भ्रम सर्व सामान्य के अनुभव में आता है, अतः यह नहीं कह सकते कि भ्रम ज्ञान जैसा कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि भ्रम नहीं है, तो भ्रम निवृत्ति भी नहीं है, किन्तु व्यवहार में यथार्थ ज्ञान होने पर सभी जन स्वीकार करते हैं कि उस के पूर्व उन्हें भ्रम था।

पाँचवीं आपत्ति यह की जाती है कि भ्रम की वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती, इसलिए भ्रम की वस्तु का ज्ञान भी सम्भव नहीं है। यदि कहें कि भ्रम ज्ञान होने के बाद भ्रान्त रजत की उत्पत्ति हो जाती है, तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि विना रजत देखे उसका ज्ञान नहीं हो सकता। अनिर्वचनीयख्याति के समर्थक इसके उत्तर में कह सकते हैं कि भ्रम की वस्तु देख कर या न देख कर भ्रम नहीं होता। भ्रम का अधिष्ठान कुछ दूसरा ही होता है। उसे हम देखते हैं, जैसे भ्रान्त रजत के दृष्टान्त में हम सीप देखते हैं, किन्तु सीप के उन सभी धर्मों को ग्रहण नहीं कर पाते जिनके कारण हमें वह सीप रूप में ज्ञात हो। हम सीप के केवल उन्हीं धर्मों को ग्रहण कर पाते हैं जो रजत में भी विद्यमान होते हैं। उन धर्मों के साथ हम अपनी कल्पना से रजत के शेष धर्म उन प्राप्त धर्मों के साथ जोड़कर उसी को रजत मान लेते हैं। अतः भ्रान्त केवल मानसिक सर्जन होता है। इसलिए शंकराचार्य ने "स्मृतिरूप" माना है।

छठवीं आपत्ति यह की गई है कि इन्द्रिय दोष के कारण भ्रम की वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि इन्द्रियों से तो ज्ञान ग्रहण किया जाता है, किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है। इसके उत्तर में कह सकते हैं कि अनिर्वचनीयख्यातिवाद किसी वस्तु को स्वस्थ दोषपूर्ण इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं मानता है। दोषपूर्ण इन्द्रियाँ गृहीत ज्ञान को दूषित या विकृत तो कर ही सकती हैं, जैसे- पाण्डुरोग में चंद्रमा पीला दिखाई देता है। न वास्तविक चन्द्रमा पीला ही हो जाता है और न पीले रंग का चन्द्रमा ही निर्मित होता है, केवल नेत्र में पित्तदोष से सफेद रंग पीले में परिणत होकर अन्तःकरण में भासित होता है।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद की विशिष्टता

हम ख्यातिवाद के विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख और उनका विवेचन पहले कर चुके हैं उनकी पुनरावृत्ति यहाँ अपेक्षित नहीं है। फिर भी, अब हम इस स्थिति में हैं कि अन्य ख्यातिवाद के सिद्धान्तों से अनिर्वचनीयख्यातिवाद की तुलना कर उसकी विशिष्टता समझ सकते हैं।

अख्यातिवाद भ्रम को निरालम्ब मानता है। आधुनिक मनोविज्ञान भ्रम और विभ्रम में भेद करता है। विभ्रम तो निरालम्ब हो सकता है किन्तु भ्रम नहीं। रज्जु में सर्प, सीप में रजत की प्रतीति निरालम्ब नहीं है। अनिर्वचनीयख्याति में इस प्रकार की त्रुटि नहीं की गयी है।

इसी से मिलता-जुलता सिद्धान्त माध्यमिकों का है। वे असत्ख्याति स्वीकार करते हैं। उसके अनुसार बाहर कोई वस्तु नहीं है किन्तु हमारा मन उसकी उत्पत्ति करता है। यह भी विभ्रम ही कहलायेगा। भ्रम तभी हो सकता है जब हम एक वस्तु को देखें किन्तु उसे वैसा न जानकर कुछ अन्य ही समझें। असत्ख्याति ऐसे किसी भ्रम को नहीं मानती है। इसलिए उसकी व्याख्या भी नहीं करती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आत्मख्यातिवाद भी इससे बहुत दूर नहीं है। उसमें भी भ्रम को मानसिक प्रक्षेप ही माना गया है। भ्रम या उसका अधिष्ठान बाहर कदापि नहीं होता है। यह भी विभ्रम ही है।

इन मतों के बिल्कुल विपरीत रामानुज सत्ख्यातिवाद है। उसके अनुसार भ्रम वस्तु भी सत्य है। शुक्ति रजत में भी रजत के तत्त्व विद्यमान हैं। अतः वह सत्य है। भ्रम ज्ञान जैसा कुछ नहीं है। यह भी अत्युक्ति है। दो वस्तुओं की समानता का अर्थ है उनमें कुछ गुणों का समान रूप से विद्यमान होना। उस का यह अर्थ नहीं कि दो वस्तुयें एक ही आधार में समान रूप से सत्य होकर विद्यमान हैं। सीप तो सीप है और चाँदी भी चांदी ही है। सीप में चांदी को सत्यरूप से स्वीकार करना उचित नहीं है। अनिर्वचनीयख्यातिवाद इस प्रकार सामान्य अनुभव की उपेक्षा नहीं करता है।

सांख्य का सदसत्ख्यातिवाद उपर्युक्त सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत है। उसके अनुसार भ्रान्त रजत में "यह" शुक्ति का वाचक है और वह सत् है, किन्तु रजत की प्रतीति असत् है। वहाँ रजत नहीं है। इस प्रकार भ्रम में सत् और असत् दोनों के अंश विद्यमान हैं। किन्तु यही तर्कीय दोष आ जाता है। एक ही वस्तु सत् और असत् दोनों लक्षणों से युक्त नहीं हो सकती। वेदान्त इस तर्कीय दोष से बचने के लिए भ्रम को सत्असत् का युग्म नहीं मानता, वरन् उसे अनिर्वचनीय कहता है। दोनों सिद्धान्तों ने समस्या को सही रूप में समझने का प्रयास किया है किन्तु सांख्य अपनी व्याख्या में तर्क के दोष में फँस जाता है, वेदान्त नहीं।

न्याय दर्शन भी भ्रम में सत्-असत् की समस्या को हल करने का प्रयास करके तर्कीय दोष से बचे रहने का प्रयास करता है। इसके लिए वह अन्यथाख्याति का प्रतिपादन करता है और अन्यत्र प्रत्यक्ष होते हुए वस्तु को अपने निकट किसी अन्य वस्तु में देखना स्वीकार करता है। वह शुक्ति में उस रजत को देखता है जो बाजार में किसी दूकान पर दूर रखा हुआ है। स्पष्ट है कि एक तर्कीय दोष से बचने के लिए न्याय अन्य अव्यावहारिक कल्पना में फँस जाता है।

अनिर्वचनीयख्याति में कोई अव्यावहारिक तथ्य लाने का प्रयास नहीं किया गया है। हम सामान्य रूप में भ्रम को जिस रूप में पाते हैं उसी रूप में, उसकी व्याख्या की गयी है। उसमें भ्रम वस्तु की व्यावहारिक सत्ता न मानकर बुद्धिजन्य स्वीकार किया गया है। इसलिए असत् वस्तु के उत्पन्न होने की विधि या प्रक्रिया बताना आवश्यक नहीं है। बुद्धि के बदलने पर और प्रमाण प्राप्त होने पर भ्रम की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए भ्रान्त अवस्था में वस्तु सत् प्रतीत होते हुए भी उसके बोध होने पर वह असत् सिद्ध हो जाती है। अतः एक ही काल में वह वस्तु सत् और असत् नहीं होती है। फिर भी वह भ्रम-वस्तु किस प्रकृति की है— आग्रहपूर्वक यह प्रश्न करने पर उत्तर दिया जाता है कि वह अनिर्वचनीय है। "अनिर्वचनीय" शब्द को लक्ष्य बनाकर अन्य मतावलम्बियों ने जो आक्षेप किये हैं, वे निराधार हैं। अद्वैत-वेदान्त में भ्रम होने की प्रक्रिया का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। वह आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के भी विपरीत नहीं है। यहाँ भ्रम और विभ्रम में भी अन्तर समझा गया है। भ्रम की व्याख्या भ्रम मानकर ही की गयी है, उसे विभ्रम नहीं मान लिया गया है।

इसके अतिरिक्त अनिर्वचनीयख्यातिवाद अद्वैत-वेदान्त की तत्त्वमीमांसा के भी अनुरूप है। शंकर ने पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक तीन प्रकार की सत्तायें मानी हैं। व्यावहारिक सत्ता में जो स्थान प्रातिभासिक सत्ता का है वही स्थान पारमार्थिक सत्ता में व्यावहारिक सत्ता का है। भ्रान्त सर्प

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रातिभासिक सत्ता के अन्तर्गत आता है। उसके प्रति हमारी सत्य बुद्धि तभी तक रहती है जब तक हमें सामने उपस्थित व्यावहारिक सत्ता में स्थित रस्सी का ज्ञान नहीं होता है। प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होने पर प्रातिभासिक सर्प विलीन हो जाता है और उस के साथ उस का भय आदि विकार भी समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार श्रुति प्रमाण से नित्य सत्य वस्तु की उपलब्धि होने पर व्यावहारिक जगत् का सम्बन्ध हो जाता है और उस जगत् में उत्पन्न होने वाले भय, चिन्ता, क्लेश और दुःख भी संवृत हो जाते हैं।

इन सभी पक्षों पर विचार करने के बाद हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अद्वैत-वेदान्त द्वारा प्रतिपादित अनिर्वचनीयख्यातिवाद, जो भ्रम की समस्या की व्याख्या एक सीमा तक सफलतापूर्वक करता है, निश्चय ही अन्य सिद्धान्तों की तुलना में उपयुक्त सिद्धान्त हो सकता है। यद्यपि दर्शन में कोई भी सिद्धान्त पूर्णतः निर्दोष नहीं माना जाता है, फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से उस सिद्धान्त को अधिक तर्कसंगत कह सकते हैं।

संदर्भ-सूची

1. शास्त्रदीपिका; 1/1/5.
2. तन्मृषा मोषधर्म यद्भगवानित्यभाषत
   सर्वे च मोषधर्माणः संस्कारस्तेन ते मृषा।
   — नागार्जुन, मध्यमकशास्त्र 13.1.
3. "इह द्रष्टुरभावाद् द्रष्टव्यदर्शने अषि
   न स्त इत्युक्तम्। अतः कुतो
   विज्ञानादिचतुष्टयं
   विज्ञानस्पर्शवेदनातृष्णाचतुष्टव्यम्?
   तस्मात्र सन्ति विज्ञानादीनि।"
   — प्रसन्नपदा, पृ. 45.
4. Indian Psychology, Perception, J.N. Sinha, p. 285.
5. प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृ. 13.
6. ब्रह्मसूत्र शां.भा., अध्यासभाष्य पृ. 7.
7. वही.
8. वही.
9. वही, पृ. 9.
10. वही, पृ. 4.
11. विद्यारण्य स्वामी, पंचदशी, अध्याय 6 श्लोक 33-37.
12. Jadunath Sinha, Indian Psychology, p. 293.
13. रमाकान्त त्रिपाठी, चतुःसूत्री, पृ. 9.
14. ब्रह्मसूत्र शां.भा., अध्यास भाष्य, पृ. 18.
15. वही, पृ. 18.

■

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय 7

प्रामाण्यवाद

ज्ञान की वैधता एवं अवैधता का निश्चय किस प्रकार होता है? किस कसौटी के द्वारा हम यह जानते हैं कि अमुक कथन सत्य है अथवा असत्य। इस सम्बन्ध में पश्चिमी दार्शनिकों ने मुख्यतः तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ये सिद्धान्त हैं— संवादिता सिद्धान्त, संसक्तता सिद्धान्त और अर्थक्रियावादी सिद्धान्त। ज्ञान की वैधता को निश्चित करने के लिए वस्तुवादी विचारक संवादिता के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार यदि हमारा कथन बाह्य तथ्यों से संवादिता रखता है तो वह सत्य है अन्यथा असत्य। मेरा यह कथन "लाल गाय कमरे में है" तभी सत्य है जब कमरे में गाय है और वह लाल भी है। यदि कमरे में गाय लाल नहीं है अथवा कमरे में गाय नहीं है तो मेरा उपर्युक्त कथन असत्य होगा। अतः वस्तुवादिओं के अनुसार हमारे ज्ञान की वैधता एवं अवैधता बाह्य दशाओं पर ही निर्भर करती है। संसक्तता का सिद्धान्त प्रत्ययवादी दार्शनिकों की देन है। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी कथन तभी सत्य होगा जब उस का तत्संबन्धित अन्य कथनों से सामंजस्य है। अतः कोई भी विशेष ज्ञान तभी वैध है जब उस का तत्संबन्धित अन्य कथनों से सामंजस्य है। अतः कोई भी विशेष ज्ञान तभी वैध है जब वह सम्पूर्ण अनुभव के साथ संगति रखता हो। अर्थक्रियावादी दार्शनिक, अर्थक्रियाकारित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वैध ज्ञान की कसौटी उसकी उपयोगिता में है। मेरा यह ज्ञान कि "लोटे में जल है" तभी वैध है जब उससे प्यास बुझे अन्यथा वह ज्ञान अवैध है। लगभग इसी रूप में ये तीनों सिद्धान्त विभिन्न भारतीय दर्शनों में भी खोजे जा सकते हैं। न्याय दर्शन संवादिता सिद्धान्त में विश्वास करता है, बौद्ध दर्शन अर्थक्रियावाद के पक्ष में है जबकि वेदान्त संसक्तता के सिद्धान्त में विश्वास करता है, इसके अतिरिक्त भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञान की इस समस्या से संबन्धित एक अन्य समस्या पर भी गहन विचार किया है। वह समस्या है कि "हमें अपने ज्ञान की वैधता अथवा अवैधता का ज्ञान किस प्रकार होता है? सामान्य रूप से यह प्रश्न ज्ञान के स्वरूप से संबंधित है। प्रश्न यह है कि ज्ञान स्वरूपतः स्वप्रकाश है या पर-प्रकाश? कुछ भारतीय दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष-योग्य है, जबकि कतिपय अन्य विचारकों के लिए उसका स्वभाव परोक्ष है। इस प्रकार प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से ज्ञान के स्वभाव भेद की कल्पना ही स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतःप्रामाण्यवाद की चर्चा का मूलाधार है।

स्वतः प्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान की वैधता एवं अवैधता को जानने के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान मात्र स्वप्रत्यक्ष है अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमिति, शब्द, स्मृति आदि किसी रूप में हों किन्तु वह स्वरूप के विषय में साक्षात्कार रूप ही होता है। ज्ञान वेद्य या अवेद्य न होकर केवल स्ववेद्य है या स्वप्रत्यक्ष हैं। वह अपने स्वरूप को उसी प्रक्रिया से अभिव्यक्त करता है जिससे कि अन्य विषय उसके द्वारा प्रकाशित या अभिव्यक्त होते हैं। स्वयं के ज्ञान के लिए वह किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं हुआ करती।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परतः प्रामाण्यवांद स्वतःप्रामाण्यवाद का विरोधी है। परतः प्रामाण्यवाद मानता है कि ज्ञान की वैधता एवं अवैधता को जानने के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता है। परतः प्रामाण्यवादी ज्ञान के स्वप्रकाशत्व में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष होने का है किन्तु वह अपने आप प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। उसकी प्रत्यक्षता अन्याश्रित है। अतः ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो, अनुमिति हो, शब्द हो अथवा स्मृति आदि अन्य कोई भी हो, वे सभी स्वविषयक अनुव्यवसाय के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से ग्रहीत होते हैं।

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतः प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, किन्तु वे एक दूसरे से पूर्णतः सहमत नहीं हैं। सांख्य दार्शनिक पूर्णरूप से स्वतः प्रामाण्य में विश्वास करते हैं। इनके अनुसार ज्ञान की वैधता एवं अवैधता का निश्चय बाह्य कारणों द्वारा नहीं होता है। बौद्धों का कहना है कि ज्ञान की अवैधता स्वतः सिद्ध है जबकि उसकी वैधता को सिद्ध करने के लिए बाह्य कारणों की आवश्यकता होती है। मीमांसक एवं वेदान्ती बौद्धों के विपरीत है। वे मानते हैं कि ज्ञान की वैधता स्वतः सिद्ध है जबकि उसकी अवैधता बाह्य कारणों से सिद्ध होती है।

नैयायिकों का परतः प्रामाण्यवाद

न्याय दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान की वैधता एवं अवैधता बाह्य कारणों द्वारा ही ज्ञात होती है। वे मानते हैं कि ज्ञान वस्तु को प्रकाशित करता है। ज्ञान की वस्तुओं को प्रकाशित करने के लिए स्वयं प्रकाशित होने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान दृष्टि की भाँति है। दृष्टि सभी वस्तुओं को प्रकाशित करती है। उसे स्वयं प्रकाशित होने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान की क्रिया में ज्ञान नहीं अपितु केवल उसका विषय ही सदैव ज्ञेय बनता है।

नैयायिकों के अनुसार वैध ज्ञान में वस्तु के वास्तविक गुण प्रकाशित होते हैं और अवैध ज्ञान वस्तु में ऐसे गुणों का ग्रहण है जो उसमें नहीं हैं। अतः नैयायिक संवादिता को ही सत्य ज्ञान की कसौटी मानते हैं। ज्ञान स्वयं से न वैधता को प्रगट करता है और न अवैधता को। ज्ञान का प्रामाण्य उसको उत्पन्न करने वाली दशाओं के गुणों पर निर्भर है और उसका अप्रामाण्य उस को उत्पन्न करने वाली दशाओं के दोषों पर आधारित है। इस प्रकार ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य परतः है, स्वतः नहीं। उदाहरण के लिए इन्द्रिय एवं वस्तु के संयोग से ज्ञान होता है। किन्तु यदि इन्द्रिय में कोई दोष है अथवा वस्तु अस्पष्ट है तो ज्ञान अवैध होगा। इसके विपरीत यदि ज्ञान का कारण इन्द्रिय में कोई दोष नहीं है और वस्तु का आकार भी स्पष्ट है तो ज्ञान का वैध होना निश्चित है।

अब प्रश्न यह है कि हमें ज्ञान की वैधता एवं अवैधता का ज्ञान किस प्रकार होता है ? ज्ञान की वैधता की कसौटी क्या है ? न्याय-मञ्जरी के रचयिता जयन्त भट्ट प्रवृत्तिसामर्थ्य को ज्ञान की कसौटी मानते हैं।[1] यदि ज्ञान में तत्संबन्धित क्रिया को सफल बनाने को सामर्थ्य है तो वह ज्ञान वैध है, अन्यथा अवैध। इस प्रकार प्रवृत्ति विसंवाद अवैध ज्ञान की कसौटी है जबकि प्रवृत्तिसामर्थ्य वैध ज्ञान को निश्चित करती हैं वात्सायन मानते हैं कि ज्ञान का कारण प्रमाण है और उसकी वैधता का निश्चय प्रवृत्तिसामर्थ्य से ही होता है।[2]

भ्रम, विभ्रम एवं स्वप्न का ज्ञान सफल क्रिया का आधार नहीं बन सकता। नैयायिकों की मान्यता है कि ज्ञान की वैधता स्वतः प्रामाण्य नहीं है वरन् सफल क्रिया के आधार पर अनुमानगम्य है। सफल क्रिया का तात्पर्य फलज्ञान से है। उदाहरणार्थ, किसी स्थान विशेष पर जल का ज्ञान तभी सत्य है जब उस प्रत्यक्ष विशेष पर चलने से कथित स्थान पर जल प्राप्त हो जाय। यदि हमारी उस क्रिया के फलस्वरूप उस स्थान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर जल प्राप्त नहीं होता है तो वह ज्ञान अवैध है। इस प्रकार नैयायिक मानते हैं कि जिस वस्तु का हमें ज्ञान हो रहा है उसको प्राप्त करने की क्रिया द्वारा यदि वह प्राप्त हो जाय तो उस ज्ञान में प्रवृत्तिसामर्थ्य विद्यमान है और इस कारण वह ज्ञान वैध है।

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रवृत्तिसामर्थ्य की परीक्षा किस प्रकार की जाय? हम यह किस प्रकार जाने कि सफल क्रिया से उत्पन्न भाव सत्य है अथवा असत्य? क्या उस भाव को वैध सिद्ध करने के लिए अन्य दशाओं की आवश्यकता नहीं है? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुये नैयायिकों का कहना है कि फलज्ञान की वैधता की परीक्षा आवश्यक नहीं है क्योंकि फलज्ञान के पश्चात् हमें किसी प्रकार की शंका ही नहीं रहती। उससे हमारे उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त फलज्ञान से संबन्धित वस्तु का सत्यापन उसकी कतिपय विशेषताओं से ही हो जाता है। उदाहरणार्थ, जल के ज्ञान का सत्यापन उस को छूने से,नहाने से एवं पीने इत्यादि से हो जाता है।

यहाँ पर पूर्वपक्षी कह सकता है कि यदि किसी वस्तु के ज्ञान की वैधता की परीक्षा बाह्य साधनों द्वारा ही संभव है तो यह प्रक्रिया हमें अनवस्था दोष में ले जायेगी। इस आलोचना का उत्तर देने के लिए जयन्त[3] मनुष्य के सार्वभौमिक अनुभव का सहारा लेते हैं। वे मानते हैं कि हमारा व्यवहार पूर्वपक्षी के विचार का समर्थन नहीं करता। यदि हम किसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और उसे प्राप्त कर लेते हैं तो हम अपने उस अनुभव की सत्यता की पुनः परीक्षा नहीं करते। लोटे में रखे हुये जल से जब हमारी प्यास बुझ जाती है तो हम अपने उस अनुभव की पुनः परीक्षा करना उचित नहीं समझते। इस प्रकार जयन्त भट्ट सिद्ध करते हैं कि ज्ञान की वैधता का बाह्य प्रमाणीकरण हमें अनवस्था दोष पर नहीं ले जाता।

पूर्वपक्षी कह सकता है कि नैयायिकों के ज्ञान की वैधता के सिद्धान्त में परस्पराश्रय दोष है। ज्ञान की वैधता का ज्ञान सफल क्रिया पर आधारित है और सफल क्रिया स्वयं उस वैधता के ज्ञान पर निर्भर है।[4] व्यवहार में यह देखा जाता है कि जब तक हमें किसी वस्तु का सही ज्ञान नहीं होगा तब तक उसे प्राप्त करना कठिन है। किन्तु नैयायिक यह भी मानते हैं कि उस वस्तु की प्राप्ति ही सही ज्ञान का निश्चय करती है। इस प्रकार ज्ञान की वैधता का ज्ञान एवं सफल क्रिया एक दूसरे पर निर्भर हैं। उन्हें एक दूसरे का आधार नहीं बनाया जा सकता। इसीलिए ज्ञान की वैधता कभी ज्ञात नहीं हो सकती।

इस आलोचना के उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि यह कहना उचित नहीं है कि ज्ञान की वैधता का पूर्वज्ञान हुये विना सफल क्रिया नहीं हो सकती वस्तुओं के प्रति हमारी प्रवृत्ति के लिए उनका सही ज्ञान अनिवार्य नहीं है। कभी-कभी वस्तुओं के सही ज्ञान के अभाव में भी उनकी प्राप्ति के लिए हम क्रिया करते हैं। इसके अतिरिक्त सफल क्रिया वस्तुओं के सही ज्ञान पर निर्भर हो सकती है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसके लिए ज्ञान की वैधता का ज्ञान अनिवार्य है। जयन्त यह भी कहते हैं कि सत्य ज्ञान के होने का तात्पर्य उस ज्ञान की सत्यता के ज्ञान से नहीं है।[5] ऐसा ज्ञान भी हमारी क्रिया का आधार हो सकता है जिसकी सत्यता अथवा असत्यता का हमें ज्ञान नहीं है।

नैयायिक यह भी मानते हैं कि यदि ज्ञान और उसकी वैधता के कारण समान दशायें ही हैं तो भ्रम भी वैध ज्ञान हो जायेगा। भ्रम भी ज्ञान का एक प्रकार है और उस ज्ञान की दशाओं द्वारा ही उत्पन्न होता है। इसलिए भ्रम भी वेध ज्ञान के समान होगा। अतः यदि ज्ञान की दशायें ही उसकी वैधता को निर्धारित करती हैं तो अवैध अथवा मिथ्या ज्ञान असंभव हो जायेगा और यदि ज्ञान और उसकी अवैधता समान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दशाओं से ही उत्पन्न होती हैं तो वैध ज्ञान असंभव हो जायेगा। इस प्रकार नैयायिक यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान की वैधता एवं अवैधता के निर्धारक बाह्य कारक ही हैं। स्वतः प्रामाण्यवाद का सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं है।

प्रामाण्यवाद से संबंधित सांख्य सिद्धान्त[6] नैयायिकों के सिद्धान्त से पूर्णरूपेण भिन्न है। नैयायिक ज्ञान की वैधता एवं अवैधता का ज्ञान बाह्य दशाओं पर निर्भर मानते हैं। सांख्य दार्शनिक ज्ञान की वैधता एवं अवैधता के ज्ञान को ज्ञान में ही निहित मानते हैं। इसीलिए नैयायिक पूर्णरूपेण परतः प्रामाण्यवादी हैं और सांख्य पूर्णतः स्वतः प्रामाणवादी। न्यायमञ्जरीकार ने सांख्यों के विचारों की प्रभावपूर्ण आलोचना की है।

सांख्यों के स्वतः प्रामाण्यवाद का आधार उनका सत्कार्यवाद है।[7] सत्कार्यवाद की मान्यता है कि कार्य कारण में अपनी उत्पत्ति के पहले विद्यमान रहता है। एक कारण वही कार्य उत्पन्न कर सकता है जो उसमें पहले से विद्यमान है अन्यथा किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जायेगा। इस कार्यकारण सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान की वैधता एवं अवैधता कार्यरूप होने के कारण उस ज्ञान अर्थात् अपने कारण में ही निहित होनी चाहिये। अतः ज्ञान की वैधता एवं अवैधता स्वतः प्रकाशवान है।

सांख्यों के उपर्युक्त सिद्धान्त के विरुद्ध नैयायिकों को कहना है कि कारणता के जिस सिद्धान्त पर ज्ञान की वैधता एवं अवैधता का सिद्धान्त आधारित है, वह कारणता का सिद्धान्त ही असिद्ध है। यदि कार्य कारण में अपनी उत्पत्ति से पहले ही विद्यमान हो तो कारणता का अर्थ ही क्या है।[8] कारणता का तात्पर्य है कारण से नये कार्य की उत्पत्ति। और नैयायिक यह भी कहते हैं कि यह कथन "वैधता एवं अवैधता ज्ञान में ही निहित है" स्वयं में व्याघातपूर्ण है। एक ही वस्तु में दो विरोधी गुण नहीं रह सकते।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी सांख्यमत सही नहीं है। यदि ज्ञान की वैधता स्वतः प्रकाशवान् है तो तत्संबन्धित क्रिया असफल नहीं होनी चाहिये। इसी प्रकार यदि ज्ञान की अवैधता स्वप्रकाशवान है तो कोई क्रिया होनी ही नहीं चाहिये। उदाहरण के लिए रज्जु में सर्प का ज्ञान या तो वैध है अथवा अवैध। यदि वैध है तो ठीक से प्रत्यक्ष करने पर उसे खंडित नहीं होना चाहिये। और यदि अवैध है तो उस ज्ञान के प्राप्त होने पर हमें डरना नहीं चाहिये। किन्तु जीवन मं उपर्युक्त सभी प्रकार के अनुभव होते हैं। अतः ज्ञान की वैधता एवं अवैधता को ज्ञान में ही निहित नहीं माना जा सकता और न उन्हें स्वतः प्रकाशवान कहा जा सकता है।

यद्यपि नैयायिक प्रायः अन्य सभी सिद्धान्तों की आलोचना करते हैं किन्तु उनके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि उनका अनुव्यवसाय सिद्धान्त जिस पर उनका परप्रकाशवाद आधारित है, तर्कसंगत नहीं मालूम पड़ता क्योंकि इस बात को मान लेने पर भी कि एक ज्ञान का दूसरे अनुगामी ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष होता है यह प्रश्न तुरन्त उपस्थित हो जाता है कि फिर द्वितीय ज्ञान अर्थात् अनुव्यवसाय का उद्भव क्या उस समय होता है जबकि प्रथम ज्ञान अर्थात् व्यवसाय अभी अस्तित्व में है या कि उस समय जबकि व्यवसाय विनष्ट हो चुका है? पहला विकल्प संभव नहीं है क्योंकि न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान एक साथ न होकर क्रमानुगत होते हैं। दूसरा विकल्प भी असंभव है, क्योंकि यदि अनुव्यवसाय की उत्पत्ति उस समय होती है जबकि व्यवसाय नष्ट हो चुका है तो फिर अनुव्यवसाय द्वारा ज्ञान किसका होगा? यदि यह अनअस्तित्वना व्यवसाय का प्रत्यक्ष करता है, तो यह प्रत्यक्ष यथार्थ न होकर भ्रमात्मक ही है। यदि यह कहा जाय कि अनुव्यवसाय ठीक उसी समय अस्तित्व में आता है जिस समय की व्यवसाय विनष्ट होता है और इस प्रकार प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष द्वितीय ज्ञान से हो जाता है, तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसी अवस्था

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में ज्ञान को ज्ञानान्तरवैद्य मानने से अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। जब तक एक भी ज्ञान स्वयं-संवेदी नहीं माना जाता तब तक पूर्व-पूर्व ज्ञानों का बोध करने के लिए उत्तर-उत्तर ज्ञानों की कल्पना करनी ही होगी, क्योंकि जो भी ज्ञान अज्ञात रहेगा, वह स्व-पूर्व ज्ञान का वेदक नहीं हो सकता और इस प्रकार प्रथम ज्ञान के अज्ञात रहने पर उसके विषय का बोध नहीं हो सकेगा। एक ज्ञान के जानने में ही जब इस प्रकार अनेक ज्ञानों का प्रवाह चलता रहेगा, तो फिर ज्ञान की विषयान्तर में प्रवृत्ति होने का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।[9] अतः यह स्वविरोधी स्थिति बिना अपना हल पाये ही शेष बनी रहती है। वस्तुतः इस प्रकार की मान्यता से संपूर्ण ज्ञान की संभावना ही असिद्ध हो जाती है, क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रथम ज्ञान में विश्वास करने का कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता। यद्यपि यह दैनिक अनुभव की बात है कि ज्ञान होने के तथ्य में कोई सन्देह नहीं प्रकट करता। साथ ही एक प्रकार से देखा जाय तो न्याय-वैशेषिक में भी ज्ञान के स्वप्रकाशत्व के स्वभाव को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि वहाँ यदि व्यवसाय को नहीं, तो कम से कम अनुव्यवसाय को तो स्व-ज्ञेय माना ही गया है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि नैयायिकों का प्रवृत्ति-सामर्थ्य का सिद्धान्त बौद्धों के अर्थक्रियाकारित्व के समान प्रतीत होता है। बौद्ध दार्शनिक किसी वस्तु का अस्तित्व उसकी कार्य करने की क्षमता से ही निश्चित करते हैं। यदि इस लोटे में रखे जल से प्यास बुझती है तो वह जल है अन्यथा नहीं। किन्तु बौद्धों के अनुसार उपयोगी ज्ञान ही वैध है जबकि नैयायिक ज्ञान की सत्यता के लिए संवादित्व एवं उपयोगिता दोनों को आवश्यक मानते हैं। नैयायिकों के लिए सत्य ज्ञान वस्तुगत प्रमाणीकरण एवं आत्मगत उपयोगिता पर निर्भर करता है।[10]

वेदान्तियों का स्वतःप्रामाण्यवाद

स्वतः प्रामाण्यवादी ज्ञान को स्व-प्रकाश मानते हैं। इन स्व-प्रकाशवादियों ने यह प्रतिपादित किया है कि ज्ञान प्रदीप या सूर्य की भाँति है जो स्व-प्रकाशन की एक ही क्रिया द्वारा स्वयं तथा अन्य पदार्थों अर्थात् दोनों को एक साथ ही उद्घाटित करता है और जो स्वप्रकाश के इस संदर्भ में किसी अन्य प्रकाश से स्वतंत्र है। यह सोचना अविवेकपूर्ण है कि कोई भी प्राकृतिक प्रकाश जो अन्य विषयों को प्रकाशित करता है, स्वयं अप्रकाशित रहता है और अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा करता है। अतः स्व-प्रकाशत्व का विकल्प पर-प्रकाशत्व के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा करता है। अतः स्व-प्रकाशत्व का विकल्प पर-प्रकाशत्व न होकर अप्रकाशत्व है। वस्तुतः चयन स्व-प्रकाशत्व एवं पर-प्रकाशत्व के मध्य न होकर स्व-प्रकाशत्व और जड़त्व के मध्य है। जो स्व-प्रकाश नहीं है, वह प्रकाशी भी नहीं है। अतः ज्ञान को स्व-प्रकाशी न मानने पर वह भी किसी अचेतन या जड वस्तु के समान हो जायगा और फिर उसकी व्याख्या ही नहीं हो सकेगी। इसीलिए वेदान्त परिभाषा के रचयिता ने कहा है कि "सभी प्रमाज्ञानों में प्रमात्व स्वयं उत्पन्न होता है और स्वयं जाना भी जाता है।"[11] अद्वैत-वेदान्तिओं के अनुसार जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसी सामग्री से उस ज्ञान में प्रमात्व भी उत्पन्न होता है और स्वयं से जाना भी जाता है। प्रमात्व की उत्पत्ति में अन्य सामग्री अपेक्षित नहीं है।

श्री रामानुज का मत अद्वैत-वेदान्तिओं से कुछ भिन्न है। वे मानते हैं कि ज्ञान कभी स्व-प्रकाशी होता है और कभी नहीं होता।[12] किन्तु ऐसा मानने से उनका सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं रह जाता। यह कथन है कि ज्ञान कुछ परिस्थितियों में स्व-प्रकाशी नहीं होता है, वस्तुतः स्वप्रकाशत्व के पक्ष को पूर्णतया छोड़ देना है, क्योंकि कोई भी वस्तु उस गुण या धर्म को ग्रहण नहीं कर सकता जो कि स्वरूपतः अपना न हो और उस धर्म अर्थात् स्वरूप को छोड़ सकती है जो उसका अपना होता है। यह तर्क देना कि ज्ञान अपने आप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को कुछ निश्चित अवस्थाओं में और विशेष कालों में प्रकाशित करता है, या तो ज्ञान एवं उसके रूपान्तरों के मध्य के भेद को छोड़ देना है, या फिर "ज्ञान" पद का अत्यन्त शिथिल एवं अनिर्धारित रूप में प्रयोग करना है। साथ ही स्व-प्रकाशत्व को कुछ समय के लिए स्वीकार करना तथा नित्य रूप से अस्वीकृत भी करना इसलिए भी युक्ति-युक्त नहीं है कि यदि ज्ञान केवल वर्तमान क्षण में ही प्रकाशित होता है तथा किसी भी अन्य विषय की भाँति अपना विषय बन सकता है, तो उसे वस्तुतः उस विषय से स्वरूपतः भिन्न नहीं कहा जा सकता जो अचेतन अथवा जड़ है।

अद्वैत-वेदान्तिओं के अनुसार ज्ञान, चाहे वह शब्द हो, अनुमिति अथवा प्रत्यक्ष, एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका लक्ष्य सत्यता पर पहुँचना है और यह सत्यता से बाह्य न होकर उसकी स्वरूपगत विशेषता है। यदि कोई ज्ञान किसी समय सत्यता को उद्घाटित नहीं करता है। तो इसका तात्पर्य यह है कि उस ज्ञान में बाधक विद्यमान है। इस प्रकार ज्ञान की असत्यता बाह्य-निर्धारित है। ज्ञान की असत्यता उन दशाओं की उपज है जो सत्यता के मार्ग में बाधा बनती है। ये दशायें पूर्णतया बाह्य हैं। ज्ञान की सत्यता ज्ञान को निर्धारित करने वाली दशाओं से ही उत्पन्न होती है। ज्ञान की सत्यता को निर्धारित करने वाली बाह्य दशा केवल एक है— ज्ञान की अवरोधक दशा की अनुपस्थिति। किन्तु यह एक निषेधात्मक दशा है। अतः ज्ञान की सत्यता के निर्धारण में कोई बाह्य विधायक दशा कार्य नहीं करती।[13]

अद्वैत-वेदान्ती इस तथ्य पर बल देते हैं कि स्वयं ज्ञान में उसकी सत्यता की कसौटी निहित है। यह अन्तर-निरीक्षण द्वारा जानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त उन व्यक्तियों का व्यवहार जो ज्ञान होते ही उसकी सत्यता की परख की अपेक्षा न रखकर कार्यरत हो जाते हैं, अनुमान इत्यादि साधनों से ज्ञान की सत्यता का निर्धारण करने का लेशमात्र भी प्रयत्न नहीं करते। इन बाह्य साधनों से संदेह अथवा असत्यता का निर्धारण भले ही होता हो, किन्तु सत्यता सदैव ज्ञान में ही निहित रहती है।

अद्वैत-वेदान्तिओं के इस स्वतः प्रामाण्यवाद के विरुद्ध नैयायिकों की एक आपत्ति यह है कि ज्ञान के स्व-प्रकाशत्व का सिद्धान्त ज्ञान के विषय और विषयी को एक ही बना डालती है। किन्तु एक ही वस्तु विषय और विषयी दोनों नहीं हो सकती। इस आपत्ति के विरुद्ध अद्वैत-वेदान्ती कहते हैं कि विषय और विषयी के मध्य इस प्रकार की कोई असंगति होती ही नहीं, क्योंकि विषयी और विषय यदि तात्विक रूप से नितान्त भिन्न वस्तुयें होतीं तो न तो स्वचेतना सम्भव हो सकती थी और न ज्ञान ही किसी अन्य प्रकार से सम्भव हो सकता था।[14] अद्वैत-वेदान्ती इस उपपत्ति का समर्थक नहीं है कि एक ही वस्तु विषय और विषयी दोनों बन जाती है। उनके अनुसार स्वप्रकाशित होने का तात्पर्य एक विषय की भाँति प्रकाशित होना कदापि नहीं है।

वेदान्त परिभाषाकार[15] ने माना है कि प्रमात्व का आश्रय प्रमा है। प्रमा का ज्ञान जिन सामग्रियों द्वारा होता है उन्हीं सामग्रियों से तद्गत प्रमात्व का भी ज्ञान होता है। प्रमात्व का आश्रय वृत्तिज्ञान है जिसका ग्रहण साक्षी द्वारा होता है। "यह ज्ञान प्रमारूप है भ्रमरूप नहीं" ऐसा ज्ञान भी साक्षी से ही गृहीत होता है। यदि पीछे से कोई दोष मालूम पड़ता है तो उसमें अप्रमात्व का ग्रहण माना जायेगा। इससे ज्ञान के प्रमात्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

दार्शनिकों के एक वर्ग विशेष में यह भ्रान्त धारणा सामान्यरूप से प्रचलित रही है कि ज्ञान के इस स्वतः प्रकाशत्व का सिद्धान्त वस्तु जगत् की विषयनिष्ठता को समाप्त कर देता है, किन्तु यह वस्तुस्थिति को उलटे रूप से ग्रहण करना है। इसके ठीक विपरीत ज्ञान के स्वतः प्रकाशत्व का सिद्धान्त ज्ञान के विषय की विषयनिष्ठता की पूर्ण बाह्यता के स्वप्रकाशत्व के अनुरूप है। इसके लिए ज्वलंत उदाहरण शंकराचार्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं। शंकर ने ज्ञान के स्वप्रकाशत्व सिद्धान्त एवं ज्ञान के विषय की विषयनिष्ठता दोनों को, विज्ञानवाद के अपने विरोध[16] में तनिक भी शिथिल हुये विना, मान्यता प्रदान की। इस कथन, कि ज्ञान का ग्रहण अपरोक्ष रूप से एवं ज्ञात विषय के साथ-साथ होता है, का यह अर्थ कदापि नहीं है कि ज्ञान और उसका अतिरिक्त मानसिक आधार या विषय दोनों एक और तादात्म्यक हैं। वस्तुतः ज्ञान के स्वतः ज्ञेयत्व या स्वप्रकाशत्व के ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त का सत्ता के संबंध में प्रतिपादित मानसिक अहंवाद के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त से किसी भी रूप में तादात्म्य नहीं हो सकता।

अद्वैत-वेदान्तिओं के स्वतः प्रकाशत्व के सिद्धान्त के विरोध में यह कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान स्वतः प्रकाशवान् है तो ज्ञान होने पर हम सदैव निश्चयात्मक कथन क्यों नहीं करते? किसी वस्तु का ज्ञान होने पर जब हम उसका कथन करते हैं तो प्रायः "संभवतः", "यदि", "लेकिन" एवं "लगभग" इत्यादि शब्दों का प्रयोग क्यों करते है? हम उस वस्तु के विषय में निश्चयात्मक कथन क्यों करते? यह कहने की अपेक्षा कि "मैं उस वस्तु को जानता हूँ" यह कहते हैं कि "सम्भवतः" मैं उस वस्तु को जानता हूँ"।

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के विभिन्न कथन उसके अनुभव की व्याख्यायें मात्र होते हैं और ये व्याख्यायें देश, काल तथा परिस्थिति के अनुरूप होती हैं। ज्ञान के स्वप्रकाशवान् होने पर भी मनुष्य हर परिस्थिति में निश्चयात्मक कथन नहीं करता। यदि परिस्थिति निश्चायत्मक कथन की माँग करती है तो उस प्रकार का कथन भी होता है। प्रत्येक परिस्थिति में निश्चयात्मक कथन न होने का तात्पर्य यह नहीं है कि ज्ञान स्वप्रकाशवान् नहीं है।

तब प्रश्न यह है कि ज्ञान के स्वप्रकाशवान् होने का तात्पर्य क्या है? क्या हमें ज्ञान की चेतना उसी प्रकार होती है जैसे वस्तु की? अद्वैत-वेदान्तिओं के अनुसार ज्ञान की चेतना एवं वस्तु की चेतना में भेद है। वस्तु ज्ञात हो सकती है अथवा अज्ञात, किन्तु "ज्ञान" को अज्ञात कहना व्याघातपूर्ण है।[17] वस्तु ज्ञान द्वारा प्रकाशित होती है किन्तु ज्ञान स्वप्रकाशवान् है। ज्ञान प्रकाश के समान है जो वस्तु एवं स्वयं दोनों को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार हम यह नहीं कह सकते हैं कि प्रकाश को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता है। उसी प्रकार यह भी नहीं कह सकते हैं कि ज्ञान किसी अन्य ज्ञान द्वाना जाना जाता है।[18]

स्वतः प्रामाण्यवाद के संबंध में मीमांसकों के विचारों की संक्षिप्त विवेचना अप्रसांगिक न होगी। मीमांसक एवं अद्वैत-वेदान्ती दोनों स्वतः प्रामाण्यवाद को स्वीकार करते हैं, किन्तु इन दोनों संप्रदायों में कुछ मतभेद भी हैं। मीमांसा दर्शन के अन्तर्गत दो मुख्य संप्रदाय हैं— प्रभाकर मिश्र संप्रदाय एवं कुमारिल भट्ट संप्रदाय। इन दोनों संप्रदायों के विचारों की संक्षिप्त विवेचना करना उचित है।

प्रभाकर मानते हैं कि संवित (ज्ञान) स्वयं प्रकाश है और संवित के स्वयं प्रकाश होने से संवित को उत्पन्न करने वाली सामग्री ही उसमें निहित प्रमात्व को ग्रहण करती है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है वही सामग्री उस ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य का भी ज्ञान कराती है। अतः प्रभाकर मानते हैं कि ज्ञान के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए किसी बाह्य सामग्री की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार प्रभाकर स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। किन्तु इनकी एक अन्य मान्यता अटपटी प्रतीत होती है। इन्होंने केवल ज्ञान को ही स्व-प्रकाश माना है, आत्मा को नहीं। यह निश्चय ही एक असाधारण धारणा है कि ज्ञान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को जिसे आत्म [illegible] गुण माना गया है, स्वप्रकाश माना जाय जबकि आत्मा को इसके रिक्त तथा स्वयं की ही अभिव्यक्ति के लिए अपने ही गुण पर निर्भर प्रस्तावित किया जाय। ऐसा लगता है कि द्रव्य और गुण के मध्य सही संबन्ध के विश्लेषण पर विचार न करने से ही ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है।

कुमारिल भट्ट के अनुसार जब हमें "अयं घटः" का ज्ञान है तो घट विषय में "ज्ञातता" उत्पन्न हो जाती है। और ऐसी ज्ञातता ही घट ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य की अनुमिति में सामग्री बनती है। अर्थात् "ज्ञातता" रूप लिङ्ग से घट ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होता है।[19] कुमारिल "ज्ञातता" को विषयगत धर्म मानते हैं। यह "ज्ञातता" ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञान से ही उत्पन्न होती है। श्री भट्ट इसको एक विशेष पदार्थ मानते हैं। अतः "ज्ञातता" के द्वारा ज्ञान में प्रामाण्य का ग्रहण मानने के कारण यह संप्रदाय भी स्वतः प्रामाण्यवादी के रूप में जाना जाता है।

भाट्टमीमांसकों के इस "ज्ञातता" सिद्धान्त की बड़ी कटु आलोचना हुई है। श्रीधर का कथन है कि ज्ञान का विषय होने के लक्षण के अतिरिक्त "ज्ञातता" और कुछ नहीं है। विषय-ज्ञान-वाद की परिभाषा करना कठिन है। यदि इसका यह अर्थ लिया जाय कि विषय से ज्ञान उत्पन्न होता है तो ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्य अवस्थाओं को भी जो ज्ञान को उत्पन्न करती हैं, विषय मानना होगा। फिर, यह संभव नहीं है कि किसी विषय में उस समय कोई धर्म उत्पन्न हो सके जबकि विषय विद्यमान नहीं है। ज्ञातता विषयों का एक धर्म है, यद्यपि इसे भूत और भविष्य के विषय में उत्पन्न नहीं किया जा सकता, जिनका कि ज्ञान होता है। इस प्रकार का तर्क कि विषयों ज्ञातता रूपी नये धर्म को ज्ञान उत्पन्न होने के बाद ग्रहण कर लेता है, जैसे कि पाक क्रिया चावल के अन्दर पक्वता का धर्म उत्पन्न कर देती है, टिक नहीं सकती, क्योंकि हम पक्वता को चावल के अन्दर, जो तण्डुल (कच्चे चावल) से ओदन (पके हुए चावल) के रूप में परिवर्तित हुआ है, स्पष्ट अनुभव करते हैं। किन्तु विषय के अन्दर इस ज्ञातता रूपी धर्म का अनुभव नहीं होता। साथ ही जब किसी विषय का ज्ञान होता है तो कहा जाता है कि उसके अन्दर एक विशिष्ट धर्म, जिसे "ज्ञातता" कहते हैं, उत्पन्न होता है। और इस प्रकार जब इस "ज्ञातता" का ज्ञान हो गया तो उसके अन्दर एक और "ज्ञातता" उत्पन्न होगी, और इस प्रकार इस क्रम का कहीं अन्त नहीं होगा अर्थात् अनवस्था दोष बना रहेगा। इस अनवस्था दोष से बचने के लिए "ज्ञातता" को स्वप्रकाश मानना ही पड़ेगा। और यदि "ज्ञातता" को ही स्वप्रकाश मानना है तो फिर ज्ञान को ही स्वप्रकाश क्यों न मान लिया जाय।[20]

यह युक्ति दी जाती है कि विषय का अस्तित्व भूत, वर्तमान और भविष्य तक रहता है, किन्तु इसके अस्तित्व का वर्तमान से संबंध रूप में बोध होता है। ज्ञातता विषय की वह अवस्था है जो वर्तमान से निर्णीत होती है, और इस लिंग को धारण करने से ही हम ज्ञान का अनुमान करते है। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि वर्तमान से निर्णीत होने का सम्बन्ध विषय से है और वह ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि जाना भी जाता है। यदि यह तर्क दिया जाए कि ज्ञान का अनुमान विषयों के ज्ञान या संवेदन से होता है।[21] तो पूछा जा सकता है कि ज्ञान समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है अथवा विषय में? विषय में यह रह नहीं सकता क्योंकि वह अचेतन अथवा जड है। यदि यह आत्मा में रहता है तो फिर ज्ञान उससे भिन्न कौन-सी वस्तु है जिसका अनुमान विषयों के ज्ञान या संवेदन से होना है। यदि यह कहा जाय कि विषयों के ज्ञान या संवेदन से जिसका अनुमान होता है वह ज्ञाता की क्रिया (ज्ञातृ व्यापार) के रूप में इसका कारण है, तो हम पूछ सकते हैं कि यह कारण नित्य है अथवा अनित्य? यदि अनित्य है तो उसका कारण क्या है? यदि यह मन के आत्मा के साथ संपर्क में सहायक होता है तो क्यों न इन सब को ज्ञान का कारण मान लिया जाए।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आत्मा की क्रियाशीलता के रूप में एक मध्यस्थ कारण की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि यह मान लिया जाए कि यह क्रिया नित्य है और ज्ञानों का कभी-कभी प्रकट होना सहायक कारणों के नाते है, तो ये ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। इसलिए आत्मा की क्रिया की कल्पना करना आवश्यक है।[22] इस प्रकार भाट्ट मीमांसकों ने "ज्ञातता" की परिकल्पना में गाड़ी को घोड़े के आगे रखने की भूल की हैं। उनके तर्क में उत्तर को पूर्व में रखने का हेत्वाभास निहित है क्योंकि "ज्ञातता"' को ज्ञान का कारण नहीं कार्य होना चाहिए।[23]

प्रभाचन्द्र प्रश्न करते हैं कि यह "ज्ञातता" अर्थ का धर्म है अथवा ज्ञान का धर्म है? यह अर्थ-धर्म नहीं हो सकती। यह केवल ज्ञान के समय को छोड़कर अन्य किसी समय में अर्थ (विषय) के अन्दर नहीं रहती और यह "ज्ञातता" आत्मा की निजी निधि के रूप में प्रतीत भी होती है। यह ज्ञान-धर्म भी नहीं हो सकती, क्योंकि वह ज्ञान जिसका इसे धर्म माना जाए, भाट्ट मीमांसकों के मत से, प्रत्यक्ष योग्य नहीं है। जो प्रत्यक्ष योग्य नहीं है वह ज्ञानों का अधिष्ठान नहीं हो सकता। दूसरी ओर यदि "ज्ञातता" जो ज्ञान स्वभाव की है, प्रत्यक्ष योग्य है तो ज्ञान को भी प्रत्यक्ष योग्य मानना होगा। यदि ज्ञातता अर्थ स्वभाव है तो इसका तात्पर्य केवल विषय की अभिव्यक्ति (अर्थ प्राकट्य) है। विषय अभिव्यक्त नहीं हो सकता, यदि ज्ञान जिससे विषय व्यक्त होता है, अपने आप में अनभिव्यक्त है।[24]

भाट्ट मीमांसकों का यह मत कि यदि ज्ञान को प्रत्यक्ष योग्य माना जाए तो इसे भी एक विषय मानना होगा जिसे जानने के लिए एक अन्य की आवश्यकता होगी, और इस प्रकार इस क्रम का कहीं अन्त न होने से अनवस्था दोष आ जाएगा, का खण्डन करते हुए प्रभाचन्द्र ने कहा है कि प्रमाता, प्रमाण और प्रमिति, प्रमेय (विषय) के समान ही प्रत्यक्ष योग्य है। यह आवश्यक नहीं है कि जिसे प्रत्यक्ष किया है वह सदैव प्रत्यक्ष के विषय के रूप में होता है, ज्ञान के विषय के रूप में नहीं। इसीलिए ज्ञान का प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष के साधन के रूप में भी हो सकता है। जब भाट्ट मीमांसक आत्मा की प्रत्यक्ष योग्यता को मान लेते हैं, जो मात्र ज्ञान कर्त्ता है, तो वे ज्ञान की प्रत्यक्ष योग्यता को भी स्वीकार कर सकते है जो प्रमेय (विषय) की अभिव्यक्ति का साधन है। यदि आत्मा प्रत्यक्ष योग्य है तो यह बाह्य विषय को स्वयं जान सकती है। यदि यह कहा जाए कि कर्ता साधन के विना कर्म नहीं कर सकता, तो आभ्यन्तर और बाह्य इन्द्रियाँ ज्ञान के साधन बन सकती हैं। इसके अतिरिक्त यदि साधन के विना कोई क्रिया संभव नहीं, तो आत्मा के स्वतः ज्ञान में कौन सा साधन है? यदि आत्मा के ज्ञान में आत्मा साधन है, तो यह पदार्थों के ज्ञान में भी साधन का कार्य कर सकती है। यदि यह स्वीकार कर लिया गया कि आत्मा और प्रमिति (फलज्ञान) का प्रत्यक्ष होता है, यद्यपि वे चेतना में ज्ञान के विषय के रूप में प्रकट नहीं होते, तो यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि ज्ञान के साधन का भी ज्ञान के विषय के रूप में नहीं बल्कि साधन के रूप में प्रत्यक्ष होता है। फिर साधन रूप ज्ञान (कारण ज्ञान) कर्त्ता तथा फलज्ञान से सर्वथा भिन्न नहीं है और इसलिए यदि अन्य दो प्रत्यक्ष योग्य हैं तो यह प्रत्यक्ष के अयोग्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, आत्मा और ज्ञान, जिसके द्वारा आत्मा पदार्थ को जानती है, हमारे अनुभव में साक्षात् प्रकट होते हैं और इसलिए वे चेतना के विषय माने जाने चाहिए (प्रतीयमानत्वं हि ग्राह्यत्वं तदेव कर्मत्वम्)। जो कुछ चेतना में प्रकट होता है वह उसका विषय है। "मैं घड़े को जानता हूँ" इस ज्ञान में विषयी अपने विषय में सचेत है कि वह घड़े के ज्ञान से युक्त है। विषयी का घट-सम्बन्धी ज्ञान उतना ही प्रत्यक्ष का विषय है, जितना कि आत्मा और घट। जिस प्रकार किसी विषय के प्रत्यक्ष का निषेध नहीं हो सकता उसी प्रकार उसके ज्ञान के प्रत्यक्ष का भी निषेध नहीं हो सकता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यदि घट के ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है तो स्वयं घट का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार यदि ज्ञानोत्पादक क्रिया प्रत्यक्ष के अयोग्य है तो यह किसी प्रमाण द्वारा भी यथार्थ सिद्ध नहीं की जा सकती।[25]

इसी प्रकार उदयनाचार्य,[26] केशव मिश्र,[27] शिवादित्य,[28] वरदराज,[29] वेंकटनाथ,[30] वेदान्तदेशिक,[31] और भास्कराचार्य[32] आदि ने भी ज्ञातता की प्राक्कल्पना का खण्डन करके भाट्ट मीमांसकों के "ज्ञाततानुमेयंज्ञानम्" सिद्धान्त को निरर्थक बतलाया है।

यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या कोई ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता के सिद्धान्त को मानते हुए भी, विवेकपूर्ण रीति से ज्ञान की स्वप्रकाशता या स्व-ज्ञेयता के सिद्धान्त को अस्वीकार कर सकता है? यदि थोड़ा सा ध्यान दिया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों ही सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक है। यह कहना कि ज्ञान स्वतः प्रमाणित है, वस्तुतः यही कहना है कि यह स्वप्रकाशी है। अतः स्वतः प्रमाणत्व का अर्थ स्वतोज्ञेयत्व ही है। जिस प्रकार जब किसी व्यक्ति को किसी विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तब वह सन्देह नहीं करता है कि क्या उसे उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है उसी प्रकार जब कोई व्यक्ति कुछ जानता है तो वह यह सन्देह भी नहीं करता कि क्या उसने वस्तुतः कुछ जाना भी है। इसका कारण यह है कि दोनों ही अवस्थाओं में ज्ञान अपनी अभिव्यक्ति को स्वतः अपने साथ लेकर चलता है। ज्ञान यदि स्वप्रकाशी न हो और अपने कोध्र के लिए उसे किसी अन्य परिस्थिति पर निर्भर रहना पड़े तो उसकी स्वतः प्रामाणिकता को भी साक्षात् एवं अपरोक्ष रूप से स्थापित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः यदि स्वतः प्रमाणत्व एवं स्वतः प्रकाशत्व की धारणाओं में कोई भेद करना ही है, तो केवल यही कहा जा सकता है कि ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य ईमान की स्वतः ज्ञेयता को पूर्ण मान्यता प्रदान करता है। जो स्वतः ज्ञेय नहीं है वह स्वतः प्रामाण्य भी नहीं हो सकता क्योंकि जो अपने ज्ञेयत्व के लिए पश्चात् ज्ञानों और अनुमानों पर निर्भर है, वह स्वयं अपनी प्रामाणिकता का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकता।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञान-विषयक वह मत अधिक तर्क संगत एवं संतोषजनक है जिसमें यह माना जाता है कि ज्ञान उत्पन्न होने के साथ ही स्वतः ज्ञात हो जाता है। ज्ञान न तो किसी उत्तरवर्ती मानसिक प्रत्यक्ष या अनुव्यवसाय द्वारा ज्ञात होता है, जैसा कि न्याय वैशेषिक में माना गया है और न वह अनुमान द्वारा ही ज्ञेय बनता है, जैसा कि भाट्ट मीमांसक प्रतिपादित करते हैं। ज्ञान और उसके ज्ञान के मध्य कोई मानसिक क्रिया नहीं होती है। अज्ञात ज्ञान किसी विषय को अभिव्यक्त नहीं कर सकता है, और जब अनवस्था दोष से बचने के लिए ज्ञान को किसी अन्तर्वर्ती अवस्था पर स्वतः प्रकाश मानना ही पड़ता है तो प्रथम अवस्था में ही उसे स्वतः प्रकाश मान लेने में कोई दोष नहीं है। ज्ञान को स्व-प्रकाशत्व के स्तर से केवल पर-प्रकाश पर लाना, वस्तुतः ज्ञान को असंभव बनाना है। साथ ही ज्ञान यदि स्व-प्रकाश न हो तो साक्षात् या अपरोक्ष ज्ञान की कोई संभावना नहीं हो सकती, और सारा ज्ञान इस अर्थ में सदैव के लिए परोक्ष होने के लिए बाध्य हो जाएगा कि उसे स्वज्ञान के लिए हमेशा ही अन्य उपकरणों पर आधारित होना पड़ेगा और ऐसी अवस्था में निरपेक्ष या पूर्ण ज्ञान की संभावना का सदैव के लिए निषेध हो जाएगा।

संदर्भ-सूची

1. प्रवृत्तिसंवाद ज्ञानजनमना प्रामाण्यनिश्चयः तस्मात् परतः प्रामाण्यम्, न्यायमंजरी, पृ. 174.

2. Indian Theory of Knowledge, By C.D. Bijawal, p. 56.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

3. Ibid, p. 57.
4. Nyaya Theory of Knowledge, By S.C. Chatterji, p. 83.
5. न्याय-मंजरी, पृ. 173.
6. सांख्य-कारिका, 11.
7. Nyaya Theory of Knowledge, p. 86.
8. Ibid.
9. न्यायविनिश्चय, पृ. 32.
10. Indian Theory of Knowledge, By C.D. Bijawal, p.56.
11. एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यम्-स्वतः एवोत्पद्यते ज्ञायते च। वेदान्त-परिभाषा, पृ. 334.
12. श्रीभाष्य,1/1/1.
13. The Six ways of Knowing By D.M. Datta, p. 322.
14. खण्डन-खण्ड-खाद्य, पृ. 62.
15. वेदान्त-परिभाषा, पृ. 330.
16. देखिये शारीरक भाष्य, तर्कपाद, विज्ञानवाद की आलोचना.
17. The Six ways of Knowing By D.M. Datta, p. 137.
18. वही.
19. वेदान्त-परिभाषा, व्याख्याकार, विद्यानन्दजिज्ञासु, पृ. 324.
20. न्यायकन्दली (प्रशस्तपादभाष्य सहित) पृ. 233.
21. वही, पृ. 234.
22. न्यायकंदली (प्रशस्तपादभाष्य सहित, बनारस संस्कृत विश्वविद्यालय 1963), पृ. 232-35.
23. वही, पृ. 232.
24. प्रमेयकमलमार्तण्ड, (जावा जी एडीसन, बम्बई, 1912) पृ. 31,32.
25. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 31.32.
26. न्यायकुसुमांजलि (चौखम्भा, 1962) पृ. 158-63.
27. तर्कभाषा (मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1968), पृ. 187-95.
28. सप्तपदार्थी (विजयानगरम् संस्कृत सीरीज, बनारस, 1863) पृ. 30.
29. तार्किकरक्षा (बनारस, 1903), पृ. 52.
30. तत्त्वमुक्ताकलाप (बनारस, 1900) पृ. 394.
31. न्यायसिद्धाञ्जन (बनारस संस्कृत विश्वविद्यालय, 1966) पृ. 488-502.
32. ब्रह्मसूत्र, भास्करभाष्य, पृ. 6-7.

■

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय 8

सत् सम्बन्धी विचार

परम तत्त्व

जगत् में हम वस्तुओं और व्यक्तियों का नानात्व देखते हैं और उसी के साथ कहीं-कहीं एकत्व भी दिखाई देता है। घट, सुराही, सकोरे आदि के मूल में एक मिट्टी विद्यमान् है, कुर्सी, मेज, पलंग आदि का कारण एक लकड़ी है, कंकण, कंठा, केयूर आदि में एक ही तत्त्व स्वर्ण स्पष्ट दिखाई देता है। नानात्व के बीच इस प्रकार एकत्व देखकर सहज ही प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के कितने तत्त्व हैं जिनसे जगत् का नानात्व उत्पन्न हुआ है? यह प्रश्न विश्व के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में ही उठाया गया था। "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्"[1] आदि प्रश्न अनेक बार उपस्थित होते हैं और ऋषि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से किसी एक तत्त्व को खोजने का प्रयास करते हैं। पुरुष सूक्त में परम तत्त्व को एक पुरुष मानकर जगत् के नानात्व को उसके अंग-उपांग के रूप में कल्पित किया गया है।[2]

उपनिषदों के ऋषि परमतत्त्व के प्रश्न पर एकनिष्ठ होकर चिन्तन करने लगे:

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः
केन प्राणाः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति
चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥[3]

अर्थात् किस से प्रेरित होकर मन कार्य करता है, प्राण का प्रथम संचालक कौन है, वाणी किस से प्रेरित होकर बोलती है और चक्षु तथा श्रोतों को कौन प्रवृत्त करता है? अन्य उपनिषदों में भी यह प्रश्न उपस्थित कर परमतत्व का अनुसंधान किया गया है, जैसे "कतय एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म"[4] अर्थात् शाकल्य ने प्रश्न किया— "एक देव कौन है?" और याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया— "प्राण, वह ब्रह्म है।" छान्दोग्य उपनिषद् में आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से वही प्रश्न इस प्रकार पूछा— "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति"[5] अर्थात् क्या तुमने वह आदेश पूछा जिस के द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है? श्वेतकेतु इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका, तो उसके पिता ने स्वयं मृत्तिका, स्वर्ण और लौह से बनी नानारूप वस्तुओं का दृष्टान्त देकर "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"[6] कहा और सत् स्वरूप एक परमतत्त्व का निरूपण किया।

कुछ उपनिषदों, जैसे ईशावास्य में यह प्रश्न स्पष्ट सुनाई नहीं देता किन्तु उपनिषद् की विषयवस्तु से ज्ञात होता है कि इस प्रश्न को ध्यान में रखकर ही परमसत् का निरूपण किया गया है।

(क) सत् एवं असत्

उपनिषदों के ऋषियों ने परमतत्त्व का प्रश्न परम सत् से जोड़ रखा था। वे नानात्व को नामरूप मात्र अर्थात् इन्द्रिगोचर प्रतीति मात्र मानकर मूल में एक ऐसे तत्व को देखते हैं जो नामरूप रहित है और उसमें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies (AAIS-USA)

नामरूप उत्पन्न करने की शक्ति हैं। उन्होंने ऐसे तत्त्व को सत् कह कर उस से उत्पन्न होने वाले नाम रूपों और नानात्व को निहितार्थ (इम्प्लीकेशन) से असत् मान लिया। यदि आभूषण में स्वर्ण ही सत् है और विकार वाणी पर अवलम्बित है तो वह असत् ही सिद्ध होता है।[7]

स्वर्णाभूषणों और मृत्तिका-घट दृष्टान्तों से जिस सत्-असत् के विवेक का ज्ञान होता है वह अविकारी और विकारी का ही भेद है। अविकारी ही नित्य और अव्यय है। इसके विपरीत विकारी, अनित्य और व्यय है। प्रथम सत् है और द्वितीय असत्। इस परिभाषा को सभी साधारण व्यक्ति मानते हैं, तभी तो वे रस्सी को सत् और उस पर भासित होने वाले सर्प को असत् घोषित करते हैं। सर्प तभी तक वैसा भासित होता है जब तक हम उसे प्रकाश में नहीं देखते हैं। प्रकाश में उसकी अनित्यता सिद्ध हो जाती है और हम उसे असत् घोषित कर देते हैं।

साधारण व्यक्ति सत् की इस परिभाषा को सीमित क्षेत्र में ही प्रयोग करता है। यदि वह समस्त जगत् और उसमें अपने शरीर-मन-बुद्धि को सम्मिलित कर सत् की इसी परिभाषा रूपी कसौटी पर कसे तो देखेगा कि सभी नामरूप विकार हैं, अतः अनित्य और व्यय हैं। वे सत् नहीं हैं। उनके मूल में विद्यमान एक तत्त्व अविकारी है। वही सत् है।

सत्य की यह अव्यक्त परिभाषा योगवासिष्ठ, विष्णुपुराण, गौडपाद कारिका, आदि ग्रन्थों में व्यक्त रूप धारण कर लेती है। इन ग्रन्थों में यह परिभाषा शब्द-बद्धरूप में उपलब्ध होती है जैसे "आदावन्ते च यन्नित्यं तत्सत्यं"[9] अर्थात् जो आदि और अन्त में नित्य है वह सत्य है, "यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति"[9] अर्थात् जो कालान्तर में भी अन्य संज्ञा (नाम) नहीं प्राप्त करता (वह सत्य है), "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमाने ऽपि तत्तथा"[10] अर्थात् जो आदि और अन्त में नहीं है वह वर्तमान में भी वैसा ही है।

सत्य की यह बहुश्रुत परिभाषा शंकर ने भी स्वीकार की। उनके अनुसार सत् और असत् का विभाग बुद्धि के अधीन है।[11] अतःअपनी बुद्धि के अनुसार ही सत्-असत् का निर्णय करना चाहिए। सर्वत्र सत्-बुद्धि और असत्-बुद्धि ऐसी दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। जिस पदार्थ को विषय करने वाली बुद्धि नष्ट नहीं होती वह पदार्थ सत् है और जिसकी विषय करने वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है वह असत् है। सभी जगह समानाधिकरण में अर्थात् एक ही अधिष्ठान में सब को दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती हैं, जैसे घोड़ा है, कपड़ा है, हाथी है। इस तरह सब जगह दो-दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। इन दोनों बुद्धियों में से घटादि को विषय करने वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है, परन्तु सत् बुद्धि नष्ट नहीं होती। अतः घटादि बुद्धि के विषय अर्थात् समान भासित होने वाले घटादि रूप असत् हैं, क्योंकि उनका विषय करने वाली बुद्धि का व्यभिचार हो जाता है, परन्तु सत् बुद्धि के विषय का अस्तित्व है, वह असत् नहीं है क्योंकि उसका व्यभिचार नहीं होता है।

घट का नाश होने पर घटविषयक बुद्धि नष्ट हो जाती है किन्तु उसकी सत् बुद्धि नष्ट नहीं होती। वह वस्त्रादि अन्य वस्तुओं में दिखाई देती है। यदि कहा जाय कि सत् बुद्धि की भाँति घट-बुद्धि भी तो दूसरे घट में दिखती है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वस्त्रादि में घट-बुद्धि नहीं देखी जाती है।

घट के नष्ट होने पर घट-बुद्धि नष्ट होती है, किन्तु यह न समझना चाहिए कि उसके साथ सत्-बुद्धि भी नष्ट हो गयी, क्योंकि वस्त्रादि में वह घट-बुद्धि विद्यमान रहती है। शंकर सत्-बुद्धि के नष्ट होने की भ्राँति का कारण बताते हुए कहते हैं कि "विशेषण विषया एव सा सद्-बुद्धि"[12] अर्थात् सत्-बुद्धि केवल विशेषण को ही विषय करने वाली है। यहाँ उदाहरण में घट विशेष्य है और अस्तित्व विशेषण है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जब घट-विशेष्य का अभाव हो गया, तो बिना विशेष्य के विशेषण की अनुपपत्ति होने पर बुद्धि में ऐसा प्रतीत होता है मानों सत्-बुद्धि भी नष्ट हो गयी। पर विशेष्य का अभाव होने से सत्-बुद्धि का अभाव नहीं होता। अतः शंकर का निर्णय है कि "य द्विषायाबुद्धिः न व्यभिचरित तत् सत्"[13] अर्थात् जिस पदार्थ को विषय करने वाली बुद्धि नष्ट नहीं होती। वह सत् है। "सतोऽन्यत्वे अमृतत्त्वं"[14] अर्थात् जो वस्तु सत् से अन्य है वह असत् या अनृत् है।

इसी सिद्धान्त के आधार पर शंकर "परमार्थ" को भी परिभाषा देते हैं। "एकरूपेण ह्यवस्थिता योऽर्थःस परमार्थ"[15] अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसी रूप में रहे तो वह परमार्थ हैं। इसके विपरीत "न हि वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति"[16] अर्थात् विकार नाम की कोई वस्तु यथार्थ रूप में नहीं है। "विकारोऽनृतम्"[17] विकार असत् है। विकार का यही लक्षण है कि उसका विषय करने वाली बुद्धि व्यभिचरित हो जाती है। "अदृश्ये दृश्यं नाम द्रष्टव्यं विकारः"[18] अर्थात् अदृश्य में देखे जाने वाले विकार कहलाते हैं।

(ख) निर्गुण ब्रह्म

नामरूपात्मक विकारों का निषेध करने पर जो अविकारी, शाश्वत्, नित्य वस्तु प्राप्त होती है वही शंकर का सत् या परमार्थ है। इसका नाम है ब्रह्म।

परमतत्व को ब्रह्म कहने का यह कारण है कि "निरतिशय भूमाख्यं बृहत्वाद्ब्रह्मेति विद्धि"[19] अर्थात् अपने बृहत्व के कारण निरतिशय या भूमा ही ब्रह्म कहलाता है। "बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति"[20] अर्थात् बढ़ा हुआ है तथा बढ़ता है इसलिए परब्रह्म कहा जाता है।

ब्रह्म का स्वरूप निर्धारित करने के लिए शंकर उसके लक्षण बताते हैं और लक्षण तथा विशेषण के बीच भेद स्पष्ट करते हैं। "समान जातीयेभ्य एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य"[21] अर्थात् विशेषण अविशेष्य का उसके सजातीय पदार्थों से ही व्यावर्तन करने वाले होते हैं। "लक्षणं तु सर्वगत एव"[22] अर्थात् उसे सभी से व्यावृत्त कर देता है। अतः ब्रह्म के लक्षण बता देने से वह जगत् आदि से पृथक् होकर ज्ञान का विषय बन जाता है। उसके लक्षण बताते हुए शंकर कहते हैं— "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ब्रह्मणो लक्षणार्थं वाक्यम्"[23] अर्थात् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म— यह वाक्य ब्रह्म का लक्षण करने के लिए है। ब्रह्मसूत्र में "ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणों लक्षणमुक्तम— जन्माद्यस्य यतः"[24] अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा पर "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्र से उसका लक्षण कहा गया है। इन्हीं लक्षणों का उल्लेख शंकर ने अपने भाष्यों में अनेक बार किया है। जैसे, तत्वोपदेश में "सत्यं ज्ञानमनन्तं च ब्रह्मलक्षणमुच्यते"[25] अपरोक्षनुभूति में "ब्रह्म सच्चिदानन्द लक्षणः"[26] और तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य में "यतो यस्माद्वा इमानि ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि भूतानि जायन्ते.....तदेतद् ब्रह्मणो लक्षणम्"[27] अर्थात् जिससे ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं जिसके आश्रय से ये जन्म लेने के अनन्तर जीवित रहते हैं, प्राण धारण करते और वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा विनाशकाल उपस्थित होने पर जिसके प्रति प्रयाण करने वाले अर्थात् जिस ब्रह्म के प्रति गमन करने वाले ये जीव उसमें प्रवेश करते हैं अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लयकाल में प्राणी उसकी तद्रूपता का त्याग नहीं करते, यही उस ब्रह्म का लक्षण है। कहीं-कहीं लक्षण के स्थान में शंकर ने "लिंग" शब्द का भी प्रयोग किया है जैसे "ब्रह्मलिंगमभिहितं भवति"[28] अर्थात् स्रष्टत्व आदि से ब्रह्मलिंग का अभिधान होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आगे चलकर वेदान्त-परिभाषा आदि में लक्षणों के "स्वरूप" और "तटस्थ" जो भेद किये गये हैं,[29] वे शंकर की रचनाओं में स्पष्ट रूप से नहीं मिलते हैं किन्तु इतना निश्चय है कि शंकर ने इन दोनों प्रकार के लक्षणों को मान्यता दी है जैसा कि हम ऊपर दिये गये उद्धरणों में स्पष्ट देखते हैं।

सत्य, ज्ञान और अनन्त— यही तीन लक्षण ब्रह्म का बोध कराने के लिए विशेष रूप से क्यों कहे गये हैं? इस प्रश्न का समाधान करते हुए शंकर कहते हैं, कि ब्रह्म का "सत्य" लक्षण तो यह सूचित करता है कि वह सदा एक रूप से विद्यमान है। "जो पदार्थ जिस रूप से निश्चय किया गया है उससे व्यभिचरित न होने के कारण वह सत्य कहलाता है। जो पदार्थ जिस रूप से निश्चित किया जाय और फिर वह उस रूप से व्यभिचरित हो जाय तो वह मिथ्या कहा जाता है। इसलिए विकार मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है। अतः "सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्म विकारान्निवर्तयति"[30] अर्थात् सत्य ब्रह्म है— यह वाक्य ब्रह्म को विकाराभाव से निकृत्त करता है।

ब्रह्म का निरूपण करने के लिए यही एक लक्षण पर्याप्त नहीं है, क्योंकि "इससे ब्रह्म का कारणत्व प्राप्त होता है।" विकार स्वयं असत् है। वे असत् से ही उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। उनकी उत्पत्ति के लिए अधिष्ठान रूप में सत् वस्तु होना अपेक्षणीय है। इस तर्क से यदि ब्रह्म कारण है तो मृत्तिका के समान उसकी जड़ता का प्रसंग उपस्थित होता है। इस मिथ्या धारणा का प्रत्याख्यान करने के लिए "ज्ञानं ब्रह्म" यह वाक्य कहा गया। जगत् के कारणरूप ब्रह्म में जडता की आशंका कर उसका निवारण करने के लिए ही ब्रह्मसूत्र "ईक्षतेर्नाशब्दम्"[31] (ईक्षण के कारण प्रधान जगत् का कारण नहीं है) ऐसा कहते हैं।

किन्तु यहाँ "ज्ञान" शब्द का अर्थ ज्ञप्ति या बोधमात्र समझना चाहिए। "ज्ञानं ज्ञप्तिरवबोधः, भावसाधनो ज्ञान शब्दो न तु ज्ञानकर्तृ" अर्थात ज्ञान प्राप्ति यानी अवबोध को कहते हैं, यह शब्द भाववाचक है, उसका अर्थ ज्ञानकर्त्ता नहीं है। ज्ञानकर्त्ता रूप से विकार को प्राप्त करने वाला ब्रह्म सत्य है और अनन्त नहीं हो सकता। जो किसी से विभक्त न हो वही अनन्त हो सकता है। ज्ञानकर्त्ता होने पर तो वह ज्ञेय और ज्ञान से विरक्त होगा, इससे उसकी अनन्तता सिद्ध नहीं हो सकेगी। अतः "ज्ञानं ब्रह्मेति कर्तृत्वादि कारक निवृत्त्यर्थं मृदादिवदचिद्रूपतानिवृत्त्यर्थं च प्रयुज्यते"[32] अर्थात् ज्ञानं ब्रह्म। इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान का लक्षण उसके कर्त्त्वादि कारकों की निवृत्ति के लिए तथा मृत्तिका आदि के समान उसकी जड़रूपता की निवृत्ति के लिए प्रयोग किया जाता है।

ब्रह्म का लक्षण "ज्ञान" बताने से यदि लौकिक ज्ञान के समान उसमें अन्तत्व की आशंका की जाय तो उसका निवारण करने के लिए "अनन्तं ब्रह्म" इस प्रकार कहा जाता है। "इस प्रकार से सत्यादि शब्द एक-दूसरे की सन्निधि से एक-दूसरे के नियम्य और नियामक होकर सत्यादि शब्दों के वाच्यार्थ से ब्रह्म को अलग रखने वाले और उसका लक्षण करने में उपयोगी होते हैं।"[33]

ब्रह्म सत् होने के कारण अव्यय, नित्य, शाश्वत्, अमृतस्वरूप, अखण्ड और अविनाशी है,[34] ज्ञानस्वरूप होने के कारण चेतन, संविद्रूप, प्रकाश स्वरूप और बोध स्वरूप है तथा अनन्त होने के कारण वह सर्वव्यापी, भूमा, पूर्ण और आनन्दस्वरूप है।[35]

इसके अतिरिक्त शंकर ने उसका वर्णन निषेधमुख से भी किया है जैसे, वह नामरूपगुणदोष रहित है, देशकालविषयातिवर्ति है, वाणी का अविषय और अगोचर है, षट्विकार रहित, अपरिणामी और निश्चल है। वह कार्यकारणभाव से परे और निरञ्जन है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(ग) ईश्वर

यह परमार्थ सत् ब्रह्म माया के प्रकाश से सगुण ब्रह्म या अपर ब्रह्म कहलाता है। यही ब्रह्म जगत् का कारण है और ईश्वर नाम से प्रसिद्ध है। "न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः....उत्पत्यादि संभावयितुं शक्यम्"[36] अर्थात् पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त जगत् की यथोक्त विशेषण विशिष्ट ईश्वर को छोड़कर अन्य से उत्पत्ति आदि की संम्भावना नहीं की जा सकती।

ईश्वर सर्वज्ञ है और उसे ज्ञान के लिए शरीर और इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है। वह सूर्य के समान नित्य प्रकाशस्वरूप होने के समान नित्य ज्ञानस्वरूप है।[37] "तस्य समस्त जगत्कारणस्य ब्रह्मणो व्यापित्वं नित्यत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं सर्वात्मत्वमित्येव जातीयका धर्मा उक्ता एव भवन्ति"।[38] अर्थात् समस्त जगत् के कारणरूप उस ब्रह्म के सर्वव्यापकत्व, नित्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व, सर्वात्मकत्व इस प्रकार के धर्म भी कहे जाते हैं। ईश्वर अन्तर्यामी, है, यह निश्चय करते हुए शंकर कहते हैं— "यो ऽ न्तर्याम्यधिदैववादिषु श्रूयते स परमात्मैव स्यात्"[39] अर्थात् अधिदैव आदि में जो अन्तर्यामिरूप से सुना जाता है वह परमात्मा ही है। वह शरीर और इन्द्रिय रहित ईश्वर अन्तर्यामी कैसे होता है— इसका समाधान करते हुए शंकर कहते हैं, "यान्नियच्छति तत्कार्यकरणैरेव तस्य कार्यकरणवत्वोपपत्तेः"[40] अर्थात् जिनका वह नियमन करता है उनके शरीर और इन्द्रियों से ही वह शरीर और इन्द्रियवाला हो सकता है। उस का भी दूसरा नियन्ता हो, इस प्रकार अनवस्था दोष यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्तुतः भेद का अभाव है। भेद होने पर ही अनवस्था दोष की उपपत्ति होती है। इसलिए परमात्मा ही अन्तर्यामी है। यहाँ शंकर सगुण ब्रह्म या ईश्वर के लिए "परमात्मा" शब्द का प्रयोग करते हैं। उसकी अपनी सार्थकता है। सब प्राणियों का आत्मा ही परमात्मा है। परमात्मा होने से ही वह सब के अन्तर्तम में स्थित होकर उनका नियमन करता है। नियमन करना कार्य ब्रह्म की ही उपाधि हो सकती है। अतः वही ईश्वर है।

वह परमात्मा सत्य संकल्प है। "सत्यसंकल्पत्वं हि सृष्टिस्थिति संहारेष्वप्रतिबद्ध -शक्तित्वात्परमात्मन एवावकल्पते"[41] अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय में अप्रतिहत शक्ति होने से परमात्मा ही सत्य संकल्प हो सकता है। इस प्रकार जगत् और जीव की अपेक्षा रख कर शंकर ने ईश्वर के सृष्टा और नियन्ता आदि लक्षण बताये हैं। जीव के लिए वह उपास्य भी है।

यह ईश्वर ब्रह्म से भिन्न तत्व नहीं है। माया की उपाधि सहित ब्रह्म ही ईश्वर और माया की उपाधि से रहित ईश्वर ब्रह्म है। शरीर एवं इन्द्रियों से रहित होते हुये भी वह सर्वज्ञ है एवं सब वस्तुओं का कारण हैं। जिस प्रकार सूर्य का स्वरूप ही प्रकाश है उसी प्रकार शाश्वत् का ज्ञान ईश्वर का स्वरूप है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि विश्व की उत्पत्ति के पूर्व ईश्वर के ज्ञान का विषय क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकर का कहना है कि इस विश्व के अविकसित नामरूप ही उसके ज्ञान के विषय रहते हैं।[42]

शंकर ब्रह्म के ज्ञान को परा-विद्या कहते हैं जबकि ईश्वर के ज्ञान को अपरा-विद्या अथवा सगुण-विद्या की संज्ञा देते हैं।[43] ईश्वर का ज्ञान ब्रह्म के ज्ञान से भिन्न है। ब्रह्म के ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में विश्व का ज्ञान भी निहित रहता है जिसके कारण हम मुक्ति से वंचित रहते हैं।

ईश्वर और ब्रह्म में भेद दिखलाने का तात्पर्य यह नहीं है कि शंकर दो भिन्न-भिन्न तत्वों का प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्म एवं ईश्वर ब्रह्म के ही दो पक्ष हैं। ब्रह्म ही परम सत् है। ईश्वर मूलतः ब्रह्म ही है। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार ईश्वर ब्रह्म एवं विश्व के मध्य का तत्त्व है क्योंकि वह दोनों के स्वरूप में भागीदार है। ईश्वर ब्रह्म से एकता रखते हुये भी विश्व से सम्बन्धित है।[44]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies (AAIS)

शंकर मानते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व किसी भी युक्ति द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी जाने वाली सभी युक्तियाँ अपर्याप्त हैं। ईश्वर अनुमान इत्यादि प्रमाणों के द्वारा भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए एक मात्र प्रमाण श्रुति ही है।[45] किन्तु शंकर की रचनाओं में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तीन युक्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

(1) कार्य-कारण युक्ति

शंकर के अनुसार ईश्वर ने ही इस विश्व की रचना की है। वही इसे धारण करता है और वही इसका विघटन करने वाला है। ईश्वर सर्वशक्तिवान् एवं सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिवान ही इस विश्व का कारण हो सकता है। [46] ईश्वर का कोई कारण नहीं है वरन् ईश्वर समस्त विश्व का कारण है। ईश्वर विश्व का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों है। शङ्कर वैशेषिक दर्शन की भाँति परमाणुओं को विश्व का उपादान कारण नहीं मानते। वे सांख्य की भाँति प्रकृति को भी उपादान कारण स्वीकार नहीं करते। अविकसित एवं अभेदयुक्त विश्व के नामरूप जो इस विश्व के बीजरूप हैं और अविद्यात्मक हैं, ईश्वर के स्वरूप को निर्मित करते हैं। वे ही इस विश्व के कारक सूक्ष्म तत्त्वों के कारण हैं।

ईश्वर इस विश्व का निमित्त कारण होने के नाते नाम-रूप के अभेदयुक्त बीजों में विभेदीकरण करता है। सूक्ष्म तत्त्वों की रचना करके एक विशेष अनुपात में उन्हें एक दूसरे से मिलाता है और इस प्रकार स्थूल तत्त्वों को उत्पन्न करता है। वही इस सम्पूर्ण विश्व का धारण करने वाला है। वह आकाश, सूर्य एवं चन्द्रमा इत्यादि को धारण किये है। जिस प्रकार एक जादूगर अपने जादू द्वारा रचित संसार को अपनी इच्छाशक्ति से अपने में समेट लेता है उसी प्रकार प्रलय के समय ईश्वर इस समस्त विश्व को अपने में ही समेट लेता है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी गयी इस कार्य-कारण युक्ति के विरुद्ध अपने पूर्वपक्षी की ओर से शंकर ने स्वयं कुछ आपत्तियाँ उठाकर उनका उत्तर भी दिया है। सर्वप्रथम इस युक्ति के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि ईश्वर और विश्व के स्वरूप में भेद है। ईश्वर शुद्ध, चेतन, अविकारी एवं अपरिवर्तनशील है, किन्तु यह विश्व अशुद्ध, अचेतन, विकारी एवं परिवर्तनशील है। अतः ईश्वर विश्व का कारण नहीं हो सकता क्योंकि कार्य एवं कारण का स्वरूप समान होना चाहिए।[48] सोने के आभूषणों का कारण मिट्टी नहीं हो सकती क्योंकि इन दोनों के स्वरूप में भेद है।

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए शंकर कहते हैं कि कार्य एवं कारण के स्वरूप में समानता होना आवश्यक नहीं है। स्वरूपतः अचेतन, बाल, नाखून इत्यादि चेतन मनुष्य से उत्पन्न होते हैं। चेतन बिच्छू अचेतन गोबर से उत्पन्न हो जाता है। और यदि यह कहा जाय कि बिच्छू, गोबर, नाखून, बाल एवं मनुष्य में पृथ्वी का तत्व समान रूप से विद्यमान् है तो शंकर कहते हैं कि ईश्वर और विश्व में भी तो अस्तित्व का तत्त्व समानरूप से विद्यमान है।[49] इस प्रकार शंकर यह सिद्ध करते हैं कि कार्य एवं कारण के स्वरूप में समानता आवश्यक नहीं है।

शंकर मानते हैं कि प्रलय के समय विश्व सिमटकर ईश्वर में ही विलीन हो जाता है। इस पर आपत्ति करते हुये पूर्वपक्षी कह सकता है कि विश्व का स्थूल्य, सावयवत्व, अचेतनता, अशुद्धता एवं सीमितता इत्यादि यदि ईश्वर में विलीन होते हैं तो वे ईश्वर के स्वरूप को दूषित कर देंगे। इसके उत्तर में शंकर का कहना है कि यह आवश्यक नही है। जब कार्य कारण में विलीन होता है तो कार्य के गुण कारण में नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आते। सोने के आभूषण जब सोने में विलीन होते हैं तो आभूषणों के गुण सोने में नहीं आते। अतः जब विश्व ईश्वर में लीन होता है तो विश्व के गुण ईश्वर को दूषित नहीं करते।[50]

ईश्वरकारणवाद के विरुद्ध यह भी आपत्ति की जा सकती है कि यदि ईश्वर विश्व का कारण है तो वह पक्षपाती है क्योंकि इस विश्व में कुछ व्यक्ति गरीब हैं, कुछ अमीर, कुछ दुःखी हैं तो कुछ सुखी। यदि एक ईश्वर ही हम सबका कारण है तो यह भेद क्यों? इन भेदों से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर कुछ व्यक्तियों के साथ पक्षपात करता है। इस आलोचना के उत्तर में शंकर कहते हैं कि व्यक्तियों में भेद उनके कर्मों के अनुसार है। जिसके जैसे कर्म होते हैं ईश्वर उसको, निष्पक्षरूप से, वैसा ही फल देता है। अतः ईश्वर को पक्षपात करने वाला सिद्ध नहीं किया जा सकता।

यह भी कहा जा सकता है कि जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु की रचना करता है तो वह कुछ उपकरणों का सहारा लेता है। जैसे कुम्हार घड़ा बनाने के लिए कुछ उपकरणों का प्रयोग करता है। ईश्वर अशरीरी है। अतः वह विश्व की रचना करने के लिए किन उपकरणों का प्रयोग करता है? इसका उत्तर देने के लिए शंकर परिणामवाद का सहारा लेते हैं। जैसे दूध दही में परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार ईश्वर की प्रकृति अथवा माया विश्व में परिवर्तित होती है।[51]

पूर्वपक्षी यह भी कह सकता है कि विश्व की रचना में ईश्वर का उद्देश्य क्या है? संसार का प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर ही कार्य करता है। विना उद्देश्य के कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार का भी कार्य नहीं करता, अतः इस विश्व उद्देश्य की रचना में भी ईश्वर का कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य है। और यदि ईश्वर का कुछ उद्देश्य है तो वह अपूर्ण है क्योंकि जो पूर्ण है उसका कोई उद्देश्य नहीं होता।[52] इस आलोचना के उत्तर में शंकर का कहना है कि विश्व की रचना में ईश्वर का कोई उद्देश्य नहीं है। ईश्वर क्रीडा अथवा लीलावत् विश्व की रचना करता है। जिस प्रकार बालक की क्रीडा का कोई उद्देश्य नहीं होता उसी प्रकार ईश्वर की रचना का कोई उद्देश्य नहीं है।

प्रलय की अवस्था में विश्व एवं ईश्वर में अभेद की स्थिति हो जाती है क्योंकि विश्व ईश्वर में विलीन होता है। इस दशा में अनेक भोक्ता एवं भोग-विषय भी ईश्वर से अभेद की स्थिति को प्राप्त होते हैं। किन्तु जब पुनः सृष्टि होती है तब सभी भोक्ता एवं भोग-विषय अलग-अलग हो जाते हैं। प्रश्न यह है कि प्रलयकाल की अभेद की स्थिति में यह विभेदीकरण किस प्रकार होता है? इसका क्या कारण है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकर का कहना है कि जिस प्रकार हमारी आत्मा सुषुप्ति की अवस्था में अभेद की स्थिति को प्राप्त होती है, किन्तु जगने पर पुनः भेद की स्थिति को प्राप्त होती है उसी प्रकार जो आत्मायें मुक्त नहीं हैं, जिनके कर्मों का क्षय नहीं हुआ है वे फिर संसार-चक्र में आ जाती हैं।

(2) उद्देश्यपरक युक्ति

शंकर मानते हैं कि विश्व में एकता, व्यवस्था, सामंजस्य एवं क्रम सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक स्थान पर समायोजन एवं अनुकूलन भी विद्यमान् है। विभिन्न प्रकार के जीवधारियों के अवयवों में समायोजन है। यह समायोजन समस्त प्रकृति में भी विद्यमान् है। इसका कारण क्या है? शंकर के अनुसार प्रकृति इसका कारण नहीं हो सकती, क्योंकि वह अचेतन है। इसका कारण बुद्धियुक्ति विवेकशील कर्त्ता ही हो सकता है।[53] मनुष्य भी इसका कारण नहीं हो सकता क्योंकि उसकी बुद्धि एवं विवेक सीमित है। अतः एक असीमित बुद्धि एवं विवेकयुक्त तत्त्व ही इसका कर्त्ता हो सकता है और वह तत्त्व ईश्वर है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, AAIS(USA)

(3) नीतिपरक युक्ति

शंकर कर्म के नियम में विश्वास करते हैं। मनुष्य जिस प्रकार के कर्म करता है, उसी प्रकार का फल मिलता है। मनुष्य के कार्यों में विविधता है। इसीलिए भिन्न-भिन्न फल प्राप्त होते हैं। प्रश्न यह है कि मनुष्य को कर्मों के अनुसार फल कैसे प्राप्त होता है? मनुष्य अपने कर्मों का फल स्वयं नहीं ले सकता। क्योंकि ऐसी स्थिति में वह अपने बुरे कर्मों का फल भी अच्छा ही ले लेगा। इस सम्बन्ध में मीमांसकों का कहना है कि हमारे कर्म ही एक अदृश्य (अपूर्व) शक्ति को जन्म देते हैं और यह अपूर्व ही उचित समय पर उन कर्मों का फल देता है। शंकर मीमांसकों के इस मत से सहमत नहीं है।[54] उनका कहना है कि अचेतन होने के कारण अदृश्य हमारे कर्मों का फल नहीं दे सकता है। वह किसी चेतन शक्ति के निर्देशन में ही कार्य कर सकता है। अतः एक निष्पक्ष चेतन शक्ति ही हमारे पाप एवं पुण्य के अनुसार फल देती है। वह निष्पक्ष चेतन शक्ति ईश्वर है।[55] इसके अतिरिक्त शंकर यह भी मानते हैं कि विधि एवं निषेध का ज्ञान देने वाले वेद भी उसी ईश्वर की कृति हैं। वेद ईश्वर की सांस से उत्पन्न हुये हैं। ईश्वर की इच्छा ही नैतिक मापदण्ड हैं। उसकी इच्छा वेदों से ही ज्ञात होती है।[56]

सुरेश्वराचार्य परमतत्त्व ब्रह्म को प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से सिद्ध मानते हैं।[57] प्रत्यक्ष में जो सत्ता दिखाई देती है वह परमतत्त्व की ही है—

असाधारणरूपेषु व्यावृत्तेष्वितरेतरम्।

बहुष्वेकं यदा भाति प्रत्यक्षं कारणं तु तत्॥[58]

अर्थात् परस्पर व्यावृत्त अनन्त असाधारण रूपों में सभी में जो एक आभासमान् है वही इन सबका कारण है।

परमतत्त्व यदि सदात्मक है और वह सबका आत्मा है तो वह सर्वदा उपलब्ध क्यों नहीं होता, इस शंका का उत्तर देते हुए सुरेश्वर कहते हैं कि विद्यमानतामात्र अभिव्यक्ति की प्रयोजक नहीं। सत् व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों में रह सकता है। जो उपलब्ध हो वही सत् नहीं है। पृथक्-पृथक् कार्यों के रूप में सर्वदा व्यक्त न रहने पर भी वह विद्यमान रहता है।[59]

पद्मपाद के अनुसार ब्रह्म में वस्तुतः धर्म-धर्मी भाव न होने पर भी उनकी पृथक्वत् कल्पना की जाती है।[60] सत्य-ज्ञान-आनन्द आदि ब्रह्म के अभेद रूप हैं, इसलिए इनको एक-दूसरे से भी पृथक् नहीं किया जाता है। संक्षेपशारीरक में सर्वज्ञात्म मुनि कहते हैं कि सत्य में ज्ञान और ज्ञान में सत्यता है। आनन्द में ज्ञान और ज्ञान में आनन्द हैं। आनन्द में सत्यता और सत्यता में आनन्द है। सत्य, ज्ञान और आनन्द में कोई भेद नहीं हैं। ये सब अभिन्न हैं क्योंकि एक ब्रह्म के ही ये सब लक्षण हैं।[61] सर्वज्ञात्म का ध्यान निरन्तर निर्गुण ब्रह्म की ओर ही है। सगुण ब्रह्म की और उसकी उपासना की वे उपेक्षा करते हैं।[62] निर्गुण ब्रह्म और उसके ज्ञान के साधन श्रवण आदि पर उन्होंने ऐसी शंकाओं का समाधान किया है जिनकी ओर शंकर का ध्यान नहीं गया था।

विद्यारण्य "पंचदशी" में परमतत्त्व का प्रतिपादन सच्चिदानन्द स्वरूप करते हैं और उसके प्रमाण में श्रुति, युक्ति और अनुभव उपस्थित करते हैं। शब्द-स्पर्श आदि वैध पदार्थ विचित्रता के कारण पृथक् हैं किन्तु उनका ज्ञान उनसे पृथक् एक रूप है। वह एकरूप संवित् (बोध) जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं में निरन्तर अनुभव की जाती है। यह निरन्तरता दिन, मास, वर्ष, युग, कल्पादि में अविच्छिन्न बनीं रहती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है। "नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा"[63]— यह स्वयं प्रकाशस्वरूप चैतन्य सदा एक ही है और इसका कभी उदय और नाश नहीं होता। यह परमप्रेमास्पद होने के कारण परम आनन्दस्वरूप है।[64]

इत्थं सच्चित्परानन्द आत्मा युक्तया तथाविधम्।

परं ब्रह्म, तयोश्चैक्यं श्रुतयन्तेषूपदिश्यते॥[65]

अर्थात् इस प्रकार युक्ति से आत्मा को सत्, चित् और परानन्द स्वरूप सिद्ध कर दिया। पर ब्रह्म भी ऐसा ही (सच्चिदानन्द) है। श्रुतियों (उपनिषदों) में उक्त दोनों की (आत्मा और ब्रह्म की) एकता का उपदेश सुनते हैं।

इस परमतत्त्व में स्वगत, सजातीय या विजातीय कोई भेद नहीं है।[66] अनुमान ही जिनका एक मात्र सहारा है। वे बौद्ध आदि श्रुतियों का आदर नहीं करते और अचिन्त्य सदात्मा को भ्रान्ति से निरात्मा मान बैठते हैं।[67]

विद्यारण्य ने सत् की परिभाषा इस प्रकार की है— "सत्यत्वं बाधराहित्यं"[68]— सत् उसी को कहते हैं जिसका बाध न हो। इस सकल जगत् में बाध का जो एकमात्र साक्षी है उसके बाध का साक्षी कोई नहीं हो सकता। वह निर्बाध होने के कारण सत् है।

अनन्तता का बाध करने वाले देश, काल और वस्तु— ये तीन परिच्छेद हैं, किन्तु परमतत्त्व व्यापक, नित्य और सर्वात्मा होने के कारण अपरिच्छिन्न और अनन्त है।[69] देश, काल और वस्तुयें मायिक हैं। वे सद्वस्तु का परिच्छेद नहीं कर सकती हैं। ईश्वर और जीव के भेद मायाकृत उपाधि के कारण ही हैं, वस्तुतः नहीं हैं।[70] माया (सत्वप्रधान) की उपाधि से "ब्रह्मैव ईश्वरतां व्रजेत्[71] ब्रह्म ही ईश्वरता को प्राप्त होता है जो चराचर जगत् का नियन्ता है और मलिन सत्त्व की उपाधि से कोशोपाधि विवक्षायं याति ब्रह्मैव जीवताम्"[72]— पंचकोशों की विविक्षा से ब्रह्म ही जीवता को प्राप्त होता है।

कूटस्थ को भी ब्रह्म का एक रूप मान कर विद्यारण्य परमतत्त्व के चार उपाधि भेद मानते हैं।[73]

"कूटस्थौ ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा।

अर्थात् एक ही चित् कूटस्थ, ब्रह्म, जीव तथा ईश— इन चार रूपों में है। जो चेतन दोनों देहों का अधिष्ठान होने से दोनों से अवच्छिन्न है। उसे कूटस्थ कहते हैं। बुद्धि उस कूटस्थ में कल्पित है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन प्राण धारण करने पर जीव कहलाता है। जीव और कूटस्थ में अन्योन्याध्यास होने से जीवन कभी भी कूटस्थ को पृथक् करके नहीं जानता है। यही अवधि अविद्या है। माया की उपाधि से ईश्वर अन्तर्यामी, सर्वज्ञ और जगत् योनि है।[75] युक्ति से यह समझना चाहिए कि सुषुप्ति के समय जो आनन्दमय अनुभव होता है वही सर्वेश्वर है। वेदों में इसी को ईश्वर या अन्तर्यामी कहते हैं। व्यष्टि में जीव का जो आनन्दमय कोश है। वह सब जीवों का समष्टिरूप में ईश्वर है। वही सृष्टि का आविर्भाव और तिरोभाव करता है।[76] वह अपने में विलीन हुए समस्त जगत् को फैलाये हुए चित्रपट के समान प्राणियों के कर्मों के अनुसार आविर्भूत कर देता है। वही प्राणियों के भोगदायी कर्मों के क्षीण हो जाने पर अपने चित्रों को अपने भीतर छिपा लेने वाले संकोचित वस्त्र के समान इस सम्पूर्ण जगत् को अपने आप में छिपा लेता है।[77]

विद्यारण्य ईश्वर और ब्रह्म में भी अन्योन्याध्यास मानते हैं। अपात दृष्टि से उनकी पृथक्ता का बोध नहीं होता है। "ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातर्शिनः।[78] किन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि ब्रह्म असंग है, उससे सृष्टि नहीं हो सकती। जगत् का सर्जन मायावी ईश्वर ही कर सकता है। जिस ब्रह्म के विषय में श्रुति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies (AAIS)

कहती है "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह"[79] वह निर्गुण ब्रह्म की असंगता सिद्ध करती है। सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के विषय में अन्य श्रुति इस प्रकार है— "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तीस्मंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः"[80]। इससे स्पष्ट है कि मायी ईश्वर जगत् की रचना करता है।[81]

ईश्वर के तीन रूप हैं— ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट्। व्यष्टि में जीव का प्राज्ञ, तेजस् और वैश्व रूप है। समष्टि में ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् रूप है। यह समस्त जगत्, ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त, उसी विराट् रूप ईश्वर का शरीर है।[82] ये जीव के सभी रूप, ईश्वर के विविध रूप और समस्त सृष्टि माया कल्पित है, अतः समस्त भेद भी कल्पित हैं।

ईक्षणादि प्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।

जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीव कल्पितः॥[83]

अर्थात् ईक्षण से लेकर प्रवेश पर्यन्त कही गयी सृष्टि ईश्वर कल्पित है और जाग्रत् आदि अवस्थाओं से मोक्षपर्यन्त संसार जीव की रचना है। किन्तु जो लोग असंग ब्रह्म तत्त्व को नहीं जानते वे वृथा ही माया कल्पित जीव और ईश्वर के विषय में परस्पर कलह करते हैं।[84]

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार परमतत्त्व ब्रह्म ही है, वही आप्ततत्त्व भी है। वे आत्मा और अनात्मा को द्रष्टा और दृश्य रूप में विभक्त करते हैं। आत्मा देशकालवस्तु अपरिच्छिन्न है, इसलिए अविनाशी और नित्य है। अनात्मा घटादि के समान परिच्छिन्न हैं वह निश्चय ही विनाशी है। अभाव चार प्रकार के हैं— प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। अनात्मा पदार्थ इन अभावों की श्रेणी में आते हैं। आत्मा का किसी प्रकार अभाव नहीं है। "सद्रूपस्यात्मनः सर्वत्रानुगमाच्च नात्यन्ताभावसंभवः"[85] अर्थात् आत्मा सद्रूप और सर्वत्र विद्यमान है, इसलिए उसका अत्यन्त अभाव सम्भव नहीं है। अन्य अभावों का भी आत्मा में होना तर्क से खण्डित किया गया है।

आत्मा एक होते हुए भी उपाधियों के कारण पृथक्वत् भासित होता है। "किं तु स्वप्रकाशबोधरूपे आत्मनि अद्वैतेऽप्यनाद्यनिर्वचनीयाऽविद्याकल्पिता"[86] अर्थात् स्वप्रकाश और बोधरूप होते हुए भी अद्वैत आत्मा में अनादि, अनिर्वचनीय अविद्या कल्पित है। इसी अविद्या की उपाधि से आत्मा ईश्वर, जीव और साक्षी रूप में कहा जाता है। "आत्मा पारमार्थिक एकः सर्वदैकरूपोप्यौपाधिक भेदेन विविधः ईश्वरो जीवः साक्षी चेति"[87] अर्थात् आत्मा पारमार्थिक एक और सर्वदा एकरूप रहने वाला है। किन्तु उपाधि भेद से ईश्वर है, जीव और साक्षी तीन रूपों में है। कारणीभूत अज्ञान की उपाधि से आत्मा ही ईश्वर है और अन्तःकरण तथा उसके संस्कारों से अवच्छिन्न अज्ञान से उपहित आत्मा जीव है। साक्षी का रूप स्पष्ट करते हुए मधुसूदन कहते हैं— "अविद्या प्रतिबिम्बेश्वर पक्षे बिम्बचैतन्यं, बिम्बेश्वर पक्षे च बिम्बप्रतिबिम्ब मुखानुगतमुखस्वरूपवत् जीवेश्वरानुगतं सर्वानुसन्धातृ चैतन्यं, साक्षीत्युच्यते "[88] अर्थात् अविद्या प्रतिबिम्बित ईश्वर के पक्ष में बिम्बचैतन्य साक्षी है और बिम्ब को ईश्वर मानने के पक्ष में वह बिम्ब ही साक्षी है जो जीव और ईश्वर दोनों के अनुगत है, जैसे एक मुख दर्पण में प्रतिबिम्ब रूप हो और दूसरा मुख अपने कंधों पर रखा हुआ। जीव अपनी उपाधि के अवान्तर भेद से विश्व, तेजस् और प्राज्ञ भेद वाला है। साक्षी सबका द्रष्टा और सर्वानुगत "तुरीय" कहलाने वाला एकविध ही है। साक्षी की उपाधि एकरूप होने से जीव की उपाधि भेद से उसमें कोई भेद नहीं होता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आत्मगत अध्यात्म, समष्टिगत अधिदेव और भौतिक जगत् अधिभूत कहलाता है। परमतत्त्व अविद्या की उपाधि से इन तीनों रूपों को प्राप्त हुआ है। उसका विस्तार करते हुए मधुसूदन कहते हैं— अध्यात्म, विश्व, अधिभूत विराट् और अधिदैव विष्णु है। अध्यात्म जाग्रत्, अधिदैव पालन और अधिभूत सत्त्व गुण है। अध्यात्म तैजस, अधिभूत हिरण्यगर्भ, अधिदैव ब्रह्म हैं। अध्यात्म स्वप्न, अधिदैव रुद्र है तथा अध्यात्म सुषुप्ति, अधिदैव प्रलय और अधिभूत तमोगुण है। उस परमतत्त्व का मायाकृत प्रपञ्चविस्तार इतना ही हैं। इन सब भेदों का साक्षी नित्य विद्यमान आत्मा है। जिसका अभाव कदापि सम्भव नहीं है।[89]

सुरेश्वर भी नानात्व के मूल में एक परम सत् स्वीकार करते हैं। वह अद्वय, निर्विकार सत्, चित् आनन्द लक्षणों से युक्त ब्रह्म है।

तदेतदद्वयं ब्रह्म निर्विकार कुबुद्धिभिः।

जात्यन्धगजदृष्ट्येव कोटिशः परिकल्प्यते॥[90]

अर्थात् वह ब्रह्म अद्वय और निर्विकार है। कुबुद्धियों ने उसकी कोटियों प्रकार से वैसे ही अपर्याप्त कल्पनायें की हैं जैस जन्मान्ध लोग हाथी को देखकर अर्थात् छूकर कल्पनायें करते हैं। तर्क जाल में फँसकर वे एक-दूसरे का खण्डन करते हैं:

इमं प्राश्निकमुद्दिश्य तर्कज्वारमृशातुराः।

त्वाच्छिरस्क वचोजालैर्मोहयन्तीतरेतरम्॥[91]

अर्थात इसी (ब्रह्म) को उद्देश्य बना कर तर्क ज्वार से आतुर हुए तार्किक अपने वचन जालों से एक-दूसरे को भ्रान्ति में डालते हैं। वस्तुतः वह परमतत्त्व हमारे अनुभव से ही सिद्ध है। उस विषय में तर्क करने की आवश्यकता ही नहीं है।

नामादिभ्यः परोभूमा निष्कलोऽकारको क्रियः

स एवात्मवतामात्मा स्वतस्सिद्धः स एव नः॥[92]

अर्थात् नामरूप के परे भूमा, निष्कल, अकारक और अक्रिय लक्षणों से युक्त आत्मरूप से अनुभव में आने वाला जो हमारा आत्मा है वह स्वयंसिद्ध है।

ब्रह्मात्मैक्य ही वेदान्त का विषय है, दूसरा कोई विषय नहीं है।[93] अतः सुरेश्वर परमसत् के लिए ब्रह्म और आत्मा दोनों शब्दों का प्रयोग करते हैं। वह असंग है, इसलिए उसमें शोकमोहादि नहीं है। इसे "संविद्" (अपने अस्तित्व की चेतना) भी कहते हैं। सब कल्पनाओं का आश्रय यही संविद् है।[94]

संविदेका स्वतः सिद्धा प्रत्यगपैकलक्षणा।
भावाभावादिरूपाय व्यवहाराय कल्पते॥[95]

अर्थात् संविद् एक और स्वतः सिद्ध है। वह प्रत्यक्रूप (आत्मा) है। वही भाव और अभावरूप व्यवहारों की कल्पना का आधार है।

यही ब्रह्म स्वाश्रय और स्वविषयक अविद्या से मुक्त होकर जगत् का कारण है:-
यत्सद्रूपं पर ब्रह्म संविन्मात्रं सतत्त्वकम्।
अविज्ञातात्मयाथात्म्यं जगतः कारणं हि तत्।[96]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, AAIS(USA)

अर्थात् जो ब्रह्म सत् और परम हैं तथा स्वप्रकाश ज्ञानमात्र स्वरूप है। वही अविज्ञात आत्मयाथात्म्य (स्वाश्रय और स्वविषयक अविद्या से मुक्त होकर) जगत् का कारण है। इस कथन से स्पष्ट है कि आश्रय ब्रह्म है, न कि ईश्वर या जीव। "अपने ही अज्ञान से सत् ब्रह्म जगत् का उत्पादक (प्रभविष्णु) और नाशक (ग्रसिष्णु) कहलाता है। अज्ञान के विना उसमें सर्वशक्तिमत्त्व बन ही नहीं सकता।"[97] तात्पर्य यह है कि ब्रह्म में असंगत्व स्वाभाविक है और कारणत्व आदि अज्ञानोपाधिक है। अज्ञान और तज्जन्य शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण आदि में प्रविष्ट हुआ एवं ब्रह्म ही अनेक देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरों का अभिमानी होकर अनेक कहलाता है।

कोई कहते हैं विराट् जीव है, कोई कहते हैं वह परमात्मा है। सुरेश्वर के अनुसार विवक्षाभेद से दोनों ही मत युक्त हैं। सोपाधिक विवक्षा में विराट् जीव ही है और निरुपाधिक विवक्षा में वह परमात्मा है, जीव नहीं। अन्य सब जीवों के विषय में भी यही मत ठीक है।[98]

अद्वितीय आत्मवस्तु के स्वभाव की अपेक्षा से यह अज्ञान और उसका कार्य न स्वतः सिद्ध है, न परतः सिद्ध, किन्तु अज्ञान और उसके कार्य का कथन अज्ञान की ही दृष्टि से है। तमः प्रधान होकर परमात्मा जड़ जगत् का कारण है और चित्प्रधान होकर वह चेतनों का कारण है। उन प्राणियों के किये हुए उन-उन भावना, ज्ञान और कर्मों से देव तिर्यक् मनुष्य आदि विलक्षणता भी बन सकती है।[99]

ईश्वर अज्ञान प्रधान होकर नियम्य जगत् का नियामक (अन्तर्यामी) है। इन्हीं कार्यों में चित्प्रधान होता हुआ ईश्वर साक्षिता को प्राप्त होता है। इसलिए उपाधि से अन्तर्यामी और साक्षी का भेद होते हुए भी अद्वैत की हानि नहीं है।[100] अन्तर्यामी के प्रभाव से अव्यक्त जगत् देश, काल, आदि की व्यवस्था से व्यक्त होता है। वह जब कर्म का उद्बोधन करता है तो सृष्टि होती है और जब कर्म का उद्बोधन नहीं करता तो प्रलय होता है।[101] ईश्वर ही समबुद्धि से उपहित होकर हिरण्यगर्भ, रजोगुण से उपहित हो कर हरि और तमोगुण से उपहित होकर शिव कहा जाता है। वैसे ही देव, मर्त्य आदि शरीर रूप उपाधियों से वही देव मर्त्यादि कहा जाता है।[102]

अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते।[103]

अर्थात् इस द्वैतरूप इन्द्रजाल का उपादान कारण जो अज्ञान है उसी का आश्रयण करके ब्रह्म कारण कहा जाता है।

मण्डन मिश्र के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं— "ब्रह्मसिद्धि" और "स्फोटसिद्धि"। इनमें उन्होंने परम तत्त्व का जो निरूपण किया है वह कई बातों में शंकर और सुरेश्वर से भिन्न है। यद्यपि शंकर के शिष्यों में उनकी भी गिनती है। किन्तु इसका प्रभाव केवल इतना है कि वे भी अद्वैत-वेदान्ती हैं अन्यथा उनका चिन्तन बहुत कुछ स्वतंत्र है। उन्होंने उपनिषदों का तात्पर्य निर्णय करने में अपनी स्वतंत्र बुद्धि का प्रयोग किया है। इसके परिणामस्वरूप वे कई बातों में शंकर से विपरीत जा पड़े हैं।

ब्रह्मसिद्धि के मंगलाचरण श्लोक में परमसत् स्वरूप ब्रह्म की बन्दना मण्डन इस प्रकार करते हैं:

आनन्दमेकममृतमजं विज्ञानमक्षरम्।
असर्व सर्वमभवं नमस्यामः प्रजापतिम्॥[104]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् जो आनन्दस्वरूप, एक, अमृत, अज, विज्ञान, अक्षर और असर्व होकर भी सर्व है। उस प्रजापति को नमस्कार करता हूँ।

इनमें से अधिकांश लक्षण अन्य अद्वैत-वेदान्तियों को भी मान्य हैं किन्तु उनके प्रतिपादन में मण्डन ने कुछ विशेष तर्कों का प्रयोग किया है। यहाँ हम उनके "एक" शब्द पर विचार करेंगे। मण्डन ने तर्क काण्ड में इस पर विस्तृत विवेचन किया है। पूर्वपक्षी की ओर से आपत्ति है कि प्रत्यक्षप्रमाण से भावों का नानात्व उपलब्ध होता है, अतः "अद्वय" में कोई प्रमाण नहीं है। इस के उत्तर में मण्डन ने श्रुति का उद्धरण तो दिया ही है साथ ही तर्क का प्रयोग भी किया है। सत् एक अद्वितीय है, उसे भेद सह्य नहीं है। वह द्रष्टादृश्य भेद से परे और दोनों का प्रकाशक तथा आधार है। निरपेक्ष आत्मा ऐसा द्रष्टा है जिसमें न स्वतः परिवर्तन या विकार होता है और न किसी विकारी दृश्य से उसका सम्बन्ध हो सकता है। "नानात्वे तु विविक्त स्वभावयोरसंसृष्टपरस्पर स्वरूपयोरसंबद्धयोः कीदृशी दृष्टृश्यभावः"।[105]

मण्डन ने एकत्व और नानात्व के मध्य चार प्रकार के सम्बन्ध स्वीकार किए हैं। प्रथमतः दोनों पृथक्रूप से सत् हो सकते हैं, जैसा मीमांसक मानते हैं, दूसरे भर्तृहरिप्रपंच और जैनमत के अनुसार सत् एक और नाना दोनों ही हो सकता है। वह एक दृष्टि से एक और दूसरी दृष्टि से अनेक हो सकता है। तीसरे, केवल नानात्व ही सत् है और एकत्व आभास मात्र है जैसा विज्ञानवादी मानते हैं,और चौथे, एकत्व ही सत् है और नानात्व आभासमात्र है जैसा अभेदवादी वेदान्ती मानते हैं। इनमें से तीन प्रथम विकल्पों का खण्डन कर मण्डन ने चौथा मत तर्क के द्वारा स्थापित किया है।

दर्पणादौ मुखस्येव भेदोऽभेदावलम्बनः।

भेदावलम्बनोऽभेदो न तथा तदभावतः॥[106]

अर्थात् दर्पणों में प्रतिबिम्बित अनेक मुखों का भेद बिम्ब के अभेद पर अवलम्बित है। इसके विपरीत अभेद भेद पर अवलम्बित नहीं है, क्योंकि उन (भेदों का) का अभाव है। अभाव पर कुछ भी अवलम्बित कैसे हो सकता है।

सत् का दूसरा लक्षण "अक्षर" भी ध्यान देने योग्य है। अक्षर का अर्थ अविनाशी तो है ही क्योंकि वह सत् है, किन्तु उसका दूसरा अर्थ "ओम्" अक्षर भी उतना ही सटीक है। मण्डन वाग्ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं और प्रमाण रूप में उपनिषद् वाक्यों की एक लम्बी सूची उद्धृत करते हैं, जैसे, "ओमित्यात्मानं ध्यायार्थ", "ओमिति ब्रह्म, ओमितीदं सर्वम्", "ओंकार एवेदं सर्वम्", वागेव विश्वा भुवनानि जसे वागेवेदं बुभुजे वागुवाच" आदि।[107] स्फोटवाद इस मत का समर्थन करता है, अतः मण्डन स्फोटवाद का आश्रय ही नहीं लेते वरन् उसके प्रतिपादन के लिए "स्फोटसिद्धि" नाम का स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखा है। शंकर स्फोटवाद का खण्डन करते हैं किन्तु मण्डन शंकर का विरोध कर भर्तृहरि का समर्थन करते हैं जो स्फोटवादी है। अतः मण्डन को शब्दाद्वैतावादी कहते हैं।

अद्वैत-वेदान्त में प्रायः दो सम्प्रदाय स्वीकार किये गए हैं— भावाद्वैतवादी और अभावाद्वैतवादी। भावाद्वैतवाद का तात्पर्य है— परमसत् ब्रह्म एक, निरपेक्ष और भावरूप है।[108] उपनिषदों के "अद्वितीयम्", "नेतिनेति" वाक्य ब्रह्म के अतिरिक्त किसी दूसरी भावरूप सत्ता का निषेध करते हैं और ब्रह्म में प्रपञ्चाभाव प्रतिपादित करते हैं। श्रुतियों के निषेधात्मक वाक्य ब्रह्म से भिन्न किसी अभावात्मक सत्ता का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निषेध नहीं करते। अन्य अद्वैत-वेदान्ती, जो अपने मत में अधिक दृढ़ हैं। ब्रह्म से भिन्न भाव या अभाव रूप किसी सत्ता को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। उन्हें अभावाद्वैतवादी कह सकते हैं।

भावाद्वैतवाद "मण्डनमत" के नाम से प्रसिद्ध है। मण्डन स्वयं "भावाद्वैतवाद" शब्द का कहीं प्रयोग नहीं करते किन्तु उनके तर्कीय निर्णयों से इसी का प्रतिपादन होता दिखाई देता हैं। "द्विविधा धर्माः भावरूपा अभावरूपाश्चेति तत्राभावरूपा नाद्वैतं विध्नन्ति, यथा एकममृतमजम्"[109] अर्थात् धर्म दो प्रकार के हैं— भावरूप और अभावरूप। उनमें से अभाव रूप धर्म अद्वैत में विघ्न नहीं डालते, जैसे, एकममृतमजम्" (अमृत अज एक है दूसरा नहीं है) श्रुति वाक्य में स्वीकार किया गया है।

अभावरूपी धर्म है "प्रपञ्चभाव" और "अविद्याध्वंश"। ये दोनों अभाव ब्रह्मज्ञान की स्थिति में रह सकते हैं वे ज्ञान में बाधक नहीं हैं। मण्डन अविद्या की निवृत्ति और विद्या का ग्रहण समतुल्य मानते है।— "अविद्या संसारः, विद्यैव चाविद्यानिवृत्तिः यद्यग्रहणमविद्या, न हि शुक्तिकाज्ञानोत्पादादन्या रजतज्ञान निवृत्तिः[110] अर्थात् अविद्या ही संसार है, विद्या ही अविद्या की निवृत्ति है अथवा अविद्या का अग्रहण ही विद्या है। शुक्तिका के ज्ञानोत्पादन से भिन्न रजतज्ञान निवृत्ति कुछ नहीं है। इसका तात्पर्य है कि अविद्याध्वंश विद्या के समतुल्य भावरूप हैं। "भावाद्वैत का प्रतिपादन मण्डन का वचन इस प्रकार है— "प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते"।[111]

सुरेश्वर मत के विपरीत मण्डन अविद्या का आश्रय ब्रह्म को नहीं मानते हैं। यदि अविद्या का आश्रय और विषय ब्रह्म ही हो तो ब्रह्म-ज्ञान होने पर भी ब्रह्म की अविद्या बनी रहेगी और मुक्ति संभव न होगी। अतः मण्डन के मत में अविद्या जीव में है और वह अपनी अविद्या से निवृत्त होकर विद्यास्वरूप ब्रह्मभाव प्राप्त कर सकता है।[112] जीव के लिए भी अविद्या स्वाभाविक नहीं है। वह तत्वतः ब्रह्म ही है। इसलिए वह विद्या के द्वारा अविद्या से मुक्त हो सकता है।[112]

सन्दर्भ-सूची

1. ऋग्वेद, 10.139.6.
2. वही, पुरुषसूक्त, 10.90.11.
3. केन उपनिषद् 1.
4. बृहदारण्यक उपनिषद्, 3.9.9.
5. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.1.3.
6. वही, 6.2.1.
7. वही, 6.1.5.
8. योगवासिष्ठ, 5.5.9.
9. विष्णुपुराण, 2.13.100.
10. गौडपाद कारिका 2.6.
11. श्रीमद्भगवद्गीता, शां. भा. 2.16 पृ. 35.
12. वही, पृ. 36.
13. वही, पृ. 35.
14. छान्दोग्य उपनिषद् शां. भा. 6.3.2. पृ. 610.
15. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., 2.1.11.
16. वही, 2.1.14.
17. तैत्तिरीय उपनिषद्, शां. भा., 2.1.
18. वही, 2.7, पृ. 177.
19. केन उपनिषद, शां. भा. 1.5.
20. श्वेताश्वतर उपनिषद् शां.भा. 1.1, पृ. 69.
21. तैत्तिरीय उपनिषद्, शां. भा. 2.1 पृ. 103.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

22. वही.
23. वही, पृ. 101.
24. ब्रह्मसूत्र, शां. भा. 1.4.1 पृ.281.
25. तत्त्वोपदेश 18.
26. अपरोक्षानुभूति, 24.
27. तैत्तिरीयं उपनिषद्, शां.भा. 3.1 पृ. 215-216.
28. ब्रह्मसूत्र, शां. भा. 1.3.41 पृ. 277.
29. वेदान्त-परिभाषा, प्रकरण 7 पृ.203.
30. तैत्तिरीय उपनिषद्, शां. भां. 2.1 पृ. 104.
31. ब्रह्मसूत्र, 1.1.5.
32. तैत्तिरीय उपनिषद् शां. भा. 2.1 पृ. 107.
33. वही, पृ. 112.
34. श्रीमद्भगवद्गीता, शां. भा. 2.30
बृहदारण्यक उपनिषद, शां. भा. 4.4.25.
श्वेताश्वतर उपनिषद्, शां.भ. 6.19.
35. छान्दोग्य उपनिषद, शां, भा, 7/23/1.
36. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., 1/1/2, पृ. 36.
37. वही, 1.1.5 पृ. 86.
38. वही, 1.2.1 पृ. 148.
39. वही, 1.2.18 पृ. 175.
40. वही, पृ. 176.
41. वही, 1.1.2., पृ. 151.
42. वही, 1.1.5, 1.1.2.
43. मुंडक उपनिषद्, शां, भा, 1.1.4-5.
44. इन्डियन फिलॉसॉफी, भाग 2, पृ. 557.
45. ब्रह्मसूत्र, शां. भा. 1.1.2.
46. वही, 1.4.5.
47. वही, 1.2.22.
48. वही, 2.1.4.
49. वही, 2.1.6.
50. वही, 2.1.19.
51. वही, 1.2.24.
52. वही, 2.1.32.
53. वही, 2.1.2.
54. वही, 3.2.38.
55. वही, 1.2.13.
56. वही, 1.1.3.
57. बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक, 1.2.10.
58. बृहदारण्यकवार्तिकसार, 1.2.49. पृ. 641.
59. वही, 1.2.77.
60. पंचपादिका, अध्यासनिरूपण.
61. संक्षेपशारीरक, अध्यास, श्लोक 188.
62. वही, 4.62.
63. पञ्चदशी, 103 से 7, पृ. 2 से 4.
64. वही, 1.8, पृ. 5.
65. वही, 1.10, पृ. 7.
66. वही, 2.21, पृ. 42.
67. वही, 2.31, पृ. 46.
68. वही, 3.29, पृ. 91.
69. वही, 3.35, पृ. 94.
70. वही, 3.37, पृ. 95.
71. वही, 3.40, पृ. 97.
72. वही, 3.41, पृ. 97.
73. वही, 6. 18, पृ. 139.
74. वही, 6.22, पृ. 140.
75. पञ्चदशी, 6.157, पृ. 189.
76. वही, 6.182, पृ. 199.
77. वही, 6.183, पृ. 184.
78. वही, 6.194.
79. तैत्तिरीय उपनिषद्, 2.4.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

80. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 4.9.
81. पञ्चदशी, 6.196 व 197.
82. वही, 6.205, पृ. 207.
83. वही, 6.213, पृ. 209.
84. वही, 6.214, पृ. 210.
85. सिद्धान्तबिन्दु 1.1, पृ. 10-11.
86. वही, 1.1, पृ. 11.
87. वही, 3.8, पृ. 53.
88. वही, 3.8, पृ. 53.
89. वही, 3.8, पृ. 76.
90. नैष्कर्म्यसिद्धि, 2.93, पृ. 91.
91. नैष्कर्म्यसिद्धि, 2.59, पृ. 80.
92. वही, 2.57, पृ. 79.
93. बृहदारण्यक वार्तिकसार, 1.9. पृ. 18.
94. वही, 1.128, पृ. 115.
95. वही, 1.459, पृ. 447.
96. वही, 1.2.116, पृ. 689.
97. वही, 1.2.117, पृ. 690.
98. वही, 1.4.89 से 91, पृ. 877.
99. वही, 1.4.292, पृ. 931.
100. वही, 1.4.3.9, पृ. 934.
101. वही, 1.4.317, पृ. 995.
102. वही, 1.4.328, पृ. 936.
103. वही, 1.4.318, पृ. 936.
104. ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मकाण्ड, पृ. 1.
105. वही, पृ. 7-8.
106. वही, तर्ककाण्ड, पृ. 72.
107. ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मकाण्ड, पृ. 17.
108. वही, Introduction by S. Kuppuswami Shastri p. XII, "According to this view there is only one absolute reality of a positive kind, Viz Brahman"..
109. वही, पृ. 4.
110. वही, नियोगकाण्ड, पृ.121.
111. वही, सिद्धिकाण्ड, 3 पृ. 157.
112. वही, ब्रह्मकाण्ड, पृ. 10.
113. वही, पृ. 11.

■

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय 9

जीव-निरूपण

सर्वव्यापी परमात्मा शरीर-मन-बुद्धि के संघात में व्याप्त होकर उनसे स्वभावतः तादात्म्य कर लेता है। इससे बुद्धि में अहंकार की प्रतीति होती है और इस अवस्था में वह जीव कहलाता है। शंकर जीव की परिभाषा इस प्रकार देते हैं—

जीवो बुद्धयाद्युपाधि परिच्छेदाभिमानी[1]

अर्थात् जीव बुद्धि आदि की उपाधियों से परिच्छन्न होने का अभिमानी है।

वही जीव अपने आपको शरीर मानने के कारण "शरीरः",[2] कर्म में प्रवृत्त होने के कारण "कर्त्ता", सुख-दुःख में लिप्त होने के कारण "भोक्ता", पाप कर्म करने के कारण "पापी", बुद्धिगत सीमित ज्ञान से घिरा रहने से "अल्पज्ञ" और राग-द्वेष कृत कल्पित संसार में निमग्न रहने के कारण "संसारी" कहलाता है। यद्यपि आत्मा असंग और निर्लेप है, उस पर शरीरादि के विकार और कर्मों से उत्पन्न पाप-पुण्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, किन्तु अध्यास के कारण उसे अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और वह अपने को बद्ध मानता है।

बद्ध जीव स्वयं में क्या है? यह बताना कठिन है। शंकर उसका परिचय देते हुए कभी उसे परमात्मा का आभास, कभी परमात्मा का प्रतिबिम्ब और कभी उसे परमात्मा का ही अवच्छिन्न रूप कहते हैं। अध्यास भाष्य में उन्होंने जीव को अध्यास-जन्य आभास माना है।[3] जीव की तात्कालिक पहचान उस का कर्तृत्व और भोक्तृत्व अभिमान है। इसका कारण अविद्या है। अविद्या के रहने तक ही कर्तृत्वादि अभिमान है और जीवभाव है। अविद्या अध्यास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। "अध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते"[4]— अध्यास में आत्मा और अनात्मा के विरुद्ध धर्मों का मिथुनीकरण होता है।[5] आत्मा शुद्ध, निर्विकार सत् वस्तु है। उसका अनात्मा से संसर्ग संभव न होने पर भी अध्यास या अज्ञान के कारण होता हुआ सा भासित होता है। इसी परिणाम-स्वरूप आत्मा में जीव भाव की प्रतीति होती है।

तात्पर्य यह है कि जीव न आत्मा है और न उस से अन्य कोई वस्तु। "न स एव साक्षात् नापि वस्त्वन्तरम्।"[6] फिर वह क्या है? आत्मा की अनात्मा की उपाधियों में अपने स्वरूप लक्षणों को भूल कर अनात्मा के लक्षण अपने मानकर जीव कहलाता है। इस स्थिति का वर्णन अवच्छेद, प्रतिबिम्ब या आभास का दृष्टान्त देकर किया जाता है।

जीव शुद्ध आत्मा का ही आभास रूप है। इसका दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए शंकर कहते हैं।

स्थाणौ पुरुषवद् भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता।[7] अर्थात् जैसे स्थाणु (ठूँठ) में पुरुष की प्रतीति भ्रांति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से होती है वैसे हीं ब्रह्म में जीव भाव भ्रान्ति से प्रतीत होता है।

पञ्चकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थितः।

शुद्धात्मा नीलवस्त्रादि योगेन स्फको यथा॥[8]

अर्थात् शुद्धात्मा पञ्चकोशादि के योग से तन्मय होता है और उनके गुणों को उसी प्रकार ग्रहण-सा कर लेता है जिस प्रकार नीलवस्त्र के निकट स्फटिक मणि नील-सी प्रतीत होती है।

इन दृष्टान्तों में पुरुष और नीलिता आभास मात्र हैं तथा स्थाणु और स्फटिक निर्विकार रहते हुए भी परिच्छिन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार कूटस्थ आत्मा निर्विकार रहते हुए भो अनात्मा से परिच्छिन्न होकर जीव का आभास उत्पन्न करता है। इस व्याख्या के अनुसार अहं की मिथ्या प्रतीति ही जीव हैं। जैसे अज्ञान दशा में स्थाणु भासित न होकर पुरुष ही भासित होता हैं और ज्ञान दशा में पुरुष का बाध हो जाता हैं केवल स्थाणु ही उपलब्ध होता है, वैसे ही अज्ञान दशा में अहंकार रूप जीव अनुभव में आता है किन्तु ज्ञान की अवस्था में विलीन हो जाता है और सत्स्वरूप आत्मा का बोध होता है।

भ्रान्त्या प्राप्तो जीवभावो न सत्यो
मोहपाये नास्त्यवस्तुस्वभावात्।[9]
रज्जवां सर्पो भ्रान्तिकालीन एव
भ्रान्तेर्नाशे नैव सर्पोऽपिद्वत्।[10]

अर्थात् भ्रम से जो जीवभाव की प्राप्ति हुई है वह वास्तविक नहीं है, क्योंकि वह अवस्तुरूप होने से, मोह दूर हो जाने पर स्वभाव से नहीं रहता है, जैसे भ्रम की स्थिति पर्यन्त ही रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है, भ्रम के नाश होने पर फिर सर्प प्रतीत नहीं होता है।

पुनः जीवभाव की व्याख्या प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त द्वारा की गई है।

घटोदके बिम्बितमर्कविम्ब-
मालोक्य मूठो रविमेय मन्यते।
तथा चिदाभासमुपाधिसंस्थं
भ्रान्त्याहमित्येव जडोऽभिमन्यते॥[11]

अर्थात् जिस प्रकार मूढ पुरुष घड़े के जल में प्रतिबिम्बत सूर्यबिम्ब को देखकर उसे सूर्य ही समझता है उसी प्रकार उपाधि में स्थित चिदाभास को आज्ञानी पुरुष भ्रम से अपना ही मान बैठते हैं।

यह प्रतिबिम्ब भी आभास मात्र है। प्रतिबिम्ब कोई तात्त्विक सत्ता नहीं है। यह अहंकार रूप, विकारी और सत्यस्वरूप को छिपाने वाला है।

अहङ्कर्तर्यस्मिन्नहमिति मति मुञ्च सहसा
विकारात्मन्यात्मप्रतिफलजुषि स्वस्थितिमुषि।[12]

अर्थात् इस विकारात्मक, आत्मप्रतिबिम्बयुक्त और स्वरूप को छिपाने वाले अहंकार में अहंबुद्धि को शीघ्र ही त्याग दो।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आभास एव चैष जीवः पस्यात्मनो
जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः।[13]

अर्थात् जलगत सूर्यप्रतिबिम्ब आदि के समान इस जीव को परमात्मा का आभास समझना चाहिए।

प्रतिबिम्ब विम्ब के समान ही होता है किन्तु इस की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती है। इनके अतिरिक्त वह अपने अधिष्ठान के विकारों से विकृत होता है। जल में प्रतिबिम्बत सूर्य में सूर्य के कुछ लक्षण भासित होते हैं किन्तु उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं हैं। वे लक्षण बिम्ब रूप सूर्य से प्राप्त होते हैं। जल के हिलने से प्रतिबिम्ब हिलता भी है। इसी प्रकार बुद्धि में भासित चैतन्य एक ओर आत्मा पर आश्रित है और दूसरी ओर बुद्धि की गुणवत्ता पर। निर्मल बुद्धि में यह चैतन्य स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है। किन्तु क्षुब्ध बुद्धि में वह अपने को विक्षुब्ध अनुभव करता है। बुद्धि के लय होने पर बुद्धिगत चिदाभास भी उपलब्ध नहीं रहता है।

शंकर इस जीव को परमात्मा का अवच्छेद भी मानते हैं। अवच्छेद का दृष्टान्त घटाकाश है।

घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परमात्मनि।
विलाप्याखण्डभावेन तूष्णी भव सदा मुने॥[14]

अर्थात् हे मुनि! जैसे घटाकाश का नाश होने पर वह महाकाश में मिल जाता है वैसे ही जीवात्मा को परमात्मा में लीन करके सर्वदा अखण्ड भाव से मौन होकर रहो।

यथाकाशो दृशीकेशो नानोपाधिगतो विभुः।
तदभेदाद्भिन्नवद्भाति तन्नाशे केवलो भवेत्॥[15]

अर्थात् जैसे सर्वव्यापक आकाश विभिन्न नानाविध उपाधियों के कारण अनेक प्रतीत होता है और उन उपाधियों के नष्ट होने पर एक हो जाता है उसी प्रकार विभिन्न उपाधियों के कारण अनेक प्रतीत होने वाली एक ही सर्वव्यापक सत्ता उन उपाधियों के नष्ट हो जाने पर एक हो जाती है।

अवच्छेदः कल्पितः स्यादवच्छेद्यं तु वास्तवम्।
तस्मित् जीवत्वमारोपात् ब्रह्मत्वं तु स्वभावतः॥[16]

अर्थात् अवच्छेद कल्पित है किन्तु अवच्छेद्य सत्य है। इसलिए जीवत्व तो आरोपित है किन्तु ब्रह्म सत्य है।

शंकर ने इन तीनों प्रकार से परमात्मा और जीव का सम्बन्ध तथा जीव का स्वरूप निरूपित किया, किन्तु उनके अनुयायियों ने इनमें से किसी एक को प्रधानता देकर अपना मतवाद स्थापित करने का प्रयास किया। विवरण-प्रस्थानवादी प्रतिबिम्बवाद, भामतीप्रस्थानवादी अवच्छेदवाद ओर वार्तिक-प्रस्थानवादी आभासवाद की स्थापना करते हैं। ये अपने मत के समर्थन में तर्क देते हैं तथा अन्य मतों का खण्डन करते हैं।

प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद के प्रतिपादक आचार्य एक-दूसरे के मतों का खण्डन करने में अधिक रुचि रखते हैं। आभासवादी इन दोनों मतों का खण्डन तो करते हैं किन्तु स्वयं प्रतिबिम्बवाद के अधिक निकट दिखाई देते हैं। वे आभास का अर्थ जलगत् प्रतिबिम्ब ही मानते हैं। सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि जलमात्र में सूर्यबिम्ब जैसे प्रतिबिम्ब रूप से प्रविष्ट होता है, वैसे ही वस्तुतः अप्रविष्ट स्वभाव वाले तत्त्व का जगत् में प्रवेश सूर्यप्रतिबिम्ब के समान ही कल्पित है।[17] किन्तु वे जीवों की अनेकता का कारण बताते हुए घटाकाश

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का भी दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं।

स्वाभासवर्त्मनैवेतत् स्वात्माज्ञानजभूमिषु।
इतं बहुत्वमेकं सत् वियद् यद्धत् घटादिषु॥[18]

अर्थात् ब्रह्म अपने आभासरूप से ही अज्ञानज भूमियों में (अविद्य के कार्यभूत अन्तःकरणों में) एक होकर भी अनेकत्व को प्राप्त होता है जैसे आकाश घटों की उपाधि में विभक्त-सा भासित होता है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि सुरेश्वर प्रतिबिम्ब और अवच्छेद दोनों में ही आभास को प्रधानता देते हैं। परमात्मा का प्रतिबिम्ब जैसे आभास मात्र है वैसे ही उस का अवच्छेद भी आभास ही हैं। परमतत्त्व के ही अविद्याकार्य में आभास को जीव कहते हैं और इसे आभास रूप कहने में इसके मिथ्यात्व का ही संकेत है।

प्रतिबिम्बवादी और अवच्छेवादी अपने-अपने दृष्टान्तों से जीव के रूप में अधिक उपयुक्त निरूपण सम्भव मानते हैं। प्रतिबिम्बवादी विद्यारण्य अपने मत को श्रुति, स्मृति और सूत्र समर्थित मानते हैं और उसके समर्थन में तर्क उन्होंने स्वयं दिये हैं।

न च जीवस्य प्रतिबिम्बत्वे मानाभावः
श्रुतिस्मृतिसूत्रेभ्यस्तत्सिद्धः। "रूपं रूपं
प्रतिरूपो बभूव" इति श्रुतिः। "एकधा बहुधा
चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" इति स्मृतिः।
"अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्" इति सूत्रम्।[19]

अर्थात् जीव को प्रतिबिम्ब रूप मानने में प्रमाण का भी अभाव नहीं है, क्योंकि श्रुति, स्मृति तथा वेदान्तसूत्रों से उसकी सिद्धि होती है। "वह प्रति शरीर में प्रतिबिम्ब रूप में हो गया" यह श्रुति है। "स्वयं एक ही है तो भी जल में चन्द्रादि की भाँति वह नाना प्रकार का दिखाई देता है" ऐसी स्मृति है और "उसके नानाभाव में सूर्यक अर्थात् जलप्रतिबिम्ब की उपमा दी गयी है" ऐसा सूत्र है।

प्रतिबिम्बवाद में एक बड़ा गुण यह है कि उसमें जीव और परमात्मा दोनों की स्थिति का प्रतिपादन हो जाता है। विद्यारण्य लिखते हैं, "जीव को अवच्छेद मानने पर जीवोपाधि के मध्य में ब्रह्म के भी रहने से उसमें द्विगुण चैतन्य कैसे होगा क्योंकि अवच्छेदवाद में आकाश का घटरूप उपाधि में द्विगुण होना देखा नहीं गया है। यदि ब्रह्म की जीवावच्छेद उपाधि में सत्ता न मानें तो ब्रह्म का सर्वव्यापकत्व तथा सकलनियामकत्व उत्पन्न नहीं हो सकेगा।"[20] तात्पर्य यह है कि यदि घटाकाशदृष्टान्त से जीव को अविच्छिन्न माना जाता है तो जैसे घट में अवच्छिन्न आकाश की ही वृत्ति है उसमें अनवच्छिन्न आकाश की वृत्ति नहीं देखी जाती, वैसे ही दृष्टान्तिक में नहीं है, क्योंकि यहाँ तो चेतन की दो वृत्तियाँ हैं— एक तो अवच्छिन्न जीव की वृत्ति है और द्वितीय अन्तर्यामी की है। यह द्विगुणित चैतन्य की वृत्ति प्रतिबिम्ब पक्ष में ही बन सकती है, उपाधि में द्विगुणित चैतन्य की वृत्ति के न मानने से ब्रह्म की सर्वान्तर्यामिता से विरोध होगा, अतः अवच्छेदवाद में द्राष्टान्तिक वैषम्य आता है। प्रतिबिम्बवाद में यह दोष नहीं है।

प्रतिबिम्बपक्षे तु द्विगुणी कृत्य वृत्तिर्व
दोषाय, जगमध्ये स्वाभाविक जानुमात्राकाशस्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रतिबिम्बित विशालाकाशस्य च वृत्तेः।
तस्मादहङ्कारोपाधिकृतो ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीवः।[21]

अर्थात् प्रतिबिम्बपक्ष में चैतन्य की द्विगुणित वृत्ति के होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि जल के अन्दर स्वभावतः रहने वाले घुटने तक के आकाश की और दूसरे जल में प्रतिबिम्बित महाकाश की वृत्ति देखी जाती है। इसलिए अहंकाररूप उपाधि द्वारा कृत ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीव है।

प्रतिबिम्बवादी आचार्यों में भी प्रतिबिम्ब के माध्यम को लेकर मतभेद उत्पन्न हुए हैं। विद्यारण्य के अनुसार माया में चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर है और नाना अविद्याओं में चित्प्रतिबिम्ब जीव है।

मायाबिम्बो वशीकृत्य ता स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्य स्तद्वैचित्र्यादनेकधा॥[22]

अर्थात् माया में पड़ा प्रतिबिम्ब उसे अपने वश में रखता है और सर्वज्ञ ईश्वर बनता है तथा दूसरा जीव अविद्या के परवश होकर उसकी विचित्रता के कारण अनेक हो गया है।

सर्वज्ञात्म मुनि ने महानारायणयोपनिषद् का यह मंत्र माना है— "कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः"[23] और अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर का स्वरूप कहा है तथा अन्तःकरण में उसी चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव का स्वरूप स्वीकार किया है।[24]

वाचस्पति मिश्र प्रतिबिम्बवाद में दोष मानते हैं और अवच्छेद के कारण जीवभाव की उत्पत्ति मानते हैं। "यह सत्य है कि प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाश होने के कारण अविषय और अनंश है तो भी अनिर्वचनीय अनादि अविद्या परिकल्पित बुद्धि, मन, स्थूल शरीर और इन्द्रियों द्वारा किया गया अवच्छेद ही है। अनवच्छिन्न होकर भी अवच्छिन्न के समान, एक व अभिन्न होते हुए भी भेदयुक्त के समान, निष्क्रिय-असंग होते हुए भी कर्त्ताभोक्ता की तरह, किसी का विषय न होते हुए भी मैं प्रतीति के विषय की तरह जाना जा रहा हूँ। यह उसी प्रकार है जैसे वस्तुतः सीमा से असंस्पृष्ट भी आकाश घड़े, सकोरे या अन्य पात्रों या कक्ष भित्तियों से घिरा होने पर उन-उन सीमाओं के अनुरूप अनेक भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, उन-उन सीमाओं के अनुरूप अनेक विध गुण-धर्मों वाला भी अनुभव में आता है।"[25]

इस प्रकार जीव के स्वरूप निर्धारण में वाचस्पति की दृष्टि निरन्तर उस के निर्विकार परमात्म स्वरूप पर ही टिकी है। वे अन्यत्र कहते हैं—

न जीव आत्मनोऽन्यः नापि तद्विकारः, किंत्वात्मै-
वाविद्योपाधान कल्पितावच्छेदः। आकाश इव
घटमणिकादिकल्पितावच्छेदौ घटाकाशो मणिकाकाशो
न तु परमाकाशादन्यस्तद् विकारो वा।[26]

अर्थात् जीव न तो परमात्म तत्त्व से अन्य है, न उसका विकार या अवयव है किन्तु आत्मा ही अविद्यारूप उपाधि से कल्पित अवच्छेदवाला होकर जीव है। जैसे, आकाश घट-मणिका आदि से कल्पित अवच्छेदवाला होकर घटकाश, मणिककाश कहलाता हुआ वास्तविक आकाश से भिन्न या उसका विकार नहीं होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

घट रहने पर भी घटाकाश परमाकाश से पृथक् नहीं होता है। यह ज्ञान की दृष्टि से जाना जाता है। अज्ञान में ऐसा प्रतीत होता है मानो घटाकाश पृथक् है। इसी प्रकार अज्ञान में जीवभाव है और परमात्मा पृथक्ता भासित होती है किन्तु ज्ञान में परमात्मरूप अनुभव होता है। उपाधि के बनने बिगड़ने से कुछ अन्तर नहीं पड़ता।

यह मतभेद शंकर के परवर्ती आचार्यों में ही है, शंकर ने स्वयं इनमें से किसी मत का आग्रह नहीं रखा है। उनके मत से तो सभी दृष्टान्त अधूरे हैं। न वे द्राष्टान्तिक के साथ पूर्ण रूप से घटित होते हैं और न उसकी आवश्यकता है। यदि दोनों में पूर्ण सादृश्य हो तब तो दृष्टान्त-द्राष्टान्तिक भाव का उच्छेद हो जायगा। वे प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त का दोष स्वयं जानते हैं, फिर भी उसे उपयुक्त मानते हैं।

युक्त एव त्वयं दृष्टान्तः

विविक्षितांश संभवात्।[27]

अर्थात् यह (जलगत सूर्यप्रतिबिम्ब का) दृष्टान्त तो युक्त ही है, क्योंकि इसमें विविक्षितांश संभव है।

इस दृष्टान्त से जो समानता ग्रहण करने योग्य है उसका उल्लेख करते हुए शंकर कहते हैं कि बुद्धि और ह्रास का भागी होना सारूप्य है। जलगत सूर्य प्रतिबिम्ब जल की वृद्धि होने पर बढ़ता है। जल के ह्रास होने पर क्षीण होता है, जल के हिलने पर हिलता है, जल के भिन्न होने पर भिन्न होता है। इस प्रकार जल के धर्मों का अनुयायी होता है, परन्तु परमार्थतः सूर्य वैसा नहीं है। ब्रह्म अविकृत, एकरूप होता हुआ भी देह आदि उपाधि के अन्तर्भाव से वृद्धि और ह्रास आदि उपाधि के धर्मों को प्राप्त-सा होता है।[28]

इस प्रकार शंकर ने यहाँ प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त का तो समर्थन किया है, किन्तु वे प्रतिबिम्बवाद का समर्थन नहीं करते। उन्हें इस बात का ध्यान है कि आत्मा मूर्त नहीं है और उपाधियाँ इससे पृथग्भूत और दूरदेशस्थ नहीं हैं क्योंकि आत्मा सर्वगत और सबसे अभिन्न है। वाचस्पति इसी दोष के कारण प्रतिबिम्बवाद का खण्डन करते हैं और विद्यारण्य इन दोषों का निवारण करने का प्रयास करते हैं। किन्तु जब शंकर इसे सीमित अर्थ में स्वीकार कर लेते हैं तो वाचस्पति उस पर कोई टीका किये विना आगे बढ़ जाते हैं।[29] उन्हीं का अनुसरण करते हुए कल्पतरु[30] और परिमलकार[31] भी चुप रहते हैं और शंकर का खण्डन नहीं करते।

शंकर ने अपने भाष्यों में अनेक बार घटाकाश का दृष्टान्त देते हुए जीव के अवच्छिन्न रूप का प्रतिपादन किया है। वह भी सप्रयोजन है। वे कहते हैं कि ईश्वर से अन्य कोई संसारी जीव नहीं है। देहादी संघात रूप उपाधि के साथ उसका सम्बन्ध वैसे ही दृष्ट है जैसे आकाश का घट आदि से।[32] अथवा, जैसे अपरिच्छिन्न आकाश घट आदि उपाधियों की अधीनता से अपरिच्छिन्न-सा भासता है, वैसे ही देहादि उपाधियों से परिच्छिन्न हुआ सा परमात्मा अज्ञानियों को जीव रूप में भासता है।[33] किन्तु जीव का अन्तर्यामी होना इष्ट नहीं है, क्योंकि वह घटाकाश के समान परिच्छिन्न है। उसे पृथ्वी आदि के भीतर रह कर नियमन करने की सामर्थ्य नहीं है। वह सामर्थ्य अपरिच्छिन्न ईश्वर में ही है।[34]

कहीं-कहीं शंकर ने प्रतिबिम्ब और अवच्छेद के दृष्टान्तों का प्रयोग एक साथ किया है, जैसे जल में प्रतीत होने वाला सूर्य का अंश प्रतिबिम्ब, जलरूप निमित्त का नाश होने पर सूर्य को ही प्राप्त होकर फिर नहीं लौटता वैसे ही उस परमात्मा का अंशभूत जीव उस परमात्मा से संयुक्त होकर फिर नहीं लौटता है। अथवा जैसे घट आदि उपाधि से परिच्छिन्न घटादि का आकाश महाकाश का ही अंश है और वह घट

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आदि निमित्त के नाश होने पर आकाश को ही प्राप्त हो जाता है, फिर लौटता नहीं, वैसे ही इसके विषय में समझना चाहिए।[35] जीव की उपाधियाँ त्याग कर परमात्मा के साथ एकीकृत होने में दोनों दृष्टान्त एक-समान उपयोगी हैं। तात्पर्य यह है कि शंकर अपने को इनमें से किसी एक "वाद" के साथ प्रतिबद्ध नहीं करते, वरन् अपने प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने के लिए जो भी दृष्टान्त उपयोगी पाते हैं वही प्रस्तुत कर देते हैं।

इस प्रकार, "अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसंबन्धी"[36] अर्थात् शरीर और इन्द्रिय रूपी पञ्जर का स्वामी और कर्मफल का सम्बन्धी जीव नाम आत्मा है। इसके सम्बन्ध में प्रश्न हो सकता है कि क्या यह आकाश आदि के समान ब्रह्म से उत्पन्न होता है अथवा ब्रह्म के समान उत्पन्न नहीं होता है? इस विषय में श्रुतियों में परस्पर विरोधी कथन मिलते हैं। एक श्रुति के अनुसार परमात्मा से जीव की उत्पत्ति होती है।

अग्नेबिस्फुलिङ्गवदेतस्मात्परमात्मनः
सर्वे जीवात्मनो व्युच्चरन्ति।[37]

अर्थात् जैसे अग्नि से चिन्गारियाँ निकलती हैं वैसे इस परमात्मा से सब जीव निकलते हैं।

इसके विपरीत जीव की अनुत्पत्ति सूचक श्रुतियों को भी उद्धृत किया जा सकता है।

स एव इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्य अज आत्मा।[38]

अर्थात् यह इस शरीर में नख के अग्रभाग पर्यन्त प्रविष्ट है वह आत्मा अज है।

शंकर जीवोत्पत्ति सूचक श्रुति का शाब्दिक अर्थ स्वीकार नहीं करते, क्योंकि परमात्मा के एक अवयव के फूटकर अलग हो जाने से परमात्मा में क्षति की प्राप्ति होगी तथा उसके जाने पर परमात्मा के अन्य देशस्थ अवयव समुदाय में छेद की भी प्राप्ति होगी और इस प्रकार परमात्मा की निश्छिद्रता का प्रतिपादन करने वाले वाक्य से विरोध होगा। परमात्मा से शून्य देश का अभाव होने के कारण आत्मा के अवयवभूत विज्ञानात्मा (जीव) को संसारित्व की प्राप्ति होने पर अवयवान्तर के ह्रास और वृद्धि के कारण परमात्मा को हृदय शूल के समान दुःख की प्राप्ति होगी।[39] अग्नि और स्फुलिङ्ग का दृष्टान्त तो जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रतीति के लिए है। अग्नि की चिन्गारी अग्नि ही होती है, इसलिए लोक में वह अग्नि के साथ एकत्व-प्रत्यय के योग्य देखा गया है।[40] अग्नि की चिन्गारियों के समान परमात्मा से विभक्त जीव उसी की जाति वाला है। यहाँ देहेन्द्रियादि गहनवन में प्रविष्ट होने पर असंसारी होकर भी अपनी परमात्मस्वरूपता को न जानने के कारण सांसारिक धर्मों का अनुवर्तन करता है। आचार्य द्वारा उससे ऐसा कहने पर कि "तू अग्नि के विस्फुलिङ्ग के समान परब्रह्म से च्युत हुआ है" उसका ब्रह्म प्रत्यय दृढ़ हो जाता है।[41]

इसके अतिरिक्त, निरवयव और असंसारी परमात्मा के संसारीरूप एक देश की कल्पना करना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि स्वयं परमात्मा में देश नहीं है।[42] जैसे आकाश का विभाग घट आदि सम्बन्ध निमित्तक भासता है, वैसे बुद्धि आदि उपाधि के निमित्त से इसमें प्रविभाग (जीव) भासता है। जो भी कहीं पर जीव के उत्पत्ति और प्रलय का श्रवण है वह भी इस उपाधि के सम्बन्ध से जाना जाता है।

उपाध्युत्पत्त्या स्योत्पत्तिस्तत्प्रलयेन च प्रलयः।[43]

अर्थात् उपाधि की उत्पत्ति से इसकी उत्पत्ति और इसके प्रलय से प्रलय है। परमात्मा और जीव के लक्षण भेद भी उपाधि निमित्तक हैं। संक्षेप में, जीव तत्त्वतः परमात्मा ही है, किन्तु उपाधियों की उत्पत्ति के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साथ जीवभाव की उत्पत्ति होती है और उपाधियों के लय हो जाने से जीवभाव भी नष्ट हो जाता है। उपाधि के कारण जीव में परिच्छिन्नत्व और उसी कारण उत्क्रान्ति, गति और अगति का श्रवण होता है।[44]

यद्यपि परमात्मा विभु है किन्तु वही उपाधिग्रस्त होकर जीवभाव में उसी आकार का है जिस आकार की उसकी उपाधि है। शंकर ने जैन-दर्शन में मान्य जीव के माध्यम परिणाम का खण्डन किया है और अनेक तर्क दिये हैं।[45] जीव विभु इसलिए नहीं हो सकता है कि सर्वव्यापी सत्ता में उत्क्रमण, गति अगति सम्भव नहीं है, जैसे आकाश में। परिशेष से जीव अणुरूप है। इसके समर्थन में श्रुतियाँ भी हैं:

एवो पुरात्मा चेतसा वेदितव्यो

यस्मिन्प्राणः पञ्चविधा संविवेश।[46]

अर्थात् यह अणु आत्मा केवल विशुद्ध विज्ञान से जानने योग्य है जिस शरीर में प्राण पांच प्रकार का होकर प्रविष्ट है। ऐसा ज्ञात होता है कि प्राण के सम्बन्ध में "आत्मा" शब्द का अर्थ जीव ही है और वह अणु रूप है।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः।[47]

अर्थात् सौ भागों में विभक्त किया हुआ जो केश के अग्रभाग का सौवाँ भाग है। उसके समान जीव को जानना चाहिए। यहाँ दृष्टान्त के द्वारा जीव को अणु रूप कहा है।

आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः।[48]

अर्थात् लकड़ी के डण्डे में लगे लोहे की (आरा की) नोक के समान आकार वाली आत्मा देखी गयी है। इस दूसरे दृष्टान्त की भी जीव का अणुरूप ही कहा गया है।

इसी आधार पर शंकर भी जीव को अणु रूप मानते हैं। "अकर्त्ता, अभोक्ता, असंसारी, नित्य मुक्त होते हुए आत्मा का कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि रूप संसारित्व बुद्धि आदि उपाधि के धर्मों के अध्यास के कारण ही है। इसलिए तद्गुणसारत्व होने से बुद्धि के परिणाम से इसका परिणाम व्यपदेश है और बुद्धि की उत्क्रान्ति आदि से जीव की उत्क्रान्ति आदि का व्यपदेश है। इस के परिणाम और उत्क्रमण आदि स्वभाविक नहीं हैं।"[49]

जीव में अणुत्व गौण है और अनन्तता पारमार्थिक है। दोनों मुख्य नहीं हो सकते। जीव का अणुत्व मुख्य और पारमार्थिक मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि उस दशा में वह अपनी उपाधि त्याग कर विभु नहीं होगा और न परमात्मा से एकत्व लाभ होगा।

आत्मा बुद्धि के संयोग से ही जीव है। शंकर के अनुसार, "जब तक यह आत्मा संसारी है, और इसका तत्त्वज्ञान से संसारित्व निवृत्त नहीं होता, तब तक इसका बुद्धि के साथ सम्बन्ध समाप्त नहीं हो सकता। जब तक बुद्धिरूप उपाधि का सम्बन्ध है तब तक जीव में जीवत्व और संसारित्व है। वास्तव में बुद्धि उपाधि के सम्बन्ध से परिकल्पित स्वरूप से व्यतिरिक्त जीव नाम है ही नहीं।.....तात्पर्य यह है कि यह आत्मा स्वतः न ध्यान करता है और न चलता ही है, परन्तु बुद्धि के ध्यानस्थ होने पर वह ध्यान करता सा प्रतीत होता है और बुद्धि के चलने पर वह चलता-सा ज्ञात होता है। आत्मा का यह बुद्धिरूप उपाधि के साथ सम्बन्ध मिथ्याज्ञान पुरस्सर है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति यथार्थ ज्ञान के विना नहीं होती। इसलिए जब

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तक ब्रह्मात्म ज्ञान नहीं होता तब तक यह बुद्धि रूप उपाधि सम्बन्ध निवृत्त नहीं होती है।''[50]

अनेक स्थलों में शंकर ''बुद्धि'' को ही जीव की उपाधि मानते हैं, जैसा कि ऊपर के उद्धरणों से देखा जा सकता है, किन्तु ''बुद्धि'' के साथ वे ''आदि'' शब्द भी जोड़ते हैं। बुद्धि आदि से उनका क्या तात्पर्य है इसका उल्लेख करते हुए वे कहते हैं, ''आत्मा का उपाधिभूत वह अन्तःकरण भिन्न-भिन्न स्थलों पर मन, बुद्धि, विज्ञान और चित्त— इस तरह अनेक प्रकार से कहा जाता है। कहीं वृत्ति विभाग के संशय आदि वृत्ति वाले को मन कहते हैं और निश्चय आदि वृत्ति वाले को बुद्धि कहते हैं।''[51]

बुद्धि आदि की उपाधि वाले जीव में कर्त्ताभाव (कर्म करने की स्वतंत्रता) होता है। जीव के कर्त्ता होने पर ही शास्त्र अर्थवान् होता है। कर्त्ता न होने पर वह उपपन्न नहीं होगा।[52] स्वप्न की अवस्था में जीव विहार करता है, इससे भी उसका कर्तृव्य सिद्ध होता है।[53] इसके अतिरिक्त जीव का कर्तृत्व इससे भी सिद्ध होता है कि वह इन्द्रियों का प्रयोग करता है। कर्त्ता समर्थ होता हुआ भी करण का ग्रहण क्रियाओं में प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है।[54]

जीव का कर्तृव्य स्वाभाविक है अथवा उपाधि निमित्तक? इस पर विचार करते हुए शंकर कहते हैं— ''आत्मा में स्वाभाविक कर्तृव्य सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा का मोक्षभाव प्रसंग होगा। आत्मा का कर्तृव्य स्वाभाविक होने पर जैसे अग्नि की उष्णता से उसका मोक्ष नहीं होता है, वैसे ही आत्मा का कर्तृव्य से भी मोक्ष न होगा। अतः उपाधि धर्म के अध्यास से ही आत्मा में कर्तृव्य है, स्वाभाविक नहीं और विद्या अवस्था में कर्तृत्व, भोक्तृत्व निवृत्त हो जाता है। जैसे बढ़ई हाथ में बसूला ग्रहण कर लकड़ी काटता है और उसका त्याग कर कर्म से निवृत्त हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी मन आदि कारणों को ग्रहण अथवा त्याग करता है।''[55]

शंकर के मतानुसार, ''अविद्या अवस्था में जो यह उपाधि निमित्तक जीव में कर्तृत्व कहा गया है वह ईश्वर की अपेक्षा से है।..... कर्मों का अध्यक्ष, सम्पूर्ण भूतों का अधिष्ठान साक्षी चेतयिता परमात्मा ही अपनी अनुज्ञा से कर्म करवाता है और उसके अनुग्रह हेतुक विज्ञान से मोक्ष सिद्धि हो सकती है।.....यद्यपि लोक में कृषि आदि कर्मों में ईश्वर कारण रूप से प्रसिद्ध नहीं है तो भी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों में ईश्वर प्रयोजक कर्त्ता है।''[56] शंकर के शब्दों में:

परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः
कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति।[57]

अर्थात् ईश्वर से प्राप्त कर्तृत्व होने पर भी जीव करता है, करते हुए उसको ईश्वर कराता है। जीवकृत धर्माधर्म के वैषम्य की अपेक्षा करने वाला ही ईश्वर मेघ के समान केवल निमित्त रूप से तत्-तत् फलों को विषय रूप से विभक्त करता है, जैसे लोक में अपने-अपने असाधारण बीजों से जायमान अनेक प्रकार के गुच्छ, गुल्म, व्रीहि, यव आदि के प्रति साधारण कारण पर्जन्य होता है। पर्जन्य के न होने से उनमें रस, पुष्प, फल, पत्र आदि का वैषम्य उत्पन्न नहीं होता है। इसी प्रकार जीव कृत प्रयत्न की अपेक्षा करने वाला ईश्वर उनके शुभ और अशुभ का विधान करे यह युक्त है। ''निरतिशय उपाधि सम्पन्न ईश्वरहीन उपाधि सम्पन्न जीवों पर शासन करता है, इसमें कुछ भी विरुद्ध नहीं है।''[58]

ईश्वर कर्म का प्रेरक होते हुए भी, जैसे जीव संसार दुःख का अनुभव करता है वैसे परमेश्वर अनुभव नहीं करता। इसका कारण बताते हुए शंकर कहते हैं, ''जीव अविद्या के आवेश के बल से देह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

.Digitization by American Academy of Indic Studies. (AAIS)

आदि में आत्मभाव-सा प्राप्त कर तत्कृत दुःख से "मैं दुखी हूँ" इस प्रकार अविद्याकृत दुःख के उपभोग का अभिमान करता है, वैसे परमात्मा को देह आदि में आत्मभाव अथवा दुःखाभिमान नहीं है। जीव को उपाधि के अभिमान से ही दुःखाभिमान है, पारमार्थिक नहीं।"[59]

आत्मा अन्तःकरण की उपाधि से तादात्म्य कर जीवभाव को प्राप्त होता है, किन्तु इसके साथ उसे अपने सत् स्वरूप का अज्ञान भी होना चाहिए। शंकर अविद्या कों जीव की "कारणोपाधि" मानते हैं। इसके कारण वह अन्तःकरण में अहंभाव रखते हुए कर्त्ताभोक्ता भाव स्वीकार करता है। कर्म करने के लिए उसे इन्द्रियों की और स्थूल शरीर की अपेक्षा होती है। ये सब उपाधियाँ एक साथ मिलकर "कार्य-करण" संघात कहलाती हैं।

नानोपाधिवशादेव जातिवर्णाश्रमादयः।
आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादिभेदवत्॥

पंचीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसंचितम्।
शरीरं सखदुःखानां भोगाायतनमुच्यते॥

पंचप्राणमनोबुद्धि दशेन्द्रियसमन्वितम्।
अपंचीकृतभूतोत्थं सूक्ष्मांगं भोगसाधनम्॥

अनाद्यविद्यानिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते।
उपाधि त्रितयादन्यमात्मानभधायेत्॥[60]

अर्थात् नाना उपाधियों के वश होकर ही जाति, वर्ण, आश्रय आदि भाव आत्मा पर आरोपित कर दिये जाते हैं, जैसे जल में रस, वर्ण भेद आरोपित हों। पूर्व संचित कर्म के अनुसार पञ्चीकृतपञ्चभूत निर्मित स्थूल शरीर प्राप्त होता है, जो सुख-दःखों का भोग करने के लिए भोगायतन है। अपञ्चीकृत सूक्ष्म भूतों से उत्पन्न पंचप्राण, दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सें मिलकर बना सूक्ष्म शरीर भोग साधन है। अनिर्वचनीय और अनादि अविद्या ही कारण शरीर है। आत्मा इन तीनों शरीरों की उपाधियों से अन्य है।

इन तीन शरीरों से युक्त आत्मा कर्म करता है और फल भोगता है। ये तीनों शरीर अनात्मा हैं और जीव के लिए उपाधि हैं। आत्मा के ऊपर ये आवरण के समान पड़े हैं अथवा कोश के समान उसे आच्छादित करते हैं। शंक़र के मतानुसार बन्धन की निवृत्ति के लिए आत्मा और अनात्मा का विवेक करना चाहिए और मूँज में से सींक के समान अपने सत् स्वरूप को पञ्चकोश अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कहलाते हैं। अन्नमय कोश स्थूल शरीर है, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश सूक्ष्म शरीर है तथा आनन्दमय कोश कारण शरीर है।

इस जीव की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थायें हैं। जाग्रत अवस्था में उसे वैश्वानर, स्वप्न अवस्था में तेजस् और सुषुप्ति में प्राज्ञ कहते हैं। माण्डूक्य[62] आदि उपनिषदों में इसका उल्लेख है जिसे शंकर ने भी स्वीकार किया है। तीनों शरीरों और तीनों अवस्थाओं से पृथक्निश्प्रपञ्च, शांत, शिव आत्मा है। वही तुरीय है।[63]

योऽयमात्मा स्वयंज्योतिः पञ्चकोशविलक्षणः।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्निर्विकारो निरञ्जनः॥[64]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् जो आत्मा स्वयं-प्रकाश, अन्नमय आदि पांचों कोशों से पृथक् तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर भी निर्विकार और निर्मल है (उसे जानो)।

यहाँ "साक्षी" शब्द का प्रयोग जीव के अर्थ में नहीं है। शंकर ने जीव और साक्षी में भेद माना है।

साक्षी—

साक्षी के सम्बन्ध में आचार्य बहुत मतभेद रखते हैं। उपनिषदों में साक्षी परमात्मा रूप मिलता है तो शंकर में उसका स्तर घटता दिखाई देता है और मधुसूदन सरस्वती तक पहुँचकर वह उपाधिग्रस्त अज्ञानी जीव का पर्याय बन जाता है।

उपनिषदों में "साक्षी" शब्द का अधिक प्रयोग नहीं मिलता, यद्यपि उसके पर्याय "द्रष्टा" आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। "साक्षी" का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार है:

एको देवःसर्वभूतेषु गूढ
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥[65]

अर्थात् समस्त प्राणियों में स्थित एक देव है, वह सर्वव्यापक, समस्त भूतों का अन्तरात्मा, कर्मों का अधिष्ठाता, समस्त प्राणियों में बसा हुआ, सब का साक्षी सब को चेतनत्व प्रदान करने वाला, शुद्ध और निर्गुण है।

शंकर ने इस "साक्षी" का अर्थ इस प्रकार किया है। "सर्वेषा भूतानां साक्षी सर्वद्रष्टा" अर्थात् समस्त भूतों का साक्षी यानी सर्वद्रष्टा प्रमाणरूप में उन्होंने पाणिनि सूत्र उद्धृत करना भी आवश्यक समझा, जो इस प्रकार है, "साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्" (5.2.91) अर्थात् "साक्षी" शब्द का अर्थ द्रष्टा है।[66]

उपर्युक्त मन्त्र के अनुसार जो ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वास करता है और उनके कर्मों के अध्यक्ष है वही "साक्षी" है। इसी भाव को व्यक्त करने वाला इसी उपनिषद् का यह श्लोक भी है:

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिवाकशीति।[67]

अर्थात् सदा परस्पर मिलकर रहने वाले दो सखा सुपर्ण (पक्षी) एक ही वृक्ष को आश्रित किये हुए हैं। उनमें से एक उसके स्वादिष्ट फलों को भोगता है और दूसरा उन्हें न भोगता हुआ देखता रहता है।

शरीर रूपी वृक्ष पर विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा ही दो पक्षी के समान हैं। एक अविद्यावश भोगों में फँसा है और दूसरा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वरूप रहते हुए सभी जीवों को देखता रहता है अर्थात् उनका साक्षी है। "अभिवाकशीति" का अर्थ है "सर्वमापि पश्यन्नास्ते"— सभी को देखता रहता है।[68] श्वेताश्वतर में उपर्युक्त उद्धृत मन्त्र के आगे आने वाले मन्त्र (4.7) में "उस सभी को देखनेवाले" को "ईश" कहा गया है और उस की महिमा का उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि "साक्षी" वही ईश्वर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है जो सबके हृदय में वास करने वाला एक है।

शंकर ने "साक्षी" शब्द का बहुत प्रयोग किया है और उसका परिचय इस प्रकार दिया है:

पञ्चानामापि कोशानां निषेधे युक्तितः श्रुतेः।
तन्निषेधावधिः साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते॥[69]

अर्थात् श्रुति के अनुकूल युक्तियों से पाँच कोशों का निषेध कर देने पर उनके निषेध की अवधिरूप बोध स्वरूप साक्षी बना रहता है।

इस परिभाषा में इतना स्पष्ट है कि साक्षी उपाधियों की निषेधावधि है। शंकर यह भी कहते हैं कि "ये सब (अहंकार आदि) जिसके द्वारा अनुभव किये जाते हैं और जो स्वयं अनुभव नहीं किया जा सकता। अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा उन सबके साक्षी को ही अपना आत्मा जानना चाहिए। जिस-जिस के द्वारा जो-जो अनुभव किया जाता है वह सब उसी के साक्षित्व में कहा जाता है, बिना अनुभव किये पदार्थ में किसी का भी साक्षी होना नहीं माना जाता। अपनी तो यह आत्मा स्वयं ही साक्षी है, क्योंकि वह स्वयं अपने-आप से ही अनुभव किया जाता है। इसलिए इससे परे कोई और अपना साक्षात् अन्तरात्मा नहीं है।"[70]

ब्रह्मसूत्र के अध्यास-भाष्य में शंकर एक स्थल पर "सत्यानृते मिथुनीकृत्य"[71] दूसरे स्थान पर "प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यास"[72] और तीसरे स्थल पर "अहं प्रत्ययिनम् अशेषस्वप्रचार साक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य"[73] शब्दों का प्रयोग कर अध्यास के दोनों पक्षों का निरूपण करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जो "सत्य" है, "प्रत्यगात्मा" है, वह साक्षी है और "अनृत" है, "अनात्मा" है, वही अहं प्रत्यय वाला अन्तःकरण है। यद्यपि सरल शब्दों में यह कह सकते हैं कि परमसत् का अन्तःकरण के साथ अध्यास होता है, किन्तु परमसत् आत्मा से पृथक् कोई भिन्न वस्तु नहीं है। यह संकेत करने के लिए शंकर उसे "प्रत्यगात्मा" भी कहते हैं। सामान्य जनों में प्रत्यगात्मा भी अज्ञात वस्तु जानी जाती है और उस मान्यता का निवारण करने के लिए वे ही उसे "साक्षी" नाम देते हैं। साक्षी वह चेतन सत्ता है जो अन्तःकरण की वृत्तियों का द्रष्टा है और वही हम स्वयं हैं:

अहं प्रत्यय विषय कर्तृ व्यातिरेकेण तत्साक्षी
सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषः।[74]

अर्थात् मैं प्रत्यय विषय के कर्त्ता से भिन्न उसका साक्षी सब भूतों में स्थित, सम, एक, कूटस्थ, नित्य सबका आत्मा पुरुष है।

सुरेश्वराचार्य इस मत का समर्थन करते हैं कि साक्षी जीव से भिन्न है:

कर्त्रादिकारकाण्यस्मन्नसाधरणरूपतः।
अतदर्मक, आभान्ति ह्यागमापायसाक्षिणि॥

साक्षिरूपं स्वतः सिद्धं तेनैष्वव्यभिचारतः।
कर्त्रादि तु तमोऽन्तस्य रूपं धर्माद्यपेक्षया॥

अर्थात् जीव-पदार्थ जड-मिश्र चैतन्य है। इसी से वह ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता आदि है। कर्त्ता होना विकारयुक्त होना है। साक्षी तटस्थ ही हो सकता है। वह स्वतः सिद्ध है। उसमें व्यभिचार नहीं होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस उद्धरण से जीव और साक्षी के धर्मों की विलक्षणता स्पष्ट हो जाती है। साक्षी में अवस्था परिवर्तन नहीं होता, इसके विपरीत जीव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में व्यभिचरित होता है। साक्षी स्वयं कर्त्ता नहीं है किन्तु जीव के कर्मों को देखता है। जीव कर्म करता है। अपने कर्मों के फल भोक्ता जीव है, साक्षी नहीं। जीव अनेक किन्तु साक्षी एक है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साक्षी ही परमात्मा है। सुरेश्वर का तर्क है कि कूटस्थ परब्रह्म में साक्षित्व असङ्गत है क्योंकि इसे (साक्षी को) द्वितीय-संगति की नियत अपेक्षा है। "कूटस्थस्य न साक्षित्वं द्वितीयासङ्गतेर्भवेत्"।[76] यदि न जीव और न ब्रह्म ही साक्षी है तो क्या वह कोई तीसरी सत्ता है? इसके उत्तर में सुरेश्वर कहते हैं:

अज्ञानमात्रोपाधित्वादविद्यामुषितात्मभिः।
कौटस्थ्यान्नित्र्द्रयोऽप्यात्मा साक्षीत्यध्यस्यते जडैः॥[77]

अर्थात् केवल अज्ञान से उपहित कूटस्थ आत्मा साक्षी है। "उपहित" से तात्पर्य यह है कि साक्षी में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद अज्ञान का सूचक है, किन्तु साक्षी चिन्मात्रस्वरूप ही है।

शंकर "साक्षी" शब्द का प्रयोग करते हुए उसमें द्वैत-बोध का लक्ष्य नहीं करते। उनकी दृष्टि साक्षी के कूटस्थरूप पर ही रहती है। उस में जो साक्षित्व की उपाधि है उस के लिए जीव के विकार ही उत्तरदायी हैं, वह स्वयं नहीं।

सर्वज्ञात्म मुनि ने साक्षी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उससे साक्षी के विषय में यह ज्ञान होता है कि वह देखता कैसे है:

तमसा विनिर्मितामिदं सकलं
चतुरः न पश्यति परः पुरुषः।
अविकारि बोधवपुरद्वयकः
कारणैर्विना सकलसाक्षित्मया॥[78]

अर्थात् अज्ञान विनिर्मित इस समस्त प्रपञ्च को कूटस्थ अद्वितीय, चेतनस्वरूप, अविकारी, दृश्य से भिन्न, परम पुरुष इन्द्रियादि कारणों के बिना ही सबका साक्षी होकर ही देखता है।

इससे स्पष्ट है कि साक्षी की उपाधि इतनी ही है कि वह अज्ञान-विनिर्मित प्रपञ्च का द्रष्टा है। उस के ऊपर अज्ञान का प्रभाव नहीं है। वह स्वयं अविकारी ही है और अद्वितीय भी है क्योंकि अज्ञानरचित प्रपञ्च उसका विरोधी कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। उसका देखना भी इन्द्रियों और बुद्धि से देखना-जाना जैसा वृत्त्यात्मक नहीं है। वह सूर्य के समान सब का अन्तर्बाह्य प्रकाशक है।

भामतीकार साक्षी में विद्यमान उदासीनता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहते हैं "अन्तःकरणप्रचारसाक्षिणि चैतन्योदासीनताभ्यां"[79] अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तियों का साक्षी चैतन्य ही है और वही उदासीन द्रष्टा होने के कारण साक्षी कहलाता है।

चित्सुखाचार्य जीव को प्रमातृ मानते हैं, क्योंकि वह इन्द्रियों के द्वारा विषयों को जानने वाला है, किन्तु साक्षी ऐसा द्रष्टा है जो इन्द्रिय के अन्तःकरण का प्रयोग नहीं करता वरन् उनकी बदलती हुई दशाओं को उनसे पृथक् रह कर देखता है। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि आदि के लय हो जाने पर वह विद्यमान रहता है और अज्ञान को प्रकाशित करता है।[80]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उक्त लक्षणों से युक्त साक्षी की सत्ता बुद्धि आदि से पृथक् है, इसे शंकराचार्य ने तर्क के द्वारा सिद्ध किया है। विज्ञानवाद बौद्ध विज्ञान के अतिरिक्त पदार्थों का अभाव मानते हैं। उनका खण्डन करते हुए शंकर ने बाह्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध की है और विज्ञान की सत्ता का प्रकाशक विज्ञान से पृथक् साक्षी की स्थापना की है:—

द्वयोविज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोः स्वसंवेदनेनैवो-
पक्षीणयोरितरेतरग्राह्यग्राहकत्वानुपपत्तिः,

ततश्च विज्ञानभेद प्रतिज्ञा क्षणिकत्वादिधर्म
प्रतिज्ञा स्वलक्षणसामान्यलक्षण वास्यवासकत्व

अविद्योपल्पवसदसद्धर्मबन्धमोक्षादिप्रतिज्ञाश्च
स्वशास्त्रगतास्ताहीयेरन्।[81]

अर्थात् स्वयंसंवेदन से ही उपक्षीण पूर्व और उत्तरकालीन दोनों विज्ञानों का परस्पर ग्राह्यग्राहक भाव नहीं हो सकता क्योंकि इस से विज्ञान-भेद की प्रतिज्ञा, क्षणिकत्व आदि धर्म की प्रतिज्ञा, स्वलक्षण, सामान्यलक्षण, वास्यवासकभाव, अविद्या संसर्ग के सदसद्धर्म और बन्ध, मोंक्ष आदि स्वशास्त्रगत प्रतिज्ञाओं की हानि होगी।

अतः विज्ञान का प्रकाशक विज्ञान से भिन्न होना चाहिए। इससे अनवस्था दोष की सम्भावना का निराकरण करते हुए शंकर कहते हैं, "विज्ञान के ग्रहण मात्र में ही विज्ञान के साक्षी के ग्रहण की आकांक्षा उत्पन्न न होने से अनवस्था की शंका नहीं हो सकती। साक्षी और प्रत्यय-ज्ञान में स्वभाव के वैषम्य से उपलब्ध और अपलभ्यभाव उत्पन्न होता है।"[82]

इसके अतिरिक्त शंकर साक्षी को स्वयंसिद्ध मानते हैं:
स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्।[83]

अर्थात् साक्षी स्वयंसिद्ध है क्योंकि उसका प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। उसकी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार का तर्क चित्सुखाचार्य ने दोहराया है, "मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वे इच्छादेः कर्मकर्तृ भावस्य एव वाधकत्वात्"[84] अर्थात् इच्छा आदि को मानस प्रत्यय का विषय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस में कर्म-कर्तृ विरोध है। एक ही स्थान पर कर्मत्व तथा कर्तृत्व दोनों नहीं हो सकते।

अप्पयदीक्षित ने ईश्वर के दो रूप माने हैं— एक साक्षी और दूसरा जगत्-करण। साक्षी ईश्वर का उदासीन रूप है और जीव के अधिक अन्तरंग है:—

परमेश्वरस्यैव रूपभेदः कश्चिज्जीव
प्रवृत्तिनिवृत्त्योरनुमन्ता स्वयमुदासीनः

साक्षी नाम। स च कारणत्वादि धर्माना-
स्वपदत्वाद् अपरोक्षो जीवगतमज्ञानाद्य-
वभासयंश्च जीवस्यान्तरङ्गः।[85]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् साक्षी परमेश्वर का ही एक रूपभेद है, जो जीव की प्रवृत्ति और निवृत्ति का अनुमन्ता और स्वयं उदासीन है। वह जगत्-कारण आदि धर्मों से रहित है, अपरोक्ष है, जीव के ज्ञान और अज्ञान का निरन्तर अवभासक है और जीव के प्रति अधिक अन्तरंग है।

स्वामी विद्यारण्य द्वारा साक्षी के विस्तृत विवेचन में उपर्युक्त लगभग सभी आचार्यों के मतों का समन्वय हो गया है। पंचदशी नाटकदीपप्रकरण साक्षी-विषयक ही है। उस में साक्षी की परिभाषा इस प्रकार है:

कर्त्तारं च क्रियां तद्वद् व्यावृत्तविषयानपि।
स्फोरयेदेकयत्नेन यो सौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः॥[86]

अर्थात् जो एक ही यत्न से कर्त्ता, क्रिया और विभिन्न विषयों को प्रकाशित करता है उस चैतन्यरूप सत्ता को साक्षी कहते हैं। वह "भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत्"—नृत्यशाला में रखे हुये दीप की भाँति सब को प्रकाशित करता है।

साक्षी अहंकार बुद्धि, विषय आदि सब को प्रकाशित करता है और उन के लय हो जाने पर उनके अभाव को प्रकाशित करता हुआ स्वयं पूर्ववत् जगमगाता रहता है। उसका प्रकाशित होना या द्रष्टा होना "ज्ञप्तिरूप" है।[87] वह स्थिर और स्थायी है तथा बाहर भीतर सब का प्रकाशक है।[88] देश की अपेक्षा से वह सर्वगत है और साक्ष्य की अपेक्षा से साक्षी, किन्तु वह स्वतः "वाग्बुद्धयगोचर" (वाणी और बुद्धि का अविषय) है।[89] उसके ज्ञान के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयंप्रकाशस्वरूप है।[90]

विद्यारण्य ने अन्यत्र साक्षी को कूटस्थ कहा है:

अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा।
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः॥[91]

अर्थात् पूर्व आचार्यों ने सर्वज्ञ कूटस्थ को ही अन्तःकरण वृत्ति का साक्षी, इत्यादि अनेक प्रकार से कहा है। तात्पर्य यह है कि कूटस्थ ही अहंकार, बुद्धि और विषयों का प्रकाशक होने से साक्षी कहलाता है।

क्रमाद् विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते वृत्तयोऽखिलाः
सर्वा अपि विलीयन्ते सुप्तिमूर्छासमाधिषु॥[92]
सन्धयोऽखिलवृत्तीनामभावश्चावभासिताः
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते॥[93]

अर्थात् समस्त वृत्तियाँ क्रम से उत्पन्न और लय होती हैं। वे सब सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि अवस्थाओं में लीन हो जाती हैं। जो समस्त वृत्तियों की संधियाँ और उनके अभाव को प्रकाशित करता है, वह निर्विकार होने से कूटस्थ कहलाता है।

इसीलिए शंकर जहाँ साक्षी और अन्तःकरण के बीच अध्यास होने से जीवभाव की प्रतीति मानते हैं, वहाँ विद्यारण्य कूटस्थ और चिदाभास के मध्य अध्यास मानते हैं और इस अध्यास में कूटस्थ आच्छादित होकर चिदाभास ही जीवरूप में भासित होता है:

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते॥

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वास्तिरोहितः।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योऽन्याध्यास उच्यते॥[94]

अर्थात् कूटस्थ में बुद्धि कल्पित है। उस बुद्धि में चेतना का जो प्रतिबिम्ब है वह जब प्राणों को धारण करता है तो "जीव" कहलाता है। जैसे जलाकाश से सम्पूर्ण घटाकाश ढक जाता है, वैसे ही इस जीव ने समस्त कूटस्थ को ढक लिया है। इसी तिरोधान को (शांकर भाष्य में) अन्योन्याध्यास कहा गया है।

डॉ. राधाकृष्णन प्रमातृ जीव से पृथक् साक्षी चैतन्य को स्वीकार करते हैं जब वह अन्तःकरण उपहित होता है और वह विषयों को प्रकाशित करता है, उपाधि के विद्यमान होने मात्र से परम चैतन्य साक्षी हो जाता है।[95] यह मत समस्त अद्वैतवादियों की साक्षी विषयक व्याख्या का सामान्यीकृत रूप है, किन्तु दासगुप्त साक्षी को जीव के साथ संयुक्त कर "जीवसाक्षी" के रूप में मानते हैं। उन्होंने विषयी के तीन रूप माने हैं— 1. आत्मा जो कि परम सत् है, 2. जीव या अन्तःकरण विशिष्ट आत्मा जो, जीवनसाक्षी है और 3. अन्तःकरण, जो अविद्या की रचना है।[96] यहाँ जीव भाव के साथ ही साक्षी माना गया है। दासगुप्त जीव के दो पक्ष करते हुए एक कर्त्ताजीव और दूसरा साक्षीजीव निर्धारित करते हैं। जब जीव अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशित करता है किन्तु उन से तादात्म्य नहीं करता है तो वह जीव साक्षी है। ऐसा प्रतीत होता है कि साक्षी में जो साक्षित्व की उपाधि है उसके कारण ही दासगुप्त उसे "साक्षी जीव" की संज्ञा देते हैं।

हिरियन्ना भी "जीवनसाक्षी" शब्द का प्रयोग करते हैं। उसकी विशेषतायें हैं— दीपक के समान नित्य प्रकाशवान्, सुषुप्ति में भी प्रकाशित, अन्तःकरण की उपाधि से प्रभावित, परिच्छिन्न और वैयक्तिक। एक साक्षी के द्वारा जाग्रत-स्वप्न सुषुप्ति की जो अवस्थायें प्रकाशित होती हैं वे अन्य साक्षी से प्रकाशित नहीं होती हैं।[97] इसका तात्पर्य है कि साक्षी अनेक हैं और वे जीव से पृथक् नहीं हैं। किन्तु हिरियन्ना साक्षी को जीव की तीनों अवस्थाओं में विद्यमान भी मानते हैं।[98] इससे जीव से साक्षी की पृथक्ता भी सिद्ध होती है। ये दो स्वतः विरोधी कथन हैं।

वेंकटरमन अय्यर का कथन है कि साक्षी ज्ञाता और ज्ञेय दोनों का प्रकाशक है किन्तु ज्ञाता विषयों का ही ज्ञाता होता है, वह साक्षी को नहीं जान सकता। साक्षी प्रमाण का विषय नहीं है।[99]

जे. एन. सिन्हा के अनुसार शंकर आत्मा और साक्षी में भेद नहीं करते किन्तु परवर्ती अद्वैतवादियों ने इनमें भेद माना है।[100] ऊपरी दृष्टि से यह कथन ठीक प्रतीत हो सकता है, किन्तु शंकर के द्वारा प्रयोग किये गये "आत्मा" और "साक्षी" शब्दों को ध्यानपूर्वक देखें तो स्पष्ट होगा कि शंकर "साक्षी" में साक्षित्व की उपाधि स्वीकार करते हैं, किन्तु शुद्ध आत्मा में यह उपाधि सदा विद्यमान नहीं है।

एक जीव अथवा अनेक जीव

अद्वैत-वेदान्त में जीवों की संख्या के विषय में दो मत हैं— अनेक जीववाद और एकजीववाद। उपनिषदों के अधिकांश स्थलों और शंकर प्रभृति आचार्यों ने जीव की अनेकता ही मानी है किन्तु एकजीववादी आचार्य उपनिषदों में, अधिक नहीं तो दो-चार स्थलों में ही, एक जीव की मान्यता खोज लेते हैं और जीव के एक ही होने के पक्ष में अपने तर्क देते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अधिकांश उपनिषदों के मन्त्र अनेक जीववाद का ही पोषण करते हैं। अग्नि और स्फुलिंग का दृष्टान्त जीवों की अनेकता स्पष्ट प्रतिपादन करता है। यह दृष्टान्त कई उपनिषदों में दिया गया है, "यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्यच्चरन्त्येवमेव अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः.....व्युच्चरन्ति"[101] अर्थात् जैसे अग्नि से क्षुद्र स्फुलिंग निकलते हैं वैसे ही इस आत्मा से सब प्राण व्युच्चारित होती हैः—

यथा सुदीप्तात्यावकात् विस्फुलिंगाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।

तदाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥[102]

अर्थात् जिस प्रकार सुदीप्त अग्नि से उसी के समान रूपवाली हजारों स्फुलिंग निकलती हैं, हे सोम्य! उसी प्रकार अक्षर से अनेक भाव (जीव) प्रकट होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं।

प्रश्नोपनिषद् में "प्रजापतिः मिथुनमुत्पादयते.....ऐतौ में बहुधा प्रजाः करिष्यत इति"[103] अर्थात् प्रजापति ने मिथुन उत्पन्न किया और यह माना कि इस मिथुन से नाना प्रकार की प्रजायें उत्पन्न होंगी।

ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता में भी "भूतानाम्" कह कर सैकड़ों बार जीव की अनेकता मानी गई है। शंकर व्यवहार में जीव की अनेकता और परमार्थ में एक अद्वितीय परमात्मा स्वीकार करते हैं। "देहभेदानुवृत्तया बहुवचनं न आत्मभेदाभिप्रायेण"[104] अर्थात् बहुवचन का प्रयोग देहभेद के विचार से किया गया है, आत्मभेद के अभिप्राय से नहीं। "परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूप व्यपिरेकेणास्ति"[105] अर्थात् परमार्थ दृष्टि से बुद्धि उपाधि के सम्बन्ध से परिकल्पित स्वरूप से पृथक् जीव नाम है ही नहीं। व्यवहार में तो जीव की अनेकता और हर व्यक्ति में अपना जीवभाव "सर्वलोकप्रत्यक्ष"[106] है। शंकर का तर्क भी है, "न हि एकस्य मुमुक्षत्वं फलार्थित्वं व युगपत् संभवति"[107] अर्थात् एक ही पुरुष में मुमुक्षत्व और फल की इच्छा यह दोनों एक साथ नहीं हो सकते। अब तक ज्ञाननिष्ठा में स्थित बहुत-से महापुरुष परम शुद्धि को प्राप्त होकर मुक्त हो गये हैं।[108] अन्य जीव अब भी संसार-चक्र में पड़े हैं। उनके कर्मानुसार किसी को उच्च गति और किसी को अधोगति प्राप्त होती है। शंकर के अनुयायी भामतीप्रस्थानवादी आचार्यों ने अनेक जीववाद स्पष्टतः माना है।

इसके विपरीत एकजीववाद का मत है। वेदान्त-परिभाषाकार दोनों मतों के भेद का आधार इस प्रकार बताते हैंः "एक जीववादे विद्याप्रतिबिम्बो जीवः, अनेकजीववादे अन्तःकरणप्रतिबिम्बः"[109] अर्थात् एकजीववाद के पक्ष में अविद्या में प्रतिबिम्बित जीव है और अनेकजीववाद के पक्ष में अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जीव है। अविद्या एक है अतः उस में प्रतिबिम्बित जीव भी एक ही है किन्तु अन्तःकरण अनेक हैं अतः उनमें प्रतिबिम्बित चैतन्य अनेक जीव रूप धारण करता है।

प्रकाशानन्द ने "एकजीववाद" का ही पक्ष लिया है और उपनिषद् के इस मन्त्र को आधार माना हैः

अजामेकां लोहित शुक्तकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥[110]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् अपने अनुरूप बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करने वाला एक लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्णा अजा को एक अज सेवन करता हुआ भोगता है और दूसरा अज उस भुक्त-भोगा को त्याग देता है।

यहाँ "अजा हि एका" में "हि" का प्रयोग कर एक अविद्या पर बल दिया है। उसकी उपाधि से एक ही जीव है। "अन्य अजः" अविद्या से मुक्त ब्रह्म है।[111] एकजीव ही स्वप्न में देखे जाने वाले शरीरों के समान निर्जीव है। समस्त विश्व उस एक जीव से ही कल्पित है।

मधुसूदन सरस्वती एकजीववाद का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं, "अविद्यावशाद् ब्रह्मैवैकं संसरति, स एव जीवः, तस्यैव प्रतिशरीरमहमित्यादि बुद्धिः"[112] अर्थात् अविद्या के वशीभूत होकर एक ही ब्रह्म संसरण करता है, वही जीव है, और उसी को प्रत्येक शरीर म अहंकारानुभूति होती है। विभिन्न शरीरों में अनुभव होने वाले अहंकार, "जीवाभास" हैं। जीव कभी सोता नहीं है, जीवाभास ही सोते और जागते हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही जीवाभास हैं, किन्तु स्वप्न-कल्पित शिष्यों को स्वप्न-द्रष्टा गुरु तब तक उपदेश देता रहता है, जब तक वह जागता नहीं।

ब्रह्म नित्य मुक्त है, उसमें अविद्या नहीं है, किन्तु अविद्या रूप बन्ध का वह आविद्यक है। यह बन्ध उसे उसी प्रकार बाधक नहीं होता जैसे मृगतृष्णा का जल मरुभूमि को गीला नहीं करता है। अनेक शरीरों में एक ही जीव सर्वत्र अहम्-अहम् का अनुभव करता है। जीवाभासों में, फिर भी "अहं-त्व" का निर्वाह हो सकता है। एक अन्तःकरण के अभेद का अध्यास जिस जीवाभास को है वह दूसरे अन्तःकरण के अभेद-भ्रम वाले जीवाभास को त्वम् कह सकता है। तात्पर्य यह है कि अविद्या-अवच्छिन्न जीव एक है और अन्तःकरण अवच्छिन्न जीवाभास अनेक हैं। अन्तःकरण का परकोटा जीवाभासों के संस्कारों को सीमित रखना है। अविद्यावच्छिन्न जीव को सब जीवों के कृत्याकृत्य का भान एवं अनुसंधान होता ही है। मोक्ष अवस्था में तत्त्व-साक्षात्कार हो जाने पर कार्यसहित मूल अज्ञान नष्ट हो जाता है। जिससे कि कोई अन्तःकरण रहता ही नहीं कि जिसके भेद से विरोधाभास उपस्थित हो। शास्त्र प्रामाण्य के दृढ़ता पर एकजीववादी का अटल विश्वास है कि भले ही अभी तक कोई मुक्त हुआ हो अथवा न हुआ हो किन्तु तत्त्व ज्ञान से मुक्ति अवश्य होगी।

इस एकजीववाद में शुद्ध चैतन्य को साक्षी नहीं माना जाता, अपितु अविद्या, वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य साक्षी कहलाता है।[113] अविद्या का शुद्ध एवं निर्दोष चैतन्य से प्रकाश मानने पर पारमार्थिकत्व की आपत्ति होती है, किन्तु साक्षिभास्य मानने पर उक्त आपत्ति निरस्त हो जाती है और मोक्ष में भी अविद्या के भान की आपत्ति दूर हो जाती है।

एकजीववाद के मत को उद्धृत करते हुए दासगुप्त लिखते हैं, "कुछ वेदान्ती एक जीव और एक शरीर में विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार यह समस्त जगत् और प्राणी उसी जीव की कल्पनायें हैं। यह कल्पित जगत् और ये कल्पित प्राणी तब तक बने रहेंगे जब तक वह विराट्-जीव कल्पना करता रहेगा। इन प्राणियों की मुक्ति और बन्धन भी काल्पनिक हैं।"[114]

प्रो. मलकानी ने इस एकजीववाद का समर्थन किया है।[115] वे कहते हैं कि अद्वैत दर्शन में ईश्वर की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। सृष्टि के पूर्व ईश्वर है ही नहीं। सृष्टि के बाद ही उसकी अपेक्षा से ईश्वर है। सृष्टि के पूर्व केवल ब्रह्म है। दर्शन में इस प्रकार के ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, धर्म में उपासना के लिए भले ही उसकी आवश्यकता समझी जाय। हम बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर सकते हैं कि ब्रह्म की अविद्या के घेरे में जगत् का नानात्व प्रतिभासित करता है और उसी से समस्त अनुभवों की व्याख्या हो जाती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस प्रकार, एकजीववाद में भले ही लाघव गुण दिखाई दे किन्तु वह अनेक जीववाद की रूपरेखा से बाहर नहीं निकल सकता। उसमें भी अन्तःकरण की उपाधि से जीवाभास स्वीकार करना पड़ता है अन्यथा हमारे वर्तमान अनुभव की व्याख्या नहीं हो सकती। ईश्वर के स्थान में वह एक जीव कह कर कोई विशेष उपलब्धि नहीं कर लेता। एकजीववाद में कल्पित जीवाभास से मुक्ति की समस्या उत्पन्न होती है। उसमें जीवन मुक्ति का अभिमत उपपन्न नहीं है।

संदर्भ-सूची

1. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 1.3.28.
2. वही. 1.2.6.
3. वही, प्रस्तावना, पृ. 18.
4. वही, पृ. 12.
5. वही, पृ. 3.
6. वही, पृ. 2.3.51 पृ. 532.
7. आत्मबोध, 45.
8. वही, 15.
9. विवेक चूडामणि, 198.
10. वही, 199.
11. वही, 220.
12. वही, 306.
13. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 2.3.50. पृ. 532.
14. विवेक चूडामणि, 289.
15. आत्मबोध, 10.
16. दृग्दृश्य-विवेक, 33.
17. बृहदारण्यक-भाष्य वार्त्तिक 1.4.608.
18. वही, 1.4.127.
19. विवरण-प्रमेय-संग्रह, 1.1 पृ. 231.
20. वही, 1.1 पृ. 232.
21. वही, 1.1 पृ. 233.
22. पंचदशी, 1.16-17 पृ. 10.11.
23. महानारायणोपनिषद्, 4.8. (श्रीमती उर्मिला शर्मा)
24. संक्षेपशारीरक, 1.327.
25. भामती, 1.1.1 पृ. 38.
26. भामती, 1.4.22 पृ. 416.
27. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 3.2.20 पृ. 621.
28. वही, 3.2.20 पृ. 621.
29. भामती, 3.2.20 पृ. 710.
30. वेदान्त कल्पतरु, 3.2.20 पृ. 710.
31. कल्पतरुपरिमल, 3.2.20 पृ. 710.
32. ब्रह्मसूत्र, शां.भा, 1.1.5 पृ. 87.
33. वही, 1.2.6. पृ. 155.
34. वही, 1.2.20. पृ. 177.
35. भगवद्गीता, शां.भा., 15.7 पृ. 370.
36. ब्रह्मसूत्र, शां.भा, 2.3.17
37. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2.1.20.
38. वही, 1.4.7.
39. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा, 2.1.20 पृ. 473.
40. वही, पृ. 475.
41. वही, पृ. 478.
42. वही, पृ. 479.
43. ब्रह्मसूत्र, शां.भा, 2.3.17 पृ. 498.
44. वही, 2.3.19, पृ. 501.
45. वही, 2.2.34, पृ. 459.
46. मुण्डक, उपनिषद्, 3.1.9.
47. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 5.9.
48. वही, 5.8.
49. ब्रह्मसूत्र, शं.भा., 2.3.29 पृ. 509.
50. वही, 2.3.30 पृ. 511.
51. वही, 2.3.32 पृ. 513.
52. वही, 2.3.33 पृ. 514.
53. वही, 2.3.34 पृ. 514.
54. वही, 2.3.38 पृ. 517.
55. वही, 2.3.40 पृ. 519.
56. वही, 2.3.41 पृ. 523.
57. वही, 2.3.42 पृ. 524.
58. वही, 2.3.45 पृ. 527.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

59. वही, 2.3.46 पृ. 527.
60. आत्मबोध, 11 से 14.
61. विवेक चूडामणि, 154, 155.
62. माण्डूक्य उपनिषद्, 3,4,5.
63. वही, शां.भा, 7:
64. विवेक चूडामणि, 213.
65. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 6.11.
66. वही, शां.भा. 6.11 पृ. 243.
67. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 4.6.
68. वही, शां.भा. 4.6 पृ. 191.
69. विवेक चूडामणि, 212.
70. वही, 216, 219, 218.
71. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. अध्यास, पृ. 3.
72. वही, पृ. 12.
73. वही, पृ. 17.
74. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 1.1.4 पृ. 70.
75. बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक, 1.4.668-669.
76. वही, 1.4.374.
77. वही,
78. संक्षेप शारीरक, 2.29.
79. भामती, पृ. 45.
80. तत्त्व-प्रदीपिका, पृ. 381-382.
81. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 2.2.28 पृ. 449.
82. वही, पृ. 450.
83. वही, 2.2.28. पृ. 450.
84. तत्त्व-प्रदीपिका, पृ. 588 (उर्मिला शर्मा)
85. सिद्धान्तलेश-संग्रह, पृ. 184-185 (उर्मिला शर्मा)
86. पंचदशी, 10.9 पृ. 420.
87. वही, 10.13 पृ. 421.
88. वही, 10.15 पृ. 422.
89. वही, 10.23 पृ. 424.
90. वही, 10.25 पृ. 425.
91. वही, 8.25 पृ. 355.
92. वही, 8.20-21 पृ. 353.
93. वही, 6.23-24 पृ. 140-141.
94. वही,
95. Indian Philosophy Vol. II, page 601.
96. A History of Indian Philosophy Vol. I, p. 480.
97. Outlines of Indian Philosophy by M.Hiriyanna, p. 359, 360.,
98. वही, पृ. 355.
99. Advaita Vedanta, p. 215.
100. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 449
101. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2.1.20.
102. मुण्डक उपनिषद्, 2.1.1.
103. प्रश्न उपनिषद्, 1.4.
104. गीता, शां.भा., 2.12 पृ. 33.
105. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 2.3.30 पृ. 511.
106. वही, प्रस्तावना, पृ. 18.
107. गीता, शां.भा., 4,11 पृ. 110.
108. वही, 4.10 पृ. 110.
109. वेदान्त-परिभाषा, विषय परिच्छेद, पृ. 334.
110. श्वेताश्वतर उपनिषद्. 4.5 पृ. 189.
111. वेदान्तसिद्धान्त-मुक्तावली, पृ. 19 (उर्मिला शर्मा)
112. अद्वैति-सिद्धि, पृ. 470.
113. अद्वैत-सिद्धि, अविद्याप्रतीतिविचार, पृ. 561.
114. A History of Indian Philosophy, p. 477.
115. Metaphysics of Advaita Vedanta, p. 190.

■

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय 10

अद्वैत-वेदान्त में जगत्-निरूपण

परम सत् का अनुसंधान करने के लिए हमें सद्यः उपलब्ध जगत् और जीव की परीक्षा करना अनिवार्य होता है। यदि यही नानात्व सत्य सिद्ध होता है तो अन्य किसी सत् की खोज करना व्यर्थ है। इसके विपरीत, यदि जगत् की सत्ता में संशय उत्पन्न होता है तो किसी अन्य सत् वस्तु के होने की संभावना पर विचार किया जा सकता है।

उपनिषदों के ऋषि जगत् के विषय में जो कुछ उद्घोषणा करते हैं वह अपने आपकों ब्रह्मभाव में स्थित रखते हुए करते हैं। उन्हें सर्वत्र एक मात्र ब्रह्म ही दिखाई देता है। जगत् की सत्ता पर उन्होंने कोई बल नहीं दिया है। उनकी दृष्टि में वह उपेक्षणीय है, अथवा वह है ही नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार, जैसे घट विकार मात्र है सत्य केवल मिट्टी है, वैसे ही यह सब जगत् वाचारम्भण मात्र अर्थात् नामरूप है।[1] श्वेताश्वतर उपनिषद् में जगत् का स्वरूप निर्धारित करने के लिए "माया" की उद्भावना की गयी है और ईश्वर को माया का स्वामी माना गया है। उस का उल्लेख इस प्रकार है:

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥[2]

अर्थात् प्रकृति को माया जानना चाहिए और महेश्वर को मायावी। उसी के अवयवभूत (कार्य-करणसंघात) से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।

इस मंत्र से स्पष्ट है कि जगत् माया का विस्तार है किन्तु माया स्वतंत्र नहीं है। उस का नियंता ईश्वर है। नियम्य और नियामक सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट करने के लिए श्रुति कहती है:—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥[3]

अर्थात् जो अकेला ही प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है, जिसमें यह सब सम्यक् प्रकार से लीन होता है फिर विविध रूप हो जाता है उस सर्वनियन्ता वरदायक, स्तवनीय देव का साक्षात्कार कर के साधक इस परम शान्ति को प्राप्त होता है।

इस मंत्र में माया का रूप निर्धारित हो जाता है। "यह सब" माया ही है जो उसमें लीन होकर एक हो जाती है:—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्
तस्मिंश्चान्यो माययां संनिरुद्धः।[4]

अर्थात् मायावी ईश्वर ही सब उत्पन्न करता है और उसमें ही माया से अन्य-सा होकर बँधा हुआ है।

ऐतरेय उपनिषद् में जीव की व्याख्या भी की गयी है। माया शक्ति के द्वारा समस्त जगत् का विस्तार हुआ। जगत् के अन्तर्गत ही शरीर, मन, बुद्धि आदि भी है। किन्तु जीव की उत्पत्ति माया के परिणाम से नहीं बतायी है। परमात्मा स्वयं मूर्धसीमा को ही विदीर्णकर शरीर में प्रवेश कर गया— "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत"5। बृहदारण्यक भी इस का समर्थन करता है— "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" अर्थात् वह नख के अग्र भाग से लेकर शिखा तक इस शरीर में प्रवेश किए हुए है। इसी से मिलते-जुलते शब्द तैत्तिरीय उपनिषद् में भी हैं— "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"[7] अर्थात् उसे रच कर वह उसी में अनुप्रविष्ट हो गया।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि शरीरों की रचना तो माया या प्रकृति के द्वारा हुई है, अर्थात् यह नामरूपात्मक सृष्टि है, किन्तु जीव इस प्रकार की सृष्टि नहीं है। वह तो शरीर में विद्यमान परमात्मा की ही सत्ता है। जीव स्वतः परमात्मा के सर्जन का परिणाम नहीं हैं। वह अपने वास्तविक स्वरूप में परमात्मा ही है।

जीव का उल्लेख दो रूपों में मिलता है। एक तो मन-बुद्धि के माध्यम से नानात्व देखने वाला और उसी में मोहित होकर सुख-दुःखों के फल को भोगनेवाला और दूसरा अपने परमात्म रूप को जानकर उसी में असंग भाव से विद्यमान रहने वाला है। पहली अवस्था में जिसे जीव कहते हैं वही दूसरी अवस्था में परमात्मा है:

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥[8]

अर्थात् सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत् का स्वामी यह हंस (परमात्मा) देहाभिमानी होकर नव द्वार वाले (देहरूप) पुर में बाह्य विषयों को ग्रहण करने के लिए चेष्टा करता है।

तमक्रतुं पश्यति वीताशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥[9]

अर्थात् वह अक्रतु (विषयभोग संकल्प शून्य) विधाता की कृपा से महिमामय आत्मा को ईश रूप में देखता है और शोक रहित हो जाता है।

इन्हीं दो रूपों का वर्णन दो पक्षियों के दृष्टान्त से भी किया जाता है। "सदा परस्पर मिल कर रहने वाले दो सखा सुपर्ण (पक्षी) एक ही वृक्ष को आश्रित किये हुए हैं। उनमें से एक उसके स्वादिष्ट फलों को भोगता है और दूसरा उन्हें न भोगता हुआ देखता रहता है।"[10]

गोडापादाचार्य अजातवादी है। वे परमार्थ दृष्टि से जगत् की सत्ता नहीं मानते। उपनिषद् का वाक्य "नेह नानास्ति किंचन"[11] अर्थात् यहाँ नानावस्तु कुछ नहीं है, उद्धृत करते हैं। हमें आँखों से और मन-बुद्धि से जो कुछ प्रतीत होता है वह माया की रचना है।[12] जगत् की मायिक रचना और उसकी मिथ्या प्रतीत को स्वप्न के समान माना है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः
तथा जाग्रद् द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः॥[13]

अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न काल में मन माया से ही द्वैताभास रूप से स्फुटित होता है उसी प्रकार जाग्रत् काल में भी वह माया से ही द्वैताभास रूप से स्फुटित होता है। वस्तुतः न जगत् है और न वह उत्पन्न ही हो सकता है। तर्क से भी जगत् की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। सर्वत्र ब्रह्म ही है जो भ्रांति स नामरूपात्मक जगत् प्रतीत होता है। जगत् न होने पर जीव की सत्ता भी सिद्ध नहीं होती है:

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तयं सत्यं यत्र किञ्चन्न जायते॥[14]

अर्थात् कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है। जिस अजन्मा ब्रह्म में किसी की उत्पत्ति नहीं होती वही सर्वोत्तम सत्य है।

जीव भाव में जो विखण्डित चेतना प्रतीत होती है उसका कारण मन की कल्पना है। मन के अमन हो जाने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप को पाकर जरामरणादि सम्पूर्ण विकारों से रहित देखता है।[15]

शंकर के अनुसार जगत् का स्वरूप

शंकर जगत् की उतनी उपेक्षा नहीं करते जितनी गौडपाद या कुछ उपनिषदों ने की है। उन्होंने, व्यावहारिक दृष्टि से ही सही, उस पर विस्तृत विचार किया है। जगत् का विस्तार, उसके घटक, उसकी उत्पत्ति का कारण आदि विभिन्न पक्षों का उल्लेख करते हुए शंकर ने जगत् की व्याख्या की है।

जगत् का विस्तार बताते हुए शंकर लिखते हैं— "जगतो नामरूपक्रियाकारक फलजातस्य"[16] अर्थात् समस्त नामरूप, क्रिया, कारक और उनके फल जगत् के अन्तर्गत आते हैं। नाम रूप वे समस्त वस्तुयें हैं जो हम अपने आसपास देखते या सुनते हैं। अपना शरीर भी ऐसा ही है। शरीर के अन्दर प्राण, अन्तःकरण आदि भी नाम रूप हैं। इस प्रकार जगत् आन्तरिक और बाह्य दो प्रकार का हो सकता है। अन्तःकरण में अहंकार वृत्ति भी जगत् का एक अंश है। उसी में कर्त्ताभाव अनुभव होता है। कर्त्ता के द्वारा किये गये कर्मों की गणना भी जगत् में ही होती है। कर्म संचित होकर प्रारब्ध बनते हैं और प्रारब्ध सुख-दुःख रूप फल उत्पन्न करता है। यह सब जगत् का ही रूप है।

शंकर ने जगत् को चर और अचर रूप में भी विभाजित किया है। प्राणियों के शरीर यद्यपि पंचभूतों से निर्मित अचर हैं किन्तु सूक्ष्मशरीराभिमानी जीव के सन्निकर्ष से वह चर है। पंचमहाभूत और उन से निर्मित पर्वत आदि अचर या स्थावर जगत् हैं। संक्षेप में, समस्त जगत् को "ईक्षणात् प्रवेशपर्यन्तः" कह सकते हैं। ऐतरेय उपनिषद् में प्रथम मंत्र में "ईक्षण" से सृष्टि का विस्तार प्रारम्भ होता है। इसके उपरान्त, लोक, देवता, इन्द्रियाँ, शरीरादि उत्पन्न होते हैं। अन्त में वह (परमात्मा) मूर्छा को विदीर्ण कर उस में प्रवेश कर गया।[17] यहाँ तक समस्त नानात्व जगत् की रचना है। शंकर ने इस विस्तृत सृष्टि का वर्णन विवेकचूडामणि में सविस्तार किया है।[18]

इस जगत् की रचना तीन गुण— सत्त्व, रजस् और तमस् से हुई है:

रजस्तमः सत्त्वमिति प्रसिद्धा
गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः।[19]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् सत्त्व,रजस, और तमस् उस के (माया के) तीन गुण हैं और उन तीनों गुणों के अपने-अपने कार्य हैं। उन गुणों का निरूपण शंकर इस प्रकार करते हैं:

विक्षेपशाक्ती रजसः क्रियात्मिका
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।

रागादयोऽस्याः प्रभवन्तिनित्यं
दुःखादयो ये मनसो विकाराः॥[20]

अर्थात् क्रियारूप विक्षेप शक्ति रजोगुण की है, जिससे सनातन काल से समस्त क्रियाएँ होती आयी हैं और जिससे रागादि और दुःखादि, जो मन के विकार हैं, सदा उत्पन्न होते रहते हैं।

एषावृतिर्नाम तमोगस्य
शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा।

सैषा निदानं परुषस्य संसृते-
विक्षेपशक्तेः प्रसरस्य हेतुः॥[21]

अर्थात् जिसके कारण वस्तु कुछ-की-कुछ प्रतीत होने लगती है। वह तमोगुण की आवरणशक्ति है। यही पुरुष के संसार का आदि कारण है और यही विक्षेप शक्ति के प्रसार का भी हेतु है।

सत्त्वं विशुद्धं जलवत्तथापि
ताभ्यां मिलित्वा सरणाय कल्पते।

यत्रात्मबिम्बः प्रतिबिम्बितः सन्
प्रकाशयत्यर्क इवाखिलं जडम्॥[22]

अर्थात् सत्त्वगुण जल के समान शुद्ध है, तथापि रज और तम से मिलने पर वह भी पुरुष के संसार-बंधन का कारण होता है, इस में प्रतिबिम्बित होकर आत्मबिम्ब सूर्य के समान समस्त जड पदार्थों को प्रकाशित करता है।

यह तीनों गुण मिल कर माया का अव्यक्त रूप निर्धारित करते हैं जिसके व्यक्त होने पर समस्त जगत् का विस्तार होता है।

संसार का स्वरूप

शंकर के अध्येताओं ने प्रायः शंकर द्वारा निरूपित जगत् को ही संसार माना है। अधिकांश विद्धानों ने जगत् और संसार को पर्यायवाची माना है। वे इस का भेद नहीं कर सके हैं। किन्तु शंकर ने इन दोनों शब्दों का प्रयोग भिन्न संदर्भों में किया है और उनके मन में इन दोनों का निहितार्थ भी भिन्न है। इतना ही नहीं उन्होंने इन दोनों की परिभाषायें भी स्वतंत्र रूप से दी हैं। शंकर द्वारा दी गयी "जगत्" की परिभाषा पर हम विचार कर चुके हैं, अब हम यहाँ "संसार" की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं:

क्रियाकारकफलभेदो हि संसारः[23]

अर्थात् क्रिया, कारक और फलरूप भेद ही संसार है। फल सुख और दुःख है। इन फलों को भी संसार कह सकते हैं:

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सुखदुःखसंभोगः संसारः पुरुषस्य च
सुखदुःखानां संभोक्तृत्वं संसारित्वम्।[24]

अर्थात् सुखदुखों का भोग ही संसार है और पुरुषों में जो सुख-दुखों का भोक्तृत्व है वही उसका संसारित्व है।

क्रिया, कारक और सुखदुख रूप फल तो संसार का रूप निर्धारित करते हैं किन्तु इस के कारण पर विचार करते हुए शंकर कहते हैं—

सत्याम् अपि अविद्यायां सुखदुख मोहेषु गुणेषु भुज्यमानेषु यः संग आत्मभावः संसारस्य स प्रधानं कारणं जन्मनः।[25]

अर्थात् यद्यपि संसार का कारण अविद्या है तो भी भोगे जाते हुए सुखदुःख और मोहरूप गुणों में जो आसक्त हो जाता है वह जन्मरूप संसार का प्रधान कारण है।

अविद्या गुणेषु स संग कामः
संसारस्य कारणम्।[26]

अर्थात् अविद्या और गुणों का संग ये दोनों ही संसार के कारण हैं।

आभासस्य चाविद्याकृत्वात्तदाश्रयस्य संसारस्य अविद्याकृतत्वोपपत्तिः[27]

अर्थात् आभास (जीव) अविद्याकृत होने से उसके आश्रित संसार में भी अविद्याकृतत्व उपपन्न है।

इसका तात्पर्य यह है कि अविद्या, गुणों का संग, कर्त्ताभाव, विषयों की कामना, उनकी प्राप्त करने की योजना, कर्म में प्रवृत्ति, उनके फलस्वरूप सुख-दुःख की प्राप्ति, और उनका भोग सब मिलकर संसार है। संक्षेप में, अविद्या काम-कर्म ही संसार है। इसका वर्णन एक चक्र के रूप में भी किया जाता है। त्रिगुणात्मक वासना से कामना और कर्म उत्पन्न होते हैं तथा कर्म से वासनायें पुष्ट होती हैं। वे वासनायें पुनः कर्म में प्रवृत्त करती हैं। यह संसार-चक्र अविराम गति से चलता रहता है, जैसे बीज और वृक्ष का चक्र चलता है।

वासनावृद्धितः कार्य कार्यवृद्धया च वासना।
वर्धते सर्वथा पुंसः संसारो न निवर्तते॥[28]

अर्थात् वासना के बढ़ने से कार्य बढ़ता है और कार्य के बढ़ने से वासना बढ़ती है और मनुष्य का संसार समाप्त नहीं होता है।

यह संसार ही जीव का बंधन है। इससे बंधे रहने के कारण ही उसे बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्र में गिरना होता है। शंकर ने इस सन्दर्भ में संसार-चक्र, संसार-सागर, संसार-कूप, संसार-बंधन आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यह संसार जीव की रचना है। और उसी के प्रयास से इसकी निवृत्ति होती है।

संसारबन्धविच्छित्त्यै तद्द्वयं प्रदहेद्यतिः।
वासनाबद्धिरेताभ्यां चिन्तया क्रियया बहिः॥[29]

अर्थात् संसार-बंधन को काटने के लिए यति दोनों का नाश करे। विषयों की चिन्ता और बाह्य क्रिया से ही वासना की वृद्धि होती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्पष्ट है कि यह संसार जगत् से भिन्न है। भले ही संसार की सत्ता जगत् के अन्तर्गत हो किन्तु संसार जगत् का पर्याय नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का संसार अपना अलग है, किन्तु जगत् सब जीवों का एक है। जीव के बन्धन का हेतु संसार है, जगत् नहीं। मुक्तजीव संसार से निवृत्त हो जाता है और उसके संसार का लय हो जाता है। किसी जीव का संसार नष्ट होने से जगत् का कुछ नहीं बिगड़ता। जगत् न बन्धन का कारण है और न वह दुखदायी है। किसी जीव के आत्मभाव प्राप्त करने से जगत् नष्ट नहीं हो जाता।

हम यह भी कह सकते हैं कि ब्रह्म रूपी सत् वस्तु पर नामरूपात्मक जगत् अध्यारोपित है। परमार्थ दृष्टि से जगत् कुछ नहीं है, किन्तु व्यवहार दृष्टि से मनुष्य से स्वतंत्र उसकी सत्ता है। जगत् प्राप्त कर जीव अपनी अविद्या की कल्पना से अहं और मम का सृजन करता है और उसे जगत् के एक अंश पर अध्यारोपित करता है। यह जीव का सृजन और उसका अध्यारोपण ही संसार है। जैसे प्रलय काल में जगत् के नष्ट होने पर ब्रह्म का विनाश नहीं होता, वह असंग रूप से विद्यमान रहता है, इसी प्रकार ज्ञानी जीव का संसार सिमट कर लय हो जाता है किन्तु उसके नष्ट होने से जगत् की वस्तुओं का कुछ नहीं बिगड़ता। जगत् वस्तुगत और इन्द्रियानुभविक सत्ता है जबकि संसार आत्मगत ओर मनोवैज्ञानिक सृष्टि है। प्रत्येक जीव का संसार उसके साथ चलता है। एक शरीर छोड़ कर जब वह दूसरा शरीर धारण करता है तो उसका संसार उसके साथ बंधन बन जाता है और नया शरीर मिलने पर उस शरीर तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं पर आरोपित हो जाता है।

जगत् की उत्पत्ति

उपनिषदों के अनुसार इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।[30] सत् के पूर्व असत् होने की सम्भावना का निषेध किया गया है। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सत् ही ब्रह्म है। वह, "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरुञ्जनम्"[31] अर्थात् निष्कल, निष्क्रय, शान्त, निर्मल, निर्लेप है और "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः"[32] अर्थात् दिव्य, अमूर्त, बाहर भीतर वर्तमान और अजन्मा है। उसने ईक्षण किया और नामरूपात्मक जगत् का विस्तार किया, सत् स्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त सृष्टि की उत्पत्ति में कोई सहयोगी कारण नहीं हैं संक्षेप में सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है:

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजो सृजत।
तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदयोऽसृजत।

ता आप ऐक्षन्त बहव्यः स्याम प्रजायेमहीति ता।
अन्नमसृजन्त। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि।
.....अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।[33]

अर्थात् उस सत् ने ईक्षण किया "मैं बहुत हो जाऊँ", अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ— इस प्रकार ईक्षण कर उसने तेज उत्पन्न किया। उस तेज ने ईक्षण किया "मैं बहुत हो जाऊँ— नाना प्रकार से उत्पन्न होऊँ"— इस प्रकार ईक्षण कर उसने जल की रचना की। उस जल ने ईक्षण किया। "हम बहुत हो जायँ— अनेक रूप से उत्पन्न हों।" उसने अन्न की रचना की। "उनमें से एक-एक देवता को त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ, ऐसा विचार कर उस देवता ने इस जीवात्मरूप से ही उन तीन देवताओं में अनुप्रवेश कर नामरूप का व्याकरण किया।

इसी क्रम से समस्त लोक-लोकान्तर और जरायुज आदि चार प्रकार के जीवों की रचना हुई। लगभग सभी उपनिषदों में कहीं संक्षेप में और कहीं विसतार से, सृष्टि का यही क्रम अपनाया गया है। सृष्टि का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रारम्भ सत् के ईक्षण से होता है। और जैसे-जैसे नामरूप व्यक्त होते हैं उनमें वह सत् व्याप्त होकर जीवभाव उत्पन्न करता है और उसमें पुनः ईक्षण होता है और सृष्टि आगे बढ़ती है। इन विकास-प्रक्रिया के अगणित पद हो सकते हैं। ऋषियों ने उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि सृष्टि-विस्तार के मूल में सर्वत्र एक ही सिद्धान्त काम करता है।

गौडपाद की दृष्टि में ईक्षण के द्वारा नामरूपों की उत्पत्ति कहने भर को है। जिन लोगों में जगत् के प्रति सत्यत्व बुद्धि है उन्हें के लिए श्रुति जगत् की उत्पत्ति का निरूपण करती है, किन्तु ऐसा करने में उसे कोई उत्साह नहीं है। जितने में श्रोता का सन्तोष हो और उसकी बुद्धि जगत् से हटकर सत् में स्थित हो जाय उतना ही जगत् के विषय में कहना श्रुति को इष्ट है:

उपलम्भात्समाचांरादस्तिवस्तुत्ववादिनाम्।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा॥[34]

अर्थात् वस्तुओं की उपलब्धि और वर्णाश्रमादि आचार के कारण जो पदार्थ की सत्ता स्वीकार करते हैं तथा अजाति से भय मानते हैं, विद्वानों ने सर्वदा उन्हीं के लिए जाति का उपदेश दिया है।

तात्पर्य यह है कि वस्तुओं का अस्तित्व मानने वाले दृढ आग्रही, श्रद्धालु और मन्द विवेकशील पुरुषों को तत्त्वज्ञान के उपाय रूप से उस जाति का उपदेश दिया है। अभी वे भले ही उसे स्वीकार कर लें परन्तु वेदान्त का अभ्यास करते-करते उन्हें स्वयं ही अजन्मा और अद्वितीय आत्म-तत्त्व का बोध हो जायगा। श्रुतियों ने सृष्टि का विस्तार परमार्थ बुद्धि से नहीं किया। उनका उद्देश्य वस्तुओं के भेद को सत्य सिद्ध करना नहीं है, वरन सत् में बुद्धि को अवतरित करना है।[35]

शंकर भी इसी मत का समर्थन करते हैं, किन्तु वे समझते हैं कि अधिक लोगों में जगत् के प्रति सत्यत्व बुद्धि ही है और उन्हें सृष्टि-रचना का विस्तार बताये विना उसके कारणभूत सत् में रुचि नहीं होगी। उन्होंने उपनिषदों पर भाष्य लिखते हुए और अपने स्वतंत्र ग्रंन्थों में सृष्टि-रचना का विस्तृत विवरण दिया है किन्तु उसका उद्देश्य एक व्यवस्थित सृष्टि विज्ञान का निरूपण करना नहीं है, वरन् ब्रह्मात्मैक्यभाव सिद्ध करना है।

जगत्-रचना के सम्बन्ध में शंकर का मत जानने के लिए ब्रह्मसूत्र के ईशति-अधिकरण पर उनका भाष्य और "पंचीकरण" नाम का उनका प्रकरण ग्रन्थ देखना चाहिए। किन्तु "पंचीकरण" की रचना शंकर ने ही की है— इस बात पर सभी विद्वान् एक मत नहीं हैं। यदि हम उसे शंकर का प्रामाणिक ग्रन्थ न मान कर छोड़ भी दें तो भी उनकी अन्य रचनायें पंचीकरण में व्यक्त मत का ही समर्थन करती है। शंकर की प्रतिज्ञा इस प्रकार है:

जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य.....
जन्मस्थितिभङ्ग यतः सर्वज्ञात्
सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद्ब्रह्मेति।[36]

अर्थात् जो नामरूप से अभिव्यक्त हुआ है उस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कारण से होती हैं, वह ब्रह्म है।

इसी ब्रह्म को शंकर सृष्टि की अपेक्षा से "ईश्वर" नाम देते हैं और लिखते हैं:

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यथोक्त विशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः
प्रधानादचेतनात्, अणुभ्योऽभावात्
संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं
शक्यम्।[37]

अर्थात् यथोक्त विशेषण विशिष्ट ईश्वर को छोड़कर अन्य से— अचेतन प्रधान, परमाणुओं, शून्य अथवा संसारी से उत्पत्ति आदि की सम्भावना नहीं की जा सकती।

ईश्वर जगत् का निमित्त कारण ही नहीं, उसका उपादान कारण भी है। इस तथ्य का निर्णय करने के लिए शंकर उपक्रम के रूप में प्रश्न करते हैं कि ब्रह्म घट, आभूषण, आदि के प्रति मिट्टी और स्वर्ण आदि के समान उपादान कारण है या कुम्हार, स्वर्णकार आदि के समान निमित्त कारण[38]? और इसके उत्तर में उसे निमित्त और उपादान दोनों कारण सिद्ध करते हैं। अचेतन प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिए चेतन ईश्वर से सृष्टि मानना अनिवार्य है। इस में श्रुति और युक्ति प्रमाण दोनों हैं। श्रुति में ईक्षणपूर्वक जगत् की उत्पत्ति कही गयी है और लोक में भी कारकपूर्वक क्रिया के फल की सिद्धि देखी जाती है। किन्तु ईश्वर केवल निमित्त कारण नहीं है। वह उपादान कारण भी है। इसके समर्थन में शंकर श्रुति में प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का अनुरोध मानते हैं।

श्रुति में प्रतिज्ञा है "उत तमोदेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्"[39] अर्थात् क्या तुमने गुरु से वह आदेश पूछा है जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है। इसमें ऐसा प्रतीत होता है कि एक के विज्ञात होने से अन्य सब अविज्ञात भी ज्ञात हो जाते हैं। वह सर्वविज्ञात उपादानकारण के विज्ञात होने पर संभव है क्योंकि कार्य उपादान कारण से अभिन्न होता है। किन्तु निमित्तकारण वस्तुओं से भिन्न देखे जाते हैं। दृष्टान्त भी मृत्पिण्ड का है। एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से सब मृत्तिका के विकारों का ज्ञान हो जाता है। इस दृष्टान्त में जैसे मिट्टी उपादान कारण है और घट उसका कार्य है, वैसे ही ईश्वर उपादान कारण है और जगत् उसका कार्य है।

किन्तु यदि तर्क यह किया जाय कि मिट्टी तो केवल उपादान कारण है इसी प्रकार ईश्वर को भी उपादान कारण मानना चाहिए, तो इसके उत्तर में शंकर का कथन है कि ईश्वर को निमित्त कारण तो अन्य अधिष्ठाता के न होने के कारण समझना चाहिए जैसे मृत्तिका आदि के अधिष्ठाता कुम्भकार आदि होते हैं वैसे उपादान कारण सत् को अन्य अधिष्ठाता की अपेक्षा नहीं है क्योंकि जगत् की उत्पत्ति के पूर्व चतुर्विध भेद रहित केवल एक अद्वितीय था। उपादान से पृथक् किसी निमित्त कारण को स्वीकार करने पर एक विज्ञान से सर्व विज्ञा सम्भव न होगा। अतः अन्य अधिष्ठाता न होने से ईश्वर निमित्त है और अन्य उपादान न होने से वही उपादान है।

श्रुति के अनुसार सत् में ईक्षण होने से तेज, जल और अन्य की उत्पत्ति हुई और इन तीनों की त्रिवृतीकरण से समस्त जगत् का विस्तार हुआ।[40] अन्य उपनिषदों में ब्रह्म से पंचभूतों की उत्पत्ति बताई गई है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।.....तस्माद्वा
एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः।
अद्भ्यः पृथिवी।[41]

अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। उस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई।

इन पंचभूतों से औषधियाँ, अन्न और पुरुषों की उत्पत्ति होती है। पंचभूतों से ओषधि आदि की उत्पत्ति कैसे होती है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकर पञ्चीकरण की कल्पना करते हैं:

यथा तु त्रिवृत्कृते त्रीर्ण रूपाणीत्येव सत्यम्, तथा
पञ्चीकरणेऽपि समानो न्यायः।[42]

अर्थात् जिस प्रकार त्रिवृत्करण में तीन रूप ही सत्य हैं उसी प्रकार पञ्चीकरण में भी समान नियम समझना चाहिए। हमें इन्द्रियगोचर हो कर जो पञ्चभूत उपलब्ध हैं वे पञ्चीकृत हैं। पञ्चीकृत होने से वे स्थूल हो गये हैं। अतः इनके द्वारा निर्मित शरीर भी स्थूल है:

पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्वकर्मणा समुत्पन्नमिदं
स्थूलं भोगायतनमात्मनः॥[43]

अर्थात् पञ्चीकरण स्थूल भूतों से पूर्वकर्मानुसार उत्पन्न हुआ यह शरीर आत्मा का स्थूल भोगायतन है।

अन्तःकरण, प्राण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और तन्मात्रायें अपञ्चीकृत पञ्चभूतों से निर्मित हैं। उनका एक-दूसरे से विचित्रता का कारण तीन गुण हैं। अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति सत्त्वगुण प्रधान अपञ्चीकृत पञ्चभूतों के मिश्रण से हुई। अन्तःकरण में पञ्चभूत एक साथ हैं, किन्तु इन्द्रियों में एक-एक की प्रधानता है। प्राण में रजस् प्रधान अपञ्चीकृत पञ्चभूत उपादान रूप में एक साथ हैं और कर्मेन्द्रियों में वे एक-एक कर विद्यमान हैं। आत्मबोध में उनका उल्लेख इस प्रकार है:

पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसंचितम्।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्येत॥[44]

अर्थात् पूर्वकर्मों द्वारा निश्चित प्रत्येक व्यक्ति के इस स्थूल शरीर का जन्म पञ्चीकृत महाभूतों में से हुआ है जो सुख-दुख रूपी भोगों के अनुभवों का स्थान अथवा भोगायतन कहलाता है।

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्।
अपञ्चीकृत भूतोत्थं सूक्ष्मांगं भोगसाधनम्॥[45]

अर्थात् अपञ्चीकृत सूक्ष्म भूतों से उत्पन्न पञ्चप्राण, इस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि से मिल कर बना यह सूक्ष्म शरीर भोग का साधन है।

अपञ्चीकृत पंचभूत तन्मात्रा कहलाते हैं— शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच तन्मात्राएँ हैं। इनका पञ्चीकरण होने के लिए पहले इन सब में विभाजन होता है। प्रत्येक तन्मात्रा दो बराबर भागों में विभाजित हो जाती है।[46] अब प्रत्येक तन्मात्रा का आधा भाग अविकल्प रहता है। शेष आधा भाग चार बराबर अंशों में बँट जाता है। इस प्रकार यह अंश सम्पूर्ण तन्मात्रा का आठवाँ भाग होता है। इस तरह इस अवस्था में प्रत्येक तन्मात्रा अपने आप को पाँच भागों में बाँट लेती है, एक आधा भाग और चार एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बटे आठ अंश। अब प्रत्येक आधा भाग ज्यों का त्यों रहते हुए शेष तन्मात्राओं के आठवें अंश को अपने में मिला लेता है। इनके मिलने से जो समुच्चय बनता है उसमें स्थूलता आ जाती है। शब्द तन्मात्रा की अधिकता के कारण उससे आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश में शब्द के साथ-साथ आठवें अंश के रूप में स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की भी तन्मात्रा रहती है। इसी प्रकार वायु में स्पर्श की तन्मात्रा आधी और शब्द, रूप, रस तथा गन्ध की तन्मात्राओं का अंश आठवाँ रहता है। यही नियम अग्नि, जल और पृथ्वी में भी है।

तात्पर्य यह है कि सृष्टि के तीन स्तर हैं— (1) तीनों गुणों की मिश्रित अवस्था, जिनसे जीव की वासना बनती है (कारण शरीर), (2) तीन गुणों से उत्पन्न पाँच तन्मात्राएँ या अपञ्चीकृत पञ्चभूत, जिनसे प्राण, अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बनती हैं (सूक्ष्म शरीर), और (3) पञ्चीकृत पञ्चभूत, जिनमें वनस्पति, कीट, पतंग, पक्षी, पशु, मनुष्यों आदि के शरीर निर्मित होते हैं (स्थूल शरीर)। अनन्त और असीम परमात्मा चैतन्य का इन शरीरों के संघात में आकाश के समान व्याप्त होना स्वाभाविक है। ऐसा होने पर जो बुद्धि-वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं उनमें ज्ञाता-ज्ञेय भेद अनुभव होता है और नानात्व की प्रतीति होती है। इस बुद्धि के लिए परमात्मा परिच्छिन्न है:—

परिच्छिन्न इवाज्ञानात्रनाशे सति केवलः।
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेंऽशुमानिव॥[47]

अर्थात् अज्ञान के कारण ही आत्मा परिच्छिन्न प्रतीत होता है। जब अज्ञान का नाश होता है तो आत्मा जिसमें नानात्व नहीं है, बादलों के हट जाने पर सूर्य की भाँति स्वयं ही प्रकाशित हो उठता है।

परिणामवाद एवं असत्कार्यवाद का खण्डन

ईश्वर को ही विश्व का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण मानने पर प्रश्न उठता है कि कारणरूप ईश्वर से कार्यरूप विश्व की किस प्रकार उत्पत्ति होती है। कारण से कार्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मुख्यतः दो मत प्रचलित हैं— असत्कार्यवाद एवं सत्कार्यवाद। असत्कार्यवाद मानता है कि कार्य उत्पत्ति के पहले अपने कारण में विद्यमान नहीं रहता। कार्य एक नवीन उत्पत्ति है। इस सिद्धान्त को आरम्भवाद भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न होने के पूर्व कार्य का कारण में प्रागभाव है। उदाहरणार्थ, उत्पन्न होने के पहले घड़ा मिट्टी में विद्यमान नहीं है। इसके विपरीत सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य उत्पन्न होने के पहले अपने कारण में विद्यमान है। कारण-व्यापार के पूर्व कार्य अपने कारण में अव्यक्तरूप से रहता है। इसलिए सत्कार्यवादी मानते हैं कि कारण से कार्य के उत्पन्न होने का तात्पर्य अव्यक्त का व्यक्त होना है। नैयायिक असत्कार्यवादी हैं जबकि सांख्य एवं वेदान्ती सत्कार्यवाद में विश्वास करते हैं।

सत्कार्यवादी होने के कारण शंकर असत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि यह सिद्धान्त श्रुति-विरुद्ध है। श्रुतियों में असत् से सत् की उत्पत्ति को असम्भव माना गया है।[48] भगवद्गीता के चौथे अध्याय के अठारहवें श्लोक पर भाष्य करते हुए शंकर ने असत्कार्यवाद को सब प्रमाणों के विरुद्ध माना है।[49] इसके अतिरिक्त असत्कार्यवाद के खण्डन के लिए शंकर ने कुछ युक्तियाँ भी दी हैं।

शंकर का कहना है कि कार्य तभी उत्पन्न होता है जब उसका कारण उपस्थित होता है। कारण की अनुपस्थिति में कार्य उत्पन्न नहीं होता है। मिट्टी का घड़ा मिट्टी के उपस्थित होने पर ही उत्पन्न होता है, उसकी अनुपस्थिति में नहीं। इससे सिद्ध होता है कि कार्य अपने कारण में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है।[50] जो वस्तु जिसमें नहीं रहतीं, वह उससे उत्पन्न नहीं होती। तेल बालू में नहीं है। अतः वह उससे उत्पन्न नहीं होता। किसी विशेष कार्य को उत्पन्न करने के लिए विशेष उपादान की आवश्यकता होती है। दही उत्पन्न करने के लिए दूध आवश्यक है, मिट्टी का घड़ा बनाने के लिए मिट्टी एवं सोने के आभूषणों की उत्पत्ति के लिए सोना आवश्यक है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये कार्य इन कारणों में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो मिट्टी से दही और दूध से घड़ा उत्पन्न हो जाता है।[51]

असत्कार्यवादी कहते हैं कि यदि कार्य अपने कारण में उत्पत्ति के पहले विद्यमान है तो उसको उत्पन्न करने के लिए निमित्त कारण एवं अन्य सामग्री की आवश्यकता क्यों होती है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकर का कहना है कि निमित्त कारण अपने प्रयत्नों से असत् या सत् उत्पन्न नहीं करता वरन् वह कारण-द्रव्य से कार्य को बाहर लाने में सहायक होता है।[52] कार्य कारण अर्थात् द्रव्य का एक पक्ष ही है, उससे भिन्न नहीं।

शंकर के अनुसार सभी क्रियायें किसी न किसी द्रव्य में ही रहती हैं। चलने की क्रिया बिना किसी चलने वाले के लिए नहीं हो सकती। इसी प्रकार उत्पत्ति भी एक क्रिया है। अतः उस को भी किसी न किसी द्रव्य में रहना चाहिए। अतः यदि कार्यरूप मिट्टी का घड़ा कारणरूप मिट्टी की उत्पत्ति के पहले विद्यमान नहीं रहता है। तो इस का तात्पर्य यह हुआ कि उस की उत्पत्ति के पहले विद्यमान नहीं रहता। तो इस का तात्पर्य यह हुआ कि उस की उत्पत्ति कि क्रिया बिना किसी आधार के होती है, उत्पत्ति की क्रिया घड़े में नहीं रह सकती क्योंकि असत्कार्यवाद के अनुसार घड़ा उत्पत्ति के पहले हैं ही नहीं। यह क्रिया कारण-रूप मिट्टी में भी नहीं रह सकती क्योंकि मिट्टी उतपन्न नहीं होती। यह क्रिया कुम्हार एवं अन्य सामग्री में भी नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा मानने से इन कारणों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जबकि यह सामान्य अनुभव का विषय है कि कुम्हार एवं अन्य सामग्री घड़े की उत्पत्ति के पहले ही विद्यमान रहते हैं।[53] कुम्हार घड़े के साथ उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार शंकर असत्कार्यवाद का निषेध करके सत्कार्यवाद को स्वीकार करते हैं।

सत्कार्यवाद के दो रूप हैं— परिणामवाद एवं विवर्तवाद। परिणामवाद के अनुसार कारण कार्य में परिवर्तित हो जाता है। कारण ही कार्य बन जाता है। दही दूध का परिणाम है। दूध स्वयं दही के रूप में परिवर्तित हो जाता है। स्वर्ण स्वयं आभूषणों में परिवर्तित होता है। विवर्तवाद के अनुसार कारण कार्य में परिवर्तित नहीं होता वरन् कारण कार्यरूप में प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कारण सत् है जबकि कार्य काल्पनिक है। रज्जु में सर्प विवर्त है, क्योंकि रज्जु सर्प में परिवर्तित नहीं होती वरन् रज्जु में सर्प प्रतीत होता है।

अद्वैत-वेदान्त का कार्यकारण परिणामवाद से भिन्न है। परिणामवादी कार्यद्रव्य को कारण से भिन्न और अभिन्न दोनों मानते हैं। घड़ा मिट्टी का कार्य है। इसलिए वह मिट्टी से अभिन्न है क्योंकि कार्य कारण में विद्यमान रहता है। अपने व्यापार इत्यादि के कारण कार्य कारण से भिन्न भी है। एक कारण के दो कार्य भी भिन्न होते हैं। घड़े एवं प्याले का कारण मिट्टी ही है। फिर भी प्याला घड़े से भिन्न है। यदि मिट्टी ही दोनों में परिवर्तित होती है तो इन दोनों में भेद क्यों है? यदि इन दोनों में भेद है तो इन की कारणरूप मिट्टी में भी भेद होना चाहिए। इस प्रकार परिणामवाद् युक्ति-युक्ति प्रतीत नहीं होता।

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही अविनाशी निर्विकार एवं सत् है। यह समस्त विश्व मिथ्या हैं, ब्रह्म ही इन सबका कारण है किन्तु ब्रह्म विश्व में परिणत नहीं होता वरन् यह विश्व उस पर अध्यारोपित है। विश्व ब्रह्म का अतात्त्विक परिवर्तन है, तात्त्विक परिवर्तन नहीं। किसी द्रव्य के तात्त्विक परिवर्तन को परिणाम एवं अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहा जाता है।[54]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शंकर सत्कार्यवाद को विवर्तवाद के रूप में ही स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि कार्य कारण से भिन्न नहीं रह सकता। सोने के आभूषण सोने से भिन्न नहीं रहता, इसी प्रकार यह विश्व भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यह ब्रह्म में ही है। किन्तु ब्रह्म विश्व में परिवर्तित नहीं होता। ब्रह्म में विश्व प्रतीत होता है। ब्रह्म शुद्ध, चेतन, अविकारी हैं जबकि विश्व के लक्षण उसके विपरीत हैं। अतः विश्व ब्रह्म पर अध्यारोपित है।[55]

जगत् की अनिर्वचनीयता

इस विवेचन के उपरान्त अब हम अद्वैत-वेदान्त के अनुसार जगत् का स्वरूप समझने की स्थिति में आ सकते हैं। यह जगत् सत् या असत्? यह निश्चय करने [illegible] शंकर तीन प्रकार की सत्तायें स्वीकार करते हैं। ये तीनों असत् से पृथक् हैं। वे इस जगत् का कारण न असत् मानते हैं और न कार्यरूप इस जगत् को ही। उनके अनुसार असत् से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता है।— "यद्यभावादेव घट उत्पद्येत घटार्थिता मृत्पिण्डो नोपादीयेत"[56]— अर्थात् यदि अभाव से घट की उत्पत्ति होती तो घट बनाने की इच्छा वाले को मृत्तिका पिण्ड लेने की आवश्यकता न होती। असत् वस्तु का जन्म माया से अथवा वस्तुतः किसी प्रकार होना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा देखा ही नहीं जाता।[57] बिना किसी आश्रय के रज्जु-सर्प अथवा मृग-तृष्णा आदि भी नहीं देखे जाते।[58] कोई भी निरात्मक (असत् द्वारा) व्यवहार की कल्पना नहीं की जा सकती।[59] अतः शंकर के अनुसार जगत् की उत्पत्ति असत् से हुई है और न यह जगत् ही बन्ध्यापुत्र या आकशकुसुम के समान असत् या अलीक है।

असत् के विपरीत सत् हो सकता है। उसे तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है— प्रतिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक। प्रातिभासिक सत्ता असत् होती है किन्तु वह निरात्मक नहीं होती। रज्जु-सर्प का आधार रज्जु, शुक्ति-रजत का आधार शुक्ति और मृगवारि का आधार बालू होती है। सर्प असत् है किन्तु रज्जु जो सर्प के समान भासित होती है, असत् नहीं है। इस के अतिरिक्त, भ्रान्त वस्तुओं की चेतना और भ्रामक या प्रातिभासित वस्तु समान स्तर के नहीं होते हैं, क्योंकि रस्सी देख पाने पर मिथ्या सर्प का बोध हो जाता है, किन्तु सर्प-ज्ञान का बाध नहीं होता। शंकर के शब्दो में— "यद्यपि स्वप्नावस्था में स्थित पुरुष को सर्प का डसना, जल स्नान आदि कार्य असत्य हैं, तो भी उनका ज्ञानस्वरूप फल सत्य ही है, क्योंकि जाग्रत् पुरुष का भी वह ज्ञान बाधित नहीं होता है। स्वप्न से उठा हुआ पुरुष स्वप्नदृष्ट सर्पदंश, उदकस्नानादि कार्य मिथ्या हैं— ऐसा मानता हुआ भी उस ज्ञान को मिथ्या नहीं मानता।"[60]

इस प्रकार प्रातिभासिक ज्ञान का विषय मिथ्या होता है, किन्तु उसका ज्ञान और आधार मिथ्या नहीं होते हैं। जाग्रत् अवस्था की वस्तुयें इस प्रकार की नहीं हैं। "स्वप्न की वस्तुओं या प्रातिभासिक वस्तुओं के समान उनका बाध नहीं होता है। इस से दोनों प्रकार की वस्तुओं का वैधर्म्य सिद्ध है।"[61] अतः सहसा यह न मान बैठना चाहिए कि शंकर जगत् की वस्तुओं को स्वप्न के समान असत् मानते हैं। वे स्वयं सावधान करते हुए कहते हैं, "द्वैतभेद से सत् ही अन्यथारूप से गृहीत होने के कारण कभी किसी पदार्थ की असत्ता नहीं हैं। जिस प्रकार तार्किक लोग सत् से भिन्न किसी अन्य पदार्थ की कल्पना कर फिर उत्पत्ति से पूर्व और नाश के पश्चात् उस की असत्ता बताते हैं उसी प्रकार हमारे द्वारा कभी कहीं भी सत् से भिन्न किसी नाम अथवा नाम की विषयभूत वस्तु की कल्पना नहीं की जाती। सारे नाम और अन्य बुद्धि से कहे जाते हैं। वे सारे पदार्थ सत् ही हैं।"[62] इसमें सन्देह नहीं कि भ्रान्ति या स्वप्न और जाग्रत् व्यवहार के विषयों में कुछ समानता अवश्य है, जैसे वे ज्ञान के विषय हैं, परिवर्तनशील, विनाशी, ससीम आदि हैं और असत् से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भिन्न लक्षण वाले हैं; किन्तु दोनों में अन्तर भी स्पष्ट है। भ्रान्ति की वस्तुयें केवल हमारे मन की उपज हैं। अतः उनका ज्ञान हमारा भी स्पष्ट है। भ्रान्ति की वस्तुयें सब के ज्ञान के विषय हैं। इसी भेद के कारण एक को "प्रातिभासिक सत्ता" और दूसरे को "व्यावहारिक सत्ता" कहते हैं। "मृगतृष्णिकाद्यमृतापेक्षयोदकादि सत्यमुच्यते"[63] अर्थात् मृगतृष्णा आदि अनृत की अपेक्षा से जल आदि को सत्य कहा जाता है।

शंकर जब इस जगत् की तुलना ब्रह्म से करते हैं तो ब्रह्म की तुलना में जगत् मिथ्या सिद्ध होता है, क्योंकि ब्रह्म निरपेक्ष सत् है, निर्विकार, शाश्वत, कूटस्थ और अनन्त है। इसलिए शंकर ब्रह्म को पारमार्थिक सत् कहते हैं। "एकमेव ही परमार्थसत्यं ब्रह्म"[64] अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत्य है। "परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे"[65] अर्थात् परमार्थ अवस्था में सभी वेदान्त समस्त व्यवहार का अभाव कहते हैं। "न परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादरः"[66]— परमार्थचिन्तन करने वालों का सृष्टि के विषय में आदर नहीं है।

इस प्रकार जगत् न आकाशकुसुम के समान अनृत, न स्वप्न के समान किसी व्यक्ति विशेष की वैयक्तिक रचना और भ्रान्ति है, किन्तु वह नित्य सत् भी नहीं हैं, यह सत् और असत् से पृथक् किसी विशेष प्रकार का है। इस की परिवर्तनीय, विनाशी और तर्क से व्याघातपूर्ण स्थिति इसे "सत्" की कोटि में नहीं रहने देती है और इस की व्यावहारिक उपलब्धि और सभी जनों के ज्ञान का विषय होने के कारण इसे "असत्" या भ्रान्ति-मात्र भी नहीं माना जा सकता है। सत् और असत् दोनों विरोधी पद होने के कारण इसे "सदसत्" कहना भी उचित नहीं है। इसलिए शंकर इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। "तत्त्वान्यत्वाभ्यामयनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकार्षिते"[67] अर्थात् सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है और अव्याकृत होकर नामरूप के द्वारा व्याकृत है।

संदर्भ-सूची

1. छान्दोग्य उपनिषद्.
2. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 4.4.10, पृष्ठ 197.
3. वही, 4.4.11, पृष्ठ 198.
4. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 6.11.
5. ऐतरेय उपनिषद्, 1.3.
6. बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.4.7.
7. तैत्तिरीय उपनिषद्, 2.6.1.
8. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 3.3.18.
9. वही, 3.3.20.
10. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 4.4.6.
11. कठ उपनिषद्, 2.1.11.
12. गौडपाद, अद्वैत प्रकरण, 24.
13. वही, 29.
14. वही, 48.
15. गौडपाद, अलातशान्तप्रकरण, 10.
16. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, 1.3.22.
17. ऐतरेय उपनिषद्, 1 से 12, पृष्ठ 58.
18. शंकर, विवेक चूडामणि, श्लोक 87 से 123.
19. वही, 110.
20. शंकर, विवेक चूडामणि, श्लोक 113.
21. वही, 115.
22. वही, 119.
23. छान्दोग्य उपनिषद्, शां. भा., 7.24.1, पृ. 788.
24. श्रीमद्भगवद्गीता, शां. भा., 13.20, पृ. 334.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

25. भगवद्गीता, शां. भा., 13.21; पृ. 334.
26. वही, 13.21 पृ. 335.
27. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., 2.2.50, पृ. 532.
28. विवेक चूडामणि, श्लोक 314.
29. वही, श्लोक 315.
30. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.2.1.
31. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 6.19.
32. मुण्डक उपनिषद्, 2.1.2.
33. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.2.3 से 6.3.3 तक.
34. गौडपाद, अलातशान्तप्रकरण, 42.
35. वही, अद्वैतप्रकरण, 15.
36. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., 1.1.2., पृ. 35,36.
37. वही, पृ. 37.
38. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., 1.4.23, पृ. 328.
39. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.1.2.
40. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.4.4.
41. तैत्तिरीय उपनिषद्, 2.1., पृ. 97.
42. छान्दोग्य उपनिषद, शां. भा., 6.4.4, पृ. 619.
43. विवेक चूडामणि, 90.
44. आत्मबोध, 12.
45. वही, 13.
46. वेदान्तपरिभाषा, विषय परिच्छेदः, पृ. 314.
47. आत्मबोध, 4.
48. शांकरभाष्य, गीता, III, भूमिका.
49. शांकरभाष्य, गीता, I, 18 (सर्वप्रमाणविरोद्यात्).
50. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., II, I, 15.
51. ब्रह्मसूत्र, शां, भा., 2.1.18.
52. वही.
53. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., 2.1.18.
54. वेदान्तसार, पृ., 85.
55. विवेक चूडामणि, 233.
56. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.2.2, पृ. 591.
57. माण्डूक्य कारिका, शां. भा., 3.28, पृ. 165.
58. वही, 1.6, पृ. 46.
59. भगवद्गीता, 9.4, पृ. 229.
60. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., 2.1.14, पृ. 366.
61. वही, 2.2.29, पृ. 452.
62. बृहदारण्यक उपनिषद, शां. भा., 6.2.3., पृ. 597.
63. तैत्तिरीय उपनिषद्, शां. भा. 2.6, पृ. 171.
64. वही, पृ. 171.
65. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., 2.1.14, पृ. 370.
66. गौडपाद कारिका, शां. भा., 1.7, पृ. 47.
67. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., 1.1.5.

■

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय-11

माया

(क) शंकर-पूर्व दर्शनों में माया का स्वरूप

अद्वैत-वेदान्त में माया ही एक ऐसी शक्ति मानी गयी है जो जगत् की वस्तुओं और जीवों के नानात्व की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी हो सकती है। ऋग्वेद में इसका प्रयोग इन्द्रजाल या छद्म के अर्थ में किया गया और उपनिषदों में वही जगत् की रचना करने वाली ईश्वरी शक्ति बन गयी। शंकर के अद्वैत-वेदान्त में समस्त जगत् ही मायामय हो गया।

ऋग्वेद संसार का सब से प्राचीन ग्रन्थ है। उस में "माया" शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। उस का सब से प्रसिद्ध वाक्य है— "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"[1] अर्थात् इन्द्र मायाशक्ति से अनेक रूप धारण कर लेता है। यहाँ माया के साथ शुभ और अशुभ दोनों भाव जुड़े हैं। राक्षस की माया छल करने वाली और धोखा देने वाली है किन्तु मित्र और वरुण माया के द्वारा ही वर्षा करते हैं, अतः वह कल्याणकारी भी है।[2] माया के कारण ही सूर्य और चन्द्र अस्त और उदय होते हैं किन्तु दोनों ही भावों में माया शब्द का प्रयोग किसी रहस्मय शक्ति का सूचक है।

अथर्ववेद में हम देखते हैं कि माया में उत्पन्न होने का लक्षण है।[3] वहाँ शब्द का प्रयोग करने वाला ऋषि माया को एक रहस्यमयी शक्ति तो मानता ही है साथ ही उस से उत्पन्न होने वाली रचना (कार्य) को भी माया ही स्वीकार करता है। माया कारण और कार्य दोनों है।

उपनिषदों में ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति बताई गई है और वहाँ माया शब्द का प्रयोग उसी सृष्टि के हेतु किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् यद्यपि यजर्वेद का एक अंश है फिर भी उस का ऋषि ऋग्वेद के प्राचीन मंत्र "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" को नये प्रसंग और नये अर्थ में प्रयोग करता है।

रूपं रुपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादशेति[4]

अर्थात् वह रूप-रूप के प्रतिरूप हो गया। इस का वह रूप प्रतिख्यापन (प्रकट) करने के लिए है। ईश्वर माया से अनेक रूप प्रतीत होती है। शरीर रथ में जोड़े हुए इस के इन्द्रियरूप घोड़े शत और दश हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि कहते हैं:

छन्दासि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत-
त्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥[5]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् वेद, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्य और वर्तमान तथा और भी जो कुछ वेद बतलाते हैं, वह सब मायावी ईश्वर इस अक्षर से ही उत्पन्न करता है और उस प्रपञ्च में ही माया से अन्य-सा होकर बँधा हुआ है।

इससे स्पष्ट है कि समस्त देश-काल और कार्य-कारण सहित जगत् उस परमेश्वर से रचित है जो माया शक्ति का धारण, कर्त्ता है; और माया के कारण ही जीव ब्रह्म से अन्य-सा होकर इस मायामय जगत् में बँधा है। अगले मंत्र में ऋषि अधिक स्पष्ट करते हुए स्वयं कहते हैं—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥[6]

अर्थात् प्रकृति को तो माया जानना चाहिए और महेश्वर को मायावी। उसी के अवयवभूत से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। यहाँ इस बात का भी संकेत मिलता है कि माया अवयवभूत है। यह लक्षण उसके स्वामी महेश्वर में नहीं है। संभव है ऋषि का संकेत माया के अवयवभूत सत्त्व, रज और तम तीनों गुण ही हों।

प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद ऋषि कहते हैं—

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको

न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति।[7]

अर्थात् जिन में न कुटिलता है, न माया है उन्हीं को वह निर्विकार ब्रह्मलोक मिलता है। यहाँ माया से तात्पर्य जगत् या जगत्-कर्तृ शक्ति नहीं है। यह माया या तो मनुष्य का छल-प्रपञ्च-कपट जैसा कोई मानसिक दोष है या अविद्या है। पहला अर्थ मानना इसलिए उचित नहीं कि उसके वाचक शब्द "जिह्मम्" और "अनृतम्" का प्रयोग स्वयं ऋषि करते हैं। अतः यहाँ माया का तात्पर्य अविद्या ही होना चाहिए जिस से मुक्त होने पर मनुष्य ज्ञान स्वरूप परम सत् को जान लेता है।

सूत्रकार ने माया की अवधारणा पर विचार नहीं किया है। समस्त सूत्रों में केवल एक बार माया शब्द का प्रयोग किया गया है, वह भी ब्रह्म की शक्ति अथवा सृष्टि के कारण रूप में नहीं, वरन् स्वप्न को मिथ्या कहने के लिए। "मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्"[8] अर्थात् स्वप्न सृष्टि मायामात्र है, क्योंकि देशकाल आदि समस्त धर्मों से अभिव्यक्त स्वरूप नहीं है। हम अधिक से अधिक इसका अर्थ यह मान सकते हैं कि स्वप्न मायामात्र है तो उपनिषदों में जो मायिक सृष्टि बताई गयी है वह स्वप्न के समान है।

भगवद्गीता में भी कई बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं यद्यपि अजन्मा हूँ और समस्त भूतों का स्वामी हूँ किन्तु प्रकृति को अपने वश में कर अपनी माया से प्रकट होता हूँ।[9] इस का तात्पर्य है कि अधिष्ठान मे जब उस के विपरीत लक्षण दिखाई देते हैं तो वह माया के कारण है। अजन्मा का जन्म माया से होता है। इस का परिचय कराते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं, "मेरी माया गुणमयी है और उसे पार करना कठिन है; जो मेरी शरण में आते हैं वही उसके पार जा पाते हैं।"[10] इस कथन का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि माया में मोहिनीशक्ति है। उस के कारण ऐसी भ्रांति या अविद्या उत्पन्न होती है कि उस में पड़ा प्राणी अपने प्रयास मात्र से मुक्त नहीं हो सकता। "गुणमयी" का तात्पर्य सत्त्व, रज और तम गुणों से युक्त ही है और इन गुणों का वर्णन गीता में बड़े विस्तार से किया गया है।[11] इन गुणों से अन्तर और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वाह्य सृष्टि की रचना हुई है। यहाँ माया शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है— (1) जगत् की रचना करने वाली त्रिगुणात्मक प्रकृति और (2) जीव को बंधन में डालने वाली मोहिनी शक्ति। अन्यत्र श्रीकृष्ण स्वयं स्पष्ट करते हैं कि माया ज्ञान को अपहृत कर लेती है।[12] यह भी कहा गया है कि "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं" अज्ञान से ज्ञान आवृत है। दोनों की एकवाक्यता करने पर माया को अज्ञान ही मानना पड़ता है।

गौडपाद माया के द्वारा ही जगत् की रचना और जीव का बंधन मानकर इस शब्द का प्रयोग करते हैं। वे अपनी माण्डूक्य कारिकाओं में माया को स्वप्न और गंधर्वनगर के तुल्य मानते हैं:

स्वप्नमायं यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥[13]

अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न और माया देखे गये हैं तथा जैसा गन्धर्वनगर जाना गया है उसी प्रकार विचक्षण पुरुषों ने वेदान्तों में इस जगत् को देखा है।

इस से स्पष्ट है कि गौडपाद माया को एक ऐसी शक्ति मानते हैं जो प्रतीत तो सत् होती है किन्तु तत्त्वतः उस का अस्तित्व नहीं हैं। यह जगत् भी ऐसा ही है। उन के विचार से यह माया आत्मा की ही एक शक्ति है जो अभेद में भेद की प्रतीति उत्पन्न करती है। वे कहते हैं—

कल्पयत्यात्मनात्मानम् आत्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः॥[14]

अर्थात् स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी माया से स्वयं ही कल्पना करता है और वही सब भेदों को जानता है— यही वेदान्त का निश्चय है।

इस प्रकार आत्मा माया से नानात्व की कल्पना ही नहीं करता वरन् अपने स्वरूप को भूलकर जीवभाव धारण कर लेता है। वे कहते हैं— "जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है, उसी समय उसे अज, अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध होता है।[15] इस का तात्पर्य है कि माया अनादि है और वह जीव को सुप्तावस्था में डाले रहती है।

गौडपाद के अनुसार, संक्षेप में, माया आत्मा या ब्रह्म की शक्ति है जो द्वैत का आभास उत्पन्न करती है। उस से एक ओर जगत् का विस्तार होता है और दूसरी ओर जीव उसी के कारण जगत् को सत् समझकर परम सत् को भूल जाता है या उसी से पृथक् सा हो जाता है।

(ख) शंकर की माया सम्बन्धी अवधारणा

शंकर की माया विषयक अपनी अवधारणा निर्मित करने में उपनिषद्, गीता और गौडपादकारिका की पृष्ठभूमि उपलब्ध थी। वे अपने पूर्ववर्ती इन वेदान्त ग्रन्थों से अवश्य प्रभावित हैं। उन्होंने माया शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है उसे स्वयं स्पष्ट कर दिया है:

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति-
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयत्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो।
महाद्भुतानिर्वचनीय रूपा॥[16]

अर्थात् जो अव्यक्त नामवाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वर की परा शक्ति है, वही माया है, जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। बुद्धिमान् जन इसके कार्य से ही इसका अनुमान करते हैं। वह न सत् है, न असत् और न सदसत् उभयरूप है; न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभयरूप है; न अङ्गसहित है, न अङ्गरहित है और न साङ्गानङ्ग उभयात्मिका ही है, किन्तु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीयरूपा प्रसिद्ध है।

मायाभिः प्रज्ञाभिः नामरूपभूतकृत
मिथ्याभिमानैर्वा।[17]

अर्थात् माया से या प्रज्ञा से अथवा नामरूप उपाधि जनित मिथ्या अभिमान से (इन अर्थों, में भी माया का प्रयोग हुआ है)।

इस प्रकार शंकर ने स्वयं माया की विशेषताओ का उल्लेख किया है। अद्वैतवाद में ब्रह्म ही "एकेवाद्वितीय" परम सत् है। इसके अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है, किन्तु जगत् का नानात्व भी अनुभव सिद्ध है। इसकी व्याख्या करने के लिए माया का प्रत्यय प्रस्तुत किया जाता है। सर्वप्रथम, इसे ईश्वर की शक्ति स्वीकार किया गया है। ब्रह्म ही माया का स्वामी होने से ईश्वर की शक्ति स्वीकार किया गया है। ब्रह्म ही माया का स्वामी होने से ईश्वर कहलाता है। अतः माया का प्रत्यय आते ही उसकी उपाधि से ईश्वर भाव भी उत्पन्न होता है। माया शक्ति ईश्वर के अधीन और अपृथक् है। दूसरे यह कहा जा सकता है कि माया का "आश्रय" और "विषय" ब्रह्म ही है किन्तु ब्रह्म माया के प्रभाव से अस्पर्श है जैसे जादूगर अपने जादू के कार्यो से अछूता रहता है अथवा जैसे मृगतृष्णा के जल से ऊपर भूमि भीगती नहीं है। तीसरे माया "अनादि" है। ब्रह्म से उत्पन्न नहीं होती। चौथे, इसे "अव्यक्त" भी कहते हैं क्योंकि प्रलय काल में केवल ब्रह्म विद्यमान् रहता है और माया उसी में अव्यक्त भाव से रहती है। माया का अव्यक्त नाम इस बात का भी सूचक है कि वह व्यक्त होकर जगत् का विस्तार कर सकती है। पाँचवे यह "अघटनघटनापटीयसी" है। ब्रह्म जैसे अखण्ड, एकरस, अनन्त तत्त्व से कुछ भी उत्पन्न होना तर्क से सिद्ध नहीं होता है कि उसकी माया शक्ति इस अघटनीय कार्य को घटित करने में समर्थ है। छठवें माया सांख्य की प्रकृति की भाँति जड है, इसलिए इसे प्रकृति भी कहते हैं। किन्तु सांख्य की प्रकृति की भाँति मायिक प्रकृति न सत् है और न स्वतन्त्र है। सातवें यह अनिर्वचनीय है। इसे सत् असत् उभयात्मक, या ब्रह्म से भिन्न, अभिन्न उभयात्मक यह साङ्ग, अनङ्ग, उभयात्मक नहीं कह सकते हैं। आठवे, व्यवहार में यह सत् प्रतीत होती है और परमार्थ में इसका बाध हो जाता है। नवें, यह ब्रह्म की विवर्त है, जैसे रस्सी पर सर्प की भ्रांति या सीप में चाँदी की प्रतीति। दसवें, यह "भावरूप" है किन्तु सत् नहीं। वह केवल अभाव रूप नहीं है, इसलिए इसे भावरूप माना जाता है। ग्यारहवें यह आवरण और विक्षेप रूप है। माया अपनी आवरण शक्ति से ब्रह्म को आच्छादित-सा कर लती है, वस्तुतः अनन्त सत् आच्छादित हो ही नहीं सकता। अपनी विक्षेप शक्ति से माया लोक-लोकान्तरों का विस्तार करती है। बारहवें, "नामरूपात्मक" होकर माया नानात्व का विस्तार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करती है, इसलिए नाम-रूप भी माया कहलाते हैं। चौदहवें माया "त्रिगुणात्मक" है। सत्त्व, रजस् और तमस् इसके तीन गुण है। पन्द्रहवें, यह माया अनुमान से जानी जाती है। कार्य रूप जगत् देखकर इसके कारणरूप में स्थित माया का अनुमान किया जा सकता है।

माया ही सृष्टि के हेतु बीजशक्ति है। इसके विना निर्गुण, निष्क्रिय परमेश्वर स्रष्टा सिद्ध नहीं हो सकता, क़ारण कि शक्ति रहित परमेश्वर में प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती है। "अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देशया परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः यस्यां स्वरूप प्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणों जीवाः"[18] अर्थात् अविद्यात्मक यह बीजशक्ति अव्यक्त शब्द से निर्दिष्ट है, परमेश्वर के आश्रित मायामयी एवं महासुषुप्ति है, जिसमें स्वरूप ज्ञान से रहित संसारी जीव सोते हैं।

माया का अव्यक्त होने का कारण बताते हुए शंकर लिखते हैं, "अव्यक्ता हि सा माया तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्"[19] अर्थात् वह माया अव्यक्त ही है क्योंकि वह सद् रूप है या उससे पृथक् रूप है यह निरूपण नहीं किया जा सकता है।

सुरेश्वर शंकर के मत का समर्थन और विस्तार करते हुए कहते हैं:

अतोऽविद्यामहानिद्रा संवीत मनसामसौ।

जन्मादिविक्रियाषट्कं स्वप्नदर्शनविभ्रमः॥[20]

अर्थात् अविद्या ऐसी महानिद्रा है, जिसमें सोये हुए जीवों को जन्म आदि छहों विकारों का वैसा ही अनुभव हो रहा है जैसा सोये हुए को स्वप्न का होता है।

"यह अज्ञान ही समस्त द्वैत का उपादान कारण है और उसका आश्रय लेकर ब्रह्म जगत् कारण कहलाता है।"[21] यहाँ सुरेश्वर शंकर से थोड़ा पृथक् होते हुए प्रतीत होते हैं क्योंकि शंकर जहाँ ब्रह्म को ही अभिन्न निमित्तोपादन कारण मानते हैं वहाँ सुरेश्वर अविद्या या माया को उपादान और ब्रह्म को निमित्त कारण बतलाते हैं। इसके अतिरिक्त वे माया की अपेक्षा अविद्या शब्द अधिक प्रयोग करते हैं।

पद्मपाद अज्ञान को मिथ्या कहते हैं और मिथ्या के दो अर्थ करते हैं— "मिथ्याशब्दो द्वयर्थः अपह्नव वचनोऽनिर्वचनीयतावचनश्च"[22] अर्थात अपह्नव वचन— धोखा, भ्रान्ति आदि और अनिर्वचनीय वचन। पहला अर्थ प्राचीन है, दूसरा उन्होंने स्वयं दिया है। यद्यपि माया को शंकर भी अनिर्वचनीय कहते हैं किन्तु पद्मपाद यह भाव मिथ्या शब्द में ही मान लेते हैं।

मण्डन मिश्र अविद्या का आश्रय जीव निर्धारित करते हैं और विषय ब्रह्म। "यत्तु कस्याविद्येति— जीवनामिति ब्रू भूः"[23] अर्थात् यदि पूछो कि अविद्या किसकी है तो हम कहते हैं वह जीवों की है। यदि कहो कि जीव भी ब्रह्मतत्त्व से अपृथक् विशुद्ध स्वभाव के हैं तो कहते हैं कि बिम्ब से प्रतिबिम्ब पृथक् होता ही है और आकाश में भी श्यामता आदि की अशुद्धि देखी जाती है।[24] यदि ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय होता तो जीव ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी अविद्या से निवृत्ति न होता।25 अविद्या तो नैसर्गिक है किन्तु जीव के साथ उसका नैर्सिगक सम्बन्ध नहीं है। जीव के लिए वह आगन्तुक है, अतः दूर हो सकती है। अतः अविद्या का आश्रय न ब्रह्म है और न जीव। अवद्या कल्पना मात्र है, इसलिए उसके कारण उत्पन्न हुआ जीवभाव भी काल्पनिक है यदि वह सुनिश्चित हो तो वह सत् होगी:

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुपपद्यमानार्थैव ही माया,
उपपद्यमानार्थत्वे यथार्थभावान्न मायास्यात्॥[26]

अर्थात् माया उपपद्यमान अर्थ वाली नहीं है; यदि वह वैसी हो तब तो वह यथार्थ हो जायगी और माया ही न रहेगी।

मण्डन का दूसरा तर्क यह है कि "अनादित्वादुभयोरिविद्या जीवयोर्बीजाङ्कुर संतानयोरिव नेतरेतराश्रयत्वमप्रक्लृप्तिमावहतीति वर्णयन्ति"[27] अर्थात् जीव और अविद्या दोनों अनादि होने के कारण बीजांकुर सन्तान के समान एक दूसरे पर आश्रित हैं। कर्मज्ञानसमुच्चय स्वीकार करने के कारण वे कर्म के द्वारा अविद्या का नाश मानते हैं। "नाविद्या विद्यायाः साधनम्, किंतु अविद्या श्रवणादि लक्षणयाप्यविद्यैव निवर्तते"[28] अर्थात् अविद्या के नष्ट करने का साधन विद्या नहीं वरन् श्रवण आदि वाली अविद्या ही उसका निवर्तन कर सकती है। अविद्या निवृत्त होने पर शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा स्वयं प्रकट हो जाता है।

इसे स्पष्ट करने के लिए मण्डन अविद्या के दो रूप निर्धारित करते हैं— अग्रहण और अन्यथाग्रहण।29 एक मानसिक अज्ञान है और दूसरा मन का तथा बाह्य जगत् का उपादान कारण है। दूसरी अविद्या भावरूपा, अनादि, जड और शक्तिरूपा है।

वाचस्पति भी अविद्या के दो भेद करते हैं और उनकी सहायता से ब्रह्म से विवर्त उत्पन्न मानते हैं:

अनिर्वाच्याविद्याद्वितथ सचिवस्य प्रभवतो
विवर्ता यस्यैते विचदनिततेजोऽबवनयः।
यतश्चाभूद्विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं
नमामस्तद्ब्रह्मापरिमित सुखज्ञानममृतम्॥[30]

अर्थात् अनिर्वाच्य द्विविध अविद्या की सहायता से जिसने उत्पन्न किया और उससे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी उत्पन्न होकर चर-अचर, उच्च, निम्न लोकों का सृजन हुआ, उस अपरिमित सुख, ज्ञान तथा अमृतस्वरूप ब्रह्म को हम नमन करते हैं।

वाचस्पति भी अविद्या का आश्रय जीव ही मानते हैं। उनका तर्क है कि जीव की उत्पत्ति अविद्या से होती है, अविद्या का कारण जीव का पूर्वजन्म था। यही क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। "यदि ब्रह्मणोऽविद्याशक्त्या संसारः प्रजायते, हन्त मुक्तानामपि पुनरुत्पादप्रसंगः"[31] अर्थात् यदि ब्रह्म अविद्या शक्ति से संसार की उत्पत्ति करता तो मुक्त पुरुषों को भी पुनः उत्पन्न होने का प्रसंग होता। वाचस्पति अविद्या के दो रूप मूल विद्या और तुलाविद्या मानते हैं।[32] तुलाविद्या प्रत्येक जीव की पृथक् है, "प्रतिजीवं भिद्यते, तेन यस्यैव जीवस्य विद्योत्पन्ना तस्यैव अविद्याऽपनीयते न जीवनतरस्य"[33] अर्थात् अविद्या प्रत्येक जीव से पृथक् है, इसलिए जिस जीव में विद्या उत्पन्न होती है वही अविद्या से मुक्त होता है, दूसरा जीव नहीं।

(ग) माया एवं अविद्या

अभी तक देखते रहे हैं कि आचार्य जगत् के नानात्व का कारण ईश्वर की शक्तिभूता माया या अविद्या मानते हैं। जिस आचार्य ने जिस शब्द का प्रयोग किया है उसी के हेतु अनादि, अनिर्वचनीय आदि विशेषण दिये हैं। वे माया को अविद्यात्मक और अविद्या को मायिक स्वीकार करते हैं। अतः प्रश्न उपस्थित होता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है कि माया और अविद्या की अवधारणायें परस्पर पृथक् हैं या नहीं। इन आचार्यों का अध्ययन करने वाले आधुनिक विद्वानों में इस विषय में मतभेद है। यह मतभेद उत्तरकालीन आचार्यों में ही दिखाई देने लगा था। सर्वज्ञात्म मुनि, प्रकाशानन्द और विद्यारण्य (विवरणप्रमेय संग्रह) ने माया और अविद्या का भेद नहीं किया।[34] किन्तु पञ्चदशी [35] और प्रकृतार्थ-विवरण आदि में दोनों के बीच भेद किया गया है।

शंकर के दर्शन में थीवो माया और अविद्या को पर्यायवाची मानते हैं,[36] किन्तु कर्नल जेकोब उससे सहमत नहीं हैं।[37] इस मतभेद का कारण समझने के पूर्व हम विद्यारण्य के दो विरोधी प्रतीत होते हुए मतों पर विचार करेंगे। उससे हमें शंकर की दृष्टि समझने में सहायता मिलेगी।

विद्यारण्य विवरणप्रमेयसंग्रह में माया और अविद्या के अभेद पर विचार करते हैं। पूर्वपक्षी की ओर से प्रश्न होता है— प्रातिभासिक रजत मायामय कहना उचित नहीं है। क्योंकि माया तो अपने आश्रय ऐन्द्रजालिक आदि में भ्रम नहीं करती और उसकी इच्छा के अनुसार रहती है। शुक्तिरजत में ऐसा नहीं देखा गया कि भ्रम किसी पुरुष की इच्छा का अनुवर्तन करे। माया और अविद्या में लक्षण और प्रसिद्धि में भेद है। इसके उत्तर में विद्यारण्य कहते हैं, "अनिर्वचनीयत्वे सति तत्त्वावभास प्रतिबन्धविपर्ययावभासयोर्हेतुत्वं लक्षणं तच्चोभयोरविशिष्टम्"[38] अर्थात् अनिर्वचनीय होकर तत्त्वाभास के प्रतिबन्ध का कारण और विपर्यय (मिथ्या अवभास का कारण) यह लक्षण अविद्या और माया दोनों में एकरूप है। जिन मन्त्र आदि के प्रयोग से इन्द्रजाल उत्पन्न होता है उन्हें माया नहीं कहते, किन्तु उनसे उत्पन्न हाथी-घोड़े आदि इन्द्रजाल ही माया कहलाते हैं। माया अनिर्वचनीय है। इसलिए इन्द्रजाल के उपादान मन्त्र आदि सत्य नहीं माने जा सकते, क्योंकि मृदादि सत्य उपादानों से सत्य ही घटादि की उत्पत्ति होती है। इसलिए ऐसे किसी एक उपादान की कल्पना करनी चाहिए जो अनादि और अनिर्वचनीय हो, सादि मानने से अनवस्था की आपत्ति होगी। अतः माया पद से अवाच्य उपादान और उपादेय में अभेद मानना ही उचित है। इस प्रकार ऐन्द्रजालिक वस्तु की उपादानस्वरूप माया ही रजत आदि अध्यासों की भी उपादान रहे, पृथक् अवद्या की कल्पना की क्या आवश्यकता है? "माया तु 'प्रकृति" इस वाक्य से सकल प्रपञ्च का उपादानत्व प्राप्त है। अतः "लाघवान्मायैवाविद्या"[39] अर्थात् लाघवन्याय से माया ही अविद्या है।

विद्यारण्य मानते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि माया अपने आश्रय को व्यामोहित नहीं करती, क्योंकि विष्णु अपनी माया से ही रामावतार में मोहित हुए थे (तथापि रामो लुलुभे मृगाय)। ऐसा भी नियम नहीं है कि अविद्या अपने आश्रय को व्यामोहित करती ही है, क्योंकि सरोवर तीरस्थ व्यक्ति को जल में ऊर्ध्वमुख वृक्ष देख कर जरा भी व्यामोह नहीं होता है। जैसे माया कर्त्ता की इच्छा का अनुवर्तन करती है वैसे ही अविद्या में भी देखा जाता है, क्योंकि नेत्र को अंगुली से कुछ दबा देने से दो चन्द्र दीखने का भ्रम उत्पन्न होता है। यदि अविद्यास्वरूप की निष्पत्ति कर्तृव्यापाराधीन नहीं हैं तो माया का स्वरूप भी कर्तृव्यापार अधीन नहीं है। श्रुति में भी सम्यक् ज्ञान से निवृत्त होने वाली अविद्या के लिए ही माया शब्द का प्रयोग देखा गया है, जैसे "भूयाश्चान्ते विश्वमायानिवृतिः"। स्मृति में भी इसके उदाहरण उपलब्ध हैं।

अन्त में विद्यारण्य स्वीकार करते हैं कि एक ही वस्तु में उपाधि-भेद से नाम-भेद मान लिया जाता है। "लोकप्रसिद्धिस्त्वेकस्मिन्नपि वस्तुनि उपाधिभेदादुपपद्यते। विरूपजनकत्वाकारेणेच्छाधीनत्वाकारेण वा मायेति व्यवहारः। आवरणाकारेण स्वातन्त्र्याकारेण वाविद्येति व्यवहारः[40]। अर्थात् लोकप्रसिद्धि तो एक ही वस्तु में उपाधि से भेद उत्पन्न मानती है। विरूपजनकत्वरूप से अथवा इच्छा के अधीन उसका आकार पाने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से माया शब्द का व्यवहार होता है और अधिष्ठान के अवभास का प्रतिबन्धक जो आवरण है उसके रूप से अथवा स्वातन्त्र्य से अविद्या का व्यवहार होता है। इसलिए इन्द्रजाल आदि के लिए माया शब्द का व्यवहार और अन्यत्र अविद्या शब्द का व्यवहार भी उपपन्न है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

इसीलिए विद्यारण्य ने "तत्त्वस्य सुखबोधाय"[41] रचना करने पर पञ्चदशी में "माया" और "अविद्या" में भेद माना है। "चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त, सत्त्वरजतम गुण वाली वस्तु "प्रकृति" कहलाती है।"[42]

"सत्त्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां" मायाविद्ये च ते मते॥[43]

अर्थात् वह प्रकृति सत्त्व की शुद्धि से "माया" और सत्त्व की अशुद्धि से अविद्या कहीं जाती है।

मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा॥[44]

अर्थात् माया में पड़ा बिम्ब उस माया को अपने वश में रखता हुआ सर्वज्ञ ईश्वर होता है और दूसरा अविद्या में प्रतिबिम्बित होकर उसके वश में रहकर जीव कहलाता है। वह अविद्या की विचित्रता के कारण अनेक हो गया है।

इस विवेचन में माया और अविद्या में नाम-भेद ही नहीं वरन् गुणकृत भेद भी दिखाया गया है और इसके कारण ही स्वतन्त्रता-सर्वज्ञता तथा जीव की परतन्त्रता-अज्ञानता मानी गयी है।

कूटस्थासङ्गमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा।

चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे॥[45]

अर्थात् माया ने कूटस्थ असंग आत्मा को ही जगत् बना दिया है और उसी ने चिदाभासस्वरूप से जीव और ईश्वर का भी निर्माण किया है।

इस माया का चमत्कार यह है कि वह कूटस्थ में किसी प्रकार का उपद्रव भी नहीं करती और उसी को जगदादि भी बना डालती है। दुर्घट कामों को करनेवाली माया के लिए कोई चमत्कार की क्या बात है?[46] यह माया श्रौत, यौक्तिक और लौकिक पुरुषों को क्रमशः तुच्छ, अनिर्वचनीय और सत् तीन प्रकार से दिखाई देती है।[47] संसारी पुरुषों को मायिक जगत् सत् प्रतीत होता है। तर्क से परीक्षा करने पर वह माया अनिर्वचनीय (न सत्, न असत्, न सदसत् उभयात्मक) ज्ञात होती है। श्रुतियों की दृष्टि से वही माया तुच्छ अर्थात् अवास्तविक दिखाई देती है।

शंकर भी, लगभग इसी प्रकार माया और अविद्या को मूल में एक मानते हुए भी प्रसंगानुसार उनका भेद स्वीकार करते हैं। विवेकचूड़ामणि में माया की परिभाषा देते समय उसका एक लक्षण "अविद्या" भी बतलाती है।[48] किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे माया और अविद्या में कोई भेद न मानते हुए कोई भी शब्द कहीं भी प्रयोग कर देते हैं।

तयोर्विरोधोऽयमुपाधिकल्पितो

न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेव।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ईशस्य माया महदादिकारणं
जीवस्य कार्य मृणु पञ्चकोशम्॥
एतावुवाधो पर जीवयोस्तयोः
सम्यङ्निरासे न परो न जीवः।
राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटक-
स्तरयोरपोहे न भटो न राजा॥[49]

अर्थात् उन दोनों का (ईश्वर और जीव का) विरोध उपाधि के कारण है और यह उपाधि कुछ वास्तविक नहीं है। ईश्वर की उपाधि महत्तत्वादि की कारणरूपा माया है तथा जीव की उपाधि कार्यरूप पञ्चकोश है। ये परमात्मा और जीव की उपाधियाँ हैं, इनका भली प्रकार बाध हो जाने पर न परमात्मा ही रहता है और न जीवात्मा ही। जिस प्रकार राज्य राजा की उपाधि है तथा ढाल सैनिक की, इन दोनों उपाधियों के न रहने पर न कोई राजा है और न योद्धा।

यहाँ "ईशस्य माया" के स्थान में "ईशस्य अविद्या" पद का प्रयोग पर्याय के रूप में नहीं कर सकते। ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, उसकी उपाधि अविद्या नहीं हो सकती है और न अविद्या के द्वारा ईश्वर जगत् की विचित्र रचना ही कर सकता है। उसे तो जगत् रचना का पूर्ण और गम्भीर ज्ञान होना चाहिए। अन्यत्र भी शंकर जगत् को माया का कार्य निर्धारित करते हैं। "माया और महत्तत्त्व से लेकर देहपर्यन्त माया के सम्पूर्ण कार्य तुम मरुमरीचिका के समान असत् और अनात्मक जानो।"[50]

जीव की उपाधि पञ्चकोशों से तादात्म्य के कारण है और वह अज्ञानमूलक है:

अज्ञानमूलोऽयमनात्मबन्धो
नैसर्गिकोऽनादिरनन्त इरितः।
जन्माप्ययव्याधिजरादिदुःख-
प्रवाहपातं जनयत्यमुष्य॥

अर्थात् यह अज्ञान-जनित अनात्मबन्धन स्वाभाविक तथा अनादि और अनन्त कहा गया है। यही जीव के जन्म, मरण, व्याधि और जरा आदि दुःखों का प्रवाह उत्पन्न करता है।

जीव की अविद्या को अध्यास भी कह सकते हैं— "एवमलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते"[51]— इस लक्षण वाले अध्यास के विद्वान् "अविद्या" मानते हैं। अध्यास आत्मा और अनात्मा का (अन्तःकरण का) तादात्म्य है और अन्तःकरण माया का कार्य है, अतः जीव की अविद्या को माया भी कह सकते हैं। इसके विपरीत शंकर ने मन को (अन्तःकरण को) भी अविद्या कहा है— "मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः"[52]— मन ही भवबन्धन की हेतुभूता अविद्या है। तात्पर्य यह है कि माया का कार्य मन आत्म-चैतन्य से एकीकृत्य होकर अविद्या की उत्पत्ति करता है। इसलिए जीव के प्रसंग में शंकर ने माया शब्द प्रयोग करना अनुचित नहीं माना है— "आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम्"[53]— उसी प्रकार आत्मविचारहीन विद्वान को माया फिर घेर लेती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(घ) शंकर के माया सिद्धान्त की वैष्णव सन्तों द्वारा आलोचना

शंकर का माया सिद्धान्त बहुचर्चित हुआ है। यदि एक ओर शंकर के अनुयायिओं ने इसे तर्कसंगत बतलाया है तो दूसरी ओर अन्य दार्शनिकों ने इसकी आलोचना की है। वैष्णव सन्त रामानुजाचार्य ने इस माया सिद्धान्त को तर्कतः अनुपपन्न[54] बतलाया है। इन्होंने शंकर की माया के विरुद्ध निम्नलिखित सात आपत्तियाँ उठायी हैं। उन्होंने माया एवं अविद्या में भेद नहीं किया है।

1. **आश्रययानुपपत्ति** — रामानुजाचार्य की प्रथम आपत्ति यह है कि अविद्या का आश्रय क्या है? जीव को अविद्या का आश्रय नहीं माना जा सकता क्योंकि शंकर ने जीव का कारण अविद्या को ही माना है। अतः जो स्वयं अविद्या के कारण है वह अविद्या का आश्रय कैसे हो सकता है? ब्रह्म भी अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप तत्त्व में अविद्या नहीं रह सकती क्योंकि अविद्या एवं ज्ञान एक-दूसरे के विरोधी हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व सत् नहीं है। इस प्रकार अविद्या आश्रय रहित सिद्ध होती है।

माया के विरुद्ध इस आपत्ति के उत्तर में कहा जा सकता है कि जीव की उत्पत्ति किसी देश एवं काल विशेष में नहीं हुयी है। जीव और माया दोनों अनादि हैं। अतः जीव को माया का आश्रय मानने में कोई दोष नहीं है। हम यह भी कह सकते हैं कि ब्रह्म चैतन्य अथवा प्रकाश स्वरूप है। अविद्या का विरोध विद्या या प्रमा से है, चैतन्य अथवा प्रकाश से नहीं। यह चैतन्यस्वरूप ब्रह्म भी अविद्या का आश्रय हो सकता है। शुद्ध चैतन्य एवं प्रमाज्ञान भिन्न-भिन्न हैं।

2. **स्वरूपानुपपत्ति** — आचार्य रामानुज ने कहा है कि[55] अद्वैत-वेदान्त में प्रतिपादित अविद्या का कोई स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता। वे प्रश्न करते हैं कि अविद्या सत् है अथवा असत्। यदि अविद्या सत् है तो अद्वैतवाद द्वैतवाद हो जायगा क्योंकि ब्रह्म एवं अविद्या दो सत् मानने पड़ेंगे और यदि अविद्या असत् है तो उसका मूल खोजना होगा। क्या अविद्या का दोष द्रष्टा में है, अथवा दृष्टि में? द्रष्टा एवं दृष्टि में यह नहीं हो सकती। यह दृश्य भी नहीं हो सकती। "यदि तीनों में है तो एक और दोष मानना पड़ेगा जिससे इन तीनों में दोष उत्पन्न होता है"[56] और इस प्रकार हम अनवस्था दोष में फँस जायेंगे।

इस आपत्ति के उत्तर में कहा जा सकता है कि अविद्या सत् नहीं है। सत् तो एक मात्र ब्रह्म ही है। अविद्या आकाश-कुसुम की भाँति भी नहीं है। अतः न द्वैतवाद का दोष लगता है और न अनवस्थादोष ही आता है। अद्वैत-वेदान्त में अविद्या को अनादि माना गया है। इसलिए इसके मूल की खोज व्यर्थ है। शंकर मानते हैं कि अविद्या सद्सद्विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। इस प्रकार स्वरूपानुपपत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

3. **तिरोधानानुपपत्ति** — अद्वैत-वेदान्ती मानते हैं कि ब्रह्म का अविद्या के द्वारा तिरोधान होता है। किन्तु रामानुजाचार्य कहते हैं कि ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है। उसका अविद्या के द्वारा तिरोधान सम्भव नहीं। रामानुज के शब्दों में— "प्रकाशतिरोधानं नाम प्रकाशोत्पत्तिप्रतिबन्धः विद्यामानस्यविनाशोवा"[57]— अर्थात् यदि प्रकाशस्वरूप ब्रह्म के प्रकाश का तिरोधान होता है तो इसका अर्थ है प्रकाश का नाश और इस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप का नाश हो जायेगा। अविद्या ब्रह्म के प्रकाश में बाधा भी पहुँचा सकती क्योंकि उस दशा में अविद्या ब्रह्म से अधिक बलवान् सिद्ध होती है और यह अद्वैत-वेदान्तिओं को मान्य नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस आपत्ति के उत्तर में अद्वैत-वेदान्तिओं[58] का कहना है कि अविद्या द्वारा ब्रह्म के प्रकाश के तिरोधान का तात्पर्य उसका नाश नहीं है। मेघ से सूर्य के प्रकाश का तिरोधान हो जाता है, किन्तु उसका नाश नहीं होता। मेघ के हटने से प्रकाश पुनः आ जाता है। इसी प्रकार अविद्या के कारण जीव के लिए ब्रह्म के प्रकाश का तिरोधान हो जाता है और ज्यों ही उस जीव का अविद्या का नाश होता है त्यों ही वह ब्रह्म को प्रकाशस्वरूप पाता है। शंकर इस तिरोधान को मिथ्या भी मानते हैं क्योंकि अविद्या स्वयं मिथ्या है।

4. **अनिर्वचनीयानुपपत्ति** — रामानुजाचार्य के अनुसार अविद्या का अनिर्वचनीयत्व असिद्ध है। उनके अनुसार केवल दो प्रकार की ही प्रतीतियाँ होती हैं। "सर्वाच प्रतीतिः सदसदाकारा"[59] अर्थात् या तो कोई वस्तु सत् है अथवा असत्। अनिर्वचनीयता प्रतीति का विषय नहीं है। अतः अनिर्वचनीयता अनुपपन्न है।

इस आपत्ति के उत्तर में अद्वैत-वेदान्ती कह सकते हैं कि जो कुछ सत् या असत् से भिन्न है वह अनिर्वचनीय है। ब्रह्म सत् है। आकाश-कुसुम असत् है क्योंकि ब्रह्म का बाध नहीं होता और आकश-कुसुम की प्रतीति नहीं होती। किन्तु रज्जु में सर्प की प्रतीति सत् नहीं है। क्योंकि उसका बाघ होता है और वह असत् भी नहीं है क्योंकि उसका अनुभव होता है। अतः सत् एवं असत् से भिन्न है। और जो सत् एवं असत् से विलक्षण है वही अनिर्वचनीय है। अतः अविद्या का अनिर्वचनीयत्व अनुपपन्न नहीं है।

5. **प्रमाणनुपत्ति** — रामानुजाचार्य मानते हैं कि अविद्या असिद्ध है क्योंकि उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। अविद्या न प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है और न अनुमान से। "अद्वैत-वेदान्ती "अहमज्ञः" "त्वदुक्तमर्थं न जानामि" इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण के उदाहरण दिया करते हैं।"[60] रामानुज मानते हैं कि इन उदाहरणों से केवल अभावरूप अविद्याकी ही सिद्धि होती है। भावरूप की नहीं। किन्तु अद्वैतवाद मानता है कि अज्ञान ज्ञान का अभाव मात्र नहीं है। वह उसके भावरूपत्व को सिद्ध करता है। यह अज्ञान वस्तुरूप भी नहीं है। अतः उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। अज्ञान केवल भावरूप है। इस भावरूप का प्रत्यक्ष होता है क्योंकि प्रायः अज्ञान के कारण व्यावहारिक जीवन में अनर्थ होता हुआ दिखलाई पड़ता है। अमलानन्द स्वामी ने वेदान्तकल्पतरु में, अप्पय दीक्षित ने कल्पतरु परिमल में अविद्या के भावरूप सिद्ध करने के लिए अनुमान का प्रयोग किया है। चित्सुखाचार्य ने चित्सुखी ग्रन्थ में अविद्या की भावात्व सिद्धि के लिए अनुमान का सहारा लिया है।[61] इस प्रकार अद्वैत-वेदान्ती अविद्या के भावात्वसिद्धि के लिए प्रत्यक्ष एवं अनुमान का प्रयोग करते हैं।

6. **निवर्तकानुपत्ति** — अद्वैत-वेदान्त में माना जाता है कि निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होती है। किन्तु रामानुजाचार्य मानते हैं कि निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता। निर्गुण ब्रह्म प्रमाणसिद्ध नहीं है। और जब ब्रह्मज्ञान नहीं होगा तब अविद्या का नाश भी नहीं होगा। रामानुज के अनुसार सभी महावाक्य सगुण ब्रह्म का ही बोध कराते हैं, निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान नहीं।

इस आपत्ति के उत्तर में अद्वैत-वेदान्ती कहते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान किसी वस्तु के ज्ञान की तरह नहीं है। ब्रह्म स्वयंप्रकाश है। ज्ञाता उससे भिन्न नहीं है। ज्ञाता ही ब्रह्म है। जब अज्ञान का आवरण हट जाता है तब ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है। इसके अतिरिक्त उपक्रम-उपसंहारादि षड्लिङ्ग एवं "तत्तु समन्वयात्"[62] के दृष्टिकोण से परीक्षा करने पर श्रुतियों में निर्गुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन मिलता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

7. **निवृत्यानुपत्ति** — अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म के साक्षात्कार से ही अविद्या से मुक्ति मानी गयी है। इसीलिए अविद्या का बन्धन मिथ्या है। रामानुजाचार्य कहते हैं कि यदि बन्धन मिथ्या है तो उससे छुटकारा दिलवाने वाला ज्ञान भी तो मिथ्या है। उनके अनुसार जीवब्रह्मैकत्वज्ञान मिथ्या है। अतः मिथ्या बन्धन का नाश मिथ्या ज्ञान से सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त रामानुज यह भी मानते हैं कि जगत् प्रपञ्च सत्य है। जगत् की वस्तुयें कार्य उत्पन्न करती हैं। इसलिए ज्ञान से प्रपञ्च की निवृत्ति सम्भव नहीं है।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि मिथ्या से मिथ्या की निवृत्ति सम्भव होती है। स्वप्न की भूख स्वप्न के खाने से मिट जाती है जबकि स्वप्न की भूख एवं स्वप्न का खाना दोनों मिथ्या है। अतः यह मानने में कोई हानि नहीं है कि मिथ्या-बन्धन मिथ्याज्ञान से नष्ट हो जाता है। जगत् की वस्तुयें अर्थक्रियाकारी होने पर भी ब्रह्म के समान सत् नहीं हैं। वे बाधयुक्त हैं। अतः ज्ञान से उनकी निवृत्ति सम्भव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैत-वेदान्त में अविद्या अथवा माया को मानकर भी निर्गुण ब्रहम् को ही एकमात्र परमसत् के रूप में स्वीकार किया गया है। इस परम सत् की स्थापना के लिए अद्वैत-वेदान्तिओं ने केवल श्रद्धा, भावना एवं श्रुति को ही आधार नहीं बनाया वरन् अपनी तर्कना-शक्ति के सहारे भी वे वहीं पहुँचने का प्रयास करते हैं। माया को सत् नहीं है किन्तु यह आकाश-कुसुम की भाँति असत् भी नहीं है। यह विश्व सत् एवं असत् से भिन्न एक तीसरी कोटि है। अतः इसकी व्यावहारिक सत्ता है। अद्वैत-वेदान्ती अपने इस उद्देश्य की सिद्धि में सफल हुये हैं।

संदर्भ-सूची

1. ऋग्वेद 6.47.18.
2. वही, 5.63.3.
3. अथर्ववेद, 8.9.5.
4. बृहदारण्यक उपनिषद् 2.5.19.
5. श्वेताश्वतर उपनिषद् 4.9.
6. वही, 4.10.
7. प्रश्नोपनिषद् 1.16.
8. ब्रह्मसूत्र 3.2.3, पृ. 598.
9. भगवद्गीता, 4.6.
10. वही, 7.14.
11. वही, अध्याय 14,17 और 18.
12. वही, 7.15.
13. गौडपादकारिका, 2.31.
14. वही, 2.12.
15. वही, 1.16.
16. विवेक-चूडामणि, 110 और 111.
17. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा., 2.5.19, पृष्ठ 613.
18. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 1.4.3, पृष्ठ 288.
19. वही.
20. बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक, 1.4.1327.
21. वही, 1.4.371.
22. पञ्चपादिका, पृष्ठ 23 (उर्मिला शर्मा)
23. ब्रह्मसिद्धि, पृ. 10.
24. वही, पृ. 11.
25. वही, पृ. 12.
26. वही, पृ. 10.
27. वही, पृ. 10.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

28. वही, पृष्ठ 13.
29. वही, पृष्ठ 149.
30. भामती, श्लोक 1, पृष्ठ 1.
31. वही, 1.4.3, पृष्ठ 377.
32. वही.
33. वही, पृष्ठ 378.
34. संक्षेपशारीरिकम् 1.20; सिद्धान्तमुक्तवली, पृ. 39.
    विवरणप्रमेयसंग्रह 1.1, पृ. 134.
35. पञ्चदशी 1.15-17.
36. The Vedanta Sutral Introduction by Thibant, p. XXV.
37. Vedanta-Sara, preface, p.V.
38. विवरणप्रमेयसंग्रह 1.1, पृ, 133.
39. वही, पृ. 134.
40. वही, पृ. 136.
41. पञ्चदशी, 1.2, पृ. 1.
42. वही, 1.15, पृ. 10.
43. वही, 1.16, पृ. 10.
44. वही, 1.17, पृष्ठ 11.
45. वही, 6.133, पृष्ठ 180.
46. वही, 6.130, पृष्ठ 180.
47. वही, 6.130, पृष्ठ 179.
48. विवेक-चूडामणि, 10, पृष्ठ 37.
49. वही, 245, 246.
50. वही, 125.
51. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., प्रस्तावना, पृष्ठ 12.
52. विवके-चूडामणि, 171.
53. वही, 325.
54. ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री, रमाकान्त त्रिपाठी, पृष्ठ 81.
55. श्रीभाष्य, पृष्ठ 168-69 (निर्णय सागर)
56. ब्रह्मसूत्र, चतुःसूत्री, रमाकान्त त्रिपाठी, पृष्ठ 82.
57. श्रीभाष्य, पृष्ठ 168 (निर्णय सागर)
58. अद्वैत एवं द्वैताद्वैत की तत्त्वमीमांसा, डॉ. अभेदानन्द, पृष्ठ 102.
59. श्रीभाष्य, पृष्ठ 170 (निर्णय सागर)
60. अद्वैत एवं द्वैताद्वैत की तत्त्वमीमांसा, डॉ. अभेदानन्द, पृष्ठ 98.
61. वही, पृष्ठ 100
62. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., 4.

■

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय-12

आचार-मीमांसा

अद्वैत वेदान्त की तत्त्वमीमांसा पर विचार करने और उसकी रूपरेखा सामने उपस्थित होने पर यह निश्चय हो जाता है कि परम सत् ब्रह्म ही आनन्दस्वरूप है और वही समस्त प्राणियों का अपना स्वरूप है। हम सब अपने आप में आनन्दमय होते हुए भी अज्ञान के कारण यह नहीं जानते हैं और अपने से पृथक् भौतिक वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों में सुख की कल्पना कर उसे पाने, अपने अनुकूल बनाने और उसके उपभोग में सुख मानते रहते हैं। इस प्रकार अज्ञान में रहते हुए जीवन का लक्ष्य भौतिक समृद्धि अर्थात् अभ्युदय ही निर्धारित होता है, किन्तु अद्वैतदर्शन अपने आनन्दस्वरूप आत्मा का बोध प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है और इसे वह निःश्रेयस की प्राप्ति कहता है।

जीवन के लक्ष्य के अनुसार ही आचार शास्त्र निर्मित होता है। पिछले अध्याय में हम अभ्युदय और निःश्रेयस पर विचार कर चुके हैं और देखा है कि ये दोनों लक्ष्य किन स्तर के पुरुषों के लिए और क्यों निर्धारित किये जाते हैं। यहाँ हम इन लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन पर विचार करेंगे। यद्यपि अद्वैत वेदान्त जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष अर्थात् निःश्रेयस ही मानता है, क्योंकि उससे अधिक श्रेयस्कर मनुष्य के लिए कुछ भी नहीं है, किन्तु इस लक्ष्य का महत्त्व और उसे प्राप्त करने का प्रयास एक विशेष कोटि का व्यक्ति ही कर सकता है। उसके कुछ विशिष्ट लक्षण निर्धारित किये गये हैं। इन्हें शंकर ने व्यवस्थित कर साधन-चुतुष्टय नाम दिया है। जो मनुष्य इन लक्षणों या गुणों से विहीन है, उन्हें वह मार्ग बताया गया है जिनसे वह कालान्तर में साधन-चतुष्ट्य सम्पन्न बन सके। इस मार्ग पर भी वही मनुष्य अग्रसर हो सकता है जो अपेक्षाकृत उन्नत है और अपने ऊपर किसी कोटि तक अनुशासन रखने की क्षमता रखता है।

आत्मानुशासन-विहीन अभ्युदय का भी अधिकारी नहीं है। यद्यपि वेदान्त का मुख्य प्रयोजन अभ्युदय और उसके प्राप्ति के साधन बताना नहीं है किन्तु यदि जीवन सोपान के निम्नस्तर पर खड़े व्यक्ति को निःश्रेयस की दिशा का निर्देश करना हो तो उसे पहले अभ्युदय का ज्ञान कराना ही होगा। इसी दृष्टि से अद्वैत वेदान्त यत्किंचित् अभ्युदय, उसके साधन रूप आचारशास्त्र का विचार अवश्य करता है। अभ्युदय प्राप्त करने के अधिकारी व्यक्ति में इतना आत्मबल आ सकता है कि वह अपने जीवन का अगला लक्ष्य निःश्रेयस बना सके और उसे प्राप्त करने के हेतु कटिबद्ध हो जाय। ऐसा कदापि सम्भव नहीं है कि असंयमी और स्वेच्छाचारी व्यक्ति सीधे मुक्ति का मार्ग पकड़ ले। किसी पादप में पुष्प ऊगने के पूर्व कली निकलना आवश्यक है। प्रारम्भ से ही खिला हुआ पुष्प नहीं ऊगता।

अभ्युदय, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, भौतिक पदार्थों का संग्रह मात्र नहीं है। यह कार्य तो अनैतिक और स्वेच्छाचारी व्यक्ति भी कर सकते हैं। अभ्युदय भले ही जीवन का निम्न कोटि का स्तर हो किन्तु उसमें सुख की सम्भावना होती है। यदि उसमें सुख का आभास भी न होता या क्षण भर भी सुख न मिलता तो वह जीवन का लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता था। इस विचार-बिन्दु को ध्यान में रखकर अद्वैत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दर्शन भौतिक विषयों के लक्षण और मन में सुखानुभूति के विज्ञान पर विचार करता है। उससे प्राप्त होने वाले निष्कर्म को आधार बना कर अभ्युदय प्राप्त करने का मार्ग निर्धारित किया जाता है।

गीता में "अशान्तस्य कुतः सुखम्" कह कर मन की शान्ति को ही सुख का कारण माना गया है। जहाँ शान्ति है वहीं सुख है और जहाँ अशान्ति है वहाँ दुःख है— यह अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध है और सर्वसाधारण के अनुभव से भी मान्य है। यदि हम सुख के इस शान्त स्वरूप को स्वीकार कर लें तो भौतिक पदार्थों से अभ्युदय की प्राप्ति तभी मानी जा सकेगी जब वह हमें मानसिक शान्ति दे सके। यदि कदाचित् भौतिक सामग्री का ढेर बढ़ने के साथ मन में अशान्ति बढ़ती जाती है तो वह दुःखदायी ही होगा उसे अभ्युदय नहीं कहा सकेगा।

(क) कर्म का स्थान

मानसिक शान्ति अक्षुण्ण रहे अथवा अधिक बढ़ती जाये और उसके साथ भौतिक पदार्थों आदि की भी उपलब्धि हो, इसके हेतु कुछ नियम निर्धारित करने पड़े हैं। सर्वप्रथम, कर्म के द्वारा ही अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। किसी वस्तु का ज्ञान होने मात्र से वह हमें प्राप्त नहीं हो जाती है। किसी वस्तु का उपादान, विकार संस्कार या प्राप्त होना कर्म से ही सिद्ध है।[2] किन्तु मनुष्य कर्म यंत्रवत् नहीं करता। कर्म के साथ उसकी भावना भी रहती है। उसका ध्यान रख कर शास्त्र "कार्याकार्य" की व्यवस्था करते है:

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥[3]

अर्थात् कार्य औ अकार्य की व्यवस्था के लिये शास्त्र ही तुम्हारे लिये प्रमाण हैं। शास्त्र में कहे हुए विधान को समझ कर ही तुम्हें कर्म करना चाहिए।

जो व्यक्ति कर्म और अकर्म की व्यवस्था अपने मन में करता है उसे "कामकारतः"[4] कहेंगे। ऐसा व्यक्ति अपनी त्रिगुणात्मक वासनाओं से नियंत्रित होता है। वह निष्पक्ष और यथार्थ निर्णय नहीं ले सकता। इसलिए उसे शास्त्र का आश्रय लेना आवश्यक है। जो शास्त्र कार्याकार्य या विधि-निषेध का विचार करते हैं उन्हें धर्मशास्त्र कहते हैं। शंकर ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है: "शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्ध धर्माख्यः"[5] अर्थात् श्रुति और स्मृति से सिद्ध कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म ही धर्म नाम से प्रसिद्ध है। धर्म के निरूपण के साथ शास्त्रों में अधर्म का भी उल्लेख किया गया है जिससे उसका निषेध हो सके। धर्म सुख देने वाला है और अधर्म दुःख अर्थात् शास्त्रविधि से भौतिक विषयों का संग्रह आदि मन को शान्त रख कर सुख देता है और उसके विपरीत आचरण करने से दुःख भोगना पड़ता है। "धर्माधर्मयो. फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे"[6] अर्थात् धर्माधर्म का शरीर, वाणी और मन द्वारा उपभुज्यमान तथा विषयेन्द्रिय संयोग से जन्य प्रत्यक्ष सुख-दुःखरूप ब्रह्मादि से लेकर स्थावर पर्यन्त सब में प्रसिद्ध ही है।

सभी प्राणियों का सुख एक समान नहीं होता। उसका एक तारतम्य हैं। इससे यह सिद्ध है कि धर्म का भी तारतम्य हैं। "मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यंगम्यते"[7] अर्थात् मनुष्य से लेकर ब्रह्म पर्यन्त सभी शरीरधा. में सुख का तारतम्य श्रुति कहती है। उससे सुख के साधनभूत धर्म का तारतम्य ज्ञात होता है। "धर्मतारतम्यादाधकारि तारतम्यम्"[8] धर्म के तारतम्य से अधिकारी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का तारतम्य है। फल की कामना और सामर्थ्य आदि कारणों से अधिकारी का तारतम्य लोक में प्रसिद्ध है।

"इसी प्रकार अधोगत देहधारी जीवों में दुःख का तारतम्य देखने से उनके हेतुभूत प्रतिषेध प्रवर्तक वाक्यों से बोधित अधर्म का और उसमें प्रवृत्त होने वालों का तारतम्य ज्ञात होता है।"[9]

धर्म या अधर्म का अधिकारी भेद त्रिगुणात्मक वासनाओं के कारण होता है। जिस प्राणी की जैसी वासनायें हैं, उसकी वैसी ही बुद्धि, भावना, प्रवृत्ति, श्रद्धा आदि है तथा उसके वैसे ही शुभाशुभ कर्म और उनके फल हैं। यह एक लम्बी शृंखला है जिनमें अविद्या के कारण हर प्राणी बँधा है। सात्विक वासना वाला व्यक्ति धर्म और राजस वासना वाला अधर्म में रुचि रखता है इसलिए वह उसी का अधिकारी माना जाता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥[10]

अर्थात् सात्विक पुरुषों द्वारा किये गये सुकृत कर्मों का फल (सुख) कहा गया है और रजस् का फल दुःख तथा तमस् का अज्ञान कहा गया है। इस पर टिप्पणी करते हुए शंकर लिखते हैं— "कर्माधिकारात फलम् अपि दुःखम् एवं कारणानुरूप्याद् राजसम् एव"[11] अर्थात् कर्माधिकार से राजस कर्म का फल भी अपने कारण के अनुसार दुःखरूप राजस ही होता है। इसी प्रकार सत्त्व और तमस् के विषय में भी जाना चाहिए।

अधिकारी भेद से धर्म बहुत व्यापक हो जाता है। उसके निरूपण करने की सुविधा के लिए उसे चार वर्णों और आश्रमों में बाँट लिया गया है। इसलिए संक्षेप में उसे कभी-कभी वर्णाश्रम धर्म कहते हैं— "अभ्युदयार्थः प्रवृत्तिलक्षणों धर्मो वर्णाश्रमान् च उछिश्च विहितः"[12] अभ्युदय के हेतु प्रवृत्ति रूप धर्म वर्ण और आश्रमों को लक्ष्य करके कहा गया है। "चत्वार एव वर्णाः"[13] वर्ण चार हैं— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। शंकर ने गीता के आधार पर इस विभाजन को गुण और कर्म के आधार पर माना है। उनके विहित कर्म ही उनके धर्म हैं। "उनमें से सात्त्विक, सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मण के शम, दम, तप आदि कर्म हैं जिसमें सत्त्वगुण गौण है और रजोगुण प्रधान है वह क्षत्रिय हैं और शूरवीरता, तेज प्रभृति कर्म हैं; जिनमें तमोगुण और रजोगुण प्रधान है ऐसे वैश्य के कृषि आदि कर्म हैं तथा जिसमें रजोगुण गौण और तमोगुण प्रधान हैं उसे शूद्र का केवल सेवा ही कर्म है। इस प्रकार गुण और कर्मों के विभाग से चारों वर्ण उत्पन्न हुए।"[14]

आश्रम भी चार हैं— ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी। इनके अपने विशिष्ट धर्म हैं। "यथा ब्रह्मचारि गृहभेधिनावसाधारणेनैव स्वेन विशेषणेन विशेषितावेदं भिक्षुवैखानसावपीति युक्तम्। तपश्चासाधारणो धर्मो वानप्रस्थानाम् भिक्षोस्तु धर्म इन्द्रियसंयमादिलक्षणः"[15] अर्थात् जैसे ब्रह्मचारी और गृहस्थ अपने-अपने असाधारण विशेषण से विशेषित होते हैं वैसे भिक्षु और वानप्रस्थ भी विशेषित होते हैं। तप वानप्रस्थों का असाधारण धर्म है, परन्तु परिव्राजक का इन्द्रिसंयम आदि रूप धर्म है। इन आश्रम धर्मों का पालन न करना अधर्म है। "स्वाश्रमविहितकर्म-अनुष्ठाने प्रत्यवायश्रवणात्"[16] अर्थात् अपने आश्रम में विहित कर्मानुष्ठान न होने पर प्रत्यवाय (दोष) का श्रवण है।

शंकर ने प्रथम तीन आश्रम के धर्मों का पालन करने से अभ्युदय और चौथे से निःश्रेयस की प्राप्ति मानी है, क्योंकि प्रथम तीन कर्म प्रधान हैं और चौथे में कर्मत्याग कहा गया है। "पूर्वे त्रय आश्रमिण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पुण्यलोकभाजः परिशिष्यमाणः परिव्राडेवामृत्वभाक्"[17] अर्थात् पूर्व के तीन आश्रमी पुण्यलोक के भागी होते हैं और परिशिष्यमाण परिव्राजक ही अमृतत्व का भागी होता है।

धर्म का विभाजन "साधारण" और "असाधारण" इन दो वर्गों में भी किया जाता है। शंकर ने यह विभाजन माना है; इसलिए वे वानप्रस्थ और परिव्राजक के तप और कर्मत्याग आदि धर्मों को "असाधारण" धर्म कहते हैं। समस्त वर्णाश्रम धर्म असाधारण धर्म ही हैं, क्योंकि एक वर्ण का धर्म दूसरे का नहीं है औरएक आश्रम का धर्म दूसरे आश्रम का नहीं है। मनुष्य जिस वर्ग और जिस श्रेणी में आता है, वहाँ उनके कुछ विशेष धर्म होते हैं। वे धर्म सब पुरुषों के लिए पालनीय नहीं है। इनके अतिरिक्त कुछ धर्म ऐसे हैं जो वर्ण आदि का विचार किये विना सभी को पालन करने अनिवार्य होते हैं। उनसे व्यक्ति का उत्कर्ष होता है और सुख मिलता है। गीता के अनुसार यज्ञ, दान, तप आदि ऐसे ही कर्म हैं। उसके सोलहवें अध्याय के प्रारम्भ में गिनाये गये गुण जिन्हें दैवीसम्पत् कहा गया है, इसी वर्ग में आते हैं।[18] शंकर भी स्वीकार करते हैं— "यज्ञो दानं तप इति एतत् त्रिविधं कर्म न त्यक्तव्यं"[19] अर्थात् यज्ञ, दान और तप ये तीनों प्रकार के धर्म नहीं त्यागने चाहिए। इनका उल्लेख वर्णाश्रम धर्म से पृथक् स्वतंत्र रूप से किया गया है।

शंकर ईश्वर के अर्थ किये गये कर्मों को यज्ञ मानते हैं। लोक-प्रसिद्ध अग्नि में आहुति देना रूप कर्म यज्ञ भले ही हो किन्तु वह बहुत संकुचित अर्थ है। "यज्ञ ईश्वरः तदर्थ यत् क्रियते तद् यथार्थ कर्म"20 अर्थात् यज्ञ ईश्वर है और उसके लिए कर्म किया जाय वह यज्ञार्थ कर्म है। दान भी केवल धन तक सीमित नहीं है, ज्ञान आदि का भी दान दिया जाता है। तप का अर्थ भी शरीर पीड़ा नहीं है। नित्य के कार्यों और भोगों में नष्ट होती हुई शक्ति का संग्रह करना तथा अपने अन्दर छिपी दिव्य शक्तियों को जाग्रत् करना ही तप है। ये ज्ञान, दान, तप सभी मनुष्य को उन्नत करने और उच्च सुख पाने का अधिकारी बनाते हैं।

धर्म से अभ्युदय अर्थात् भौतिक सुख प्राप्त होना कपोल-कल्पना या अंधविश्वास नहीं है। इन दोनों के बीच अन्तर्सम्बन्ध है जिसका संकेत हम प्रारम्भ में कर चुके हैं। धर्म उन्हीं कर्मों को करने की स्वीकृति देता है जिनसे मनुष्य की मानसिक शांति सुरक्षित रहे और कर्म करने के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले भोग पदार्थों से कामना की पूर्ति होने से मन पहले की अपेक्षा अधिक शांत होकर सुख का अनुभव कर सके। इसके हेतु भोग की शक्ति भी सुरक्षित रखना आवश्यक होता है। धर्म के विधान उस पर ध्यान रखते हैं।

इतना ही नहीं, जीवन समाप्ति के बाद भी सुख प्राप्त हो सके, इसके लिए धर्म स्वर्गादि का विधान करता है। इसीलिए अद्वैत-वेदान्त में भौतिक वस्तुओं के संग्रह मात्र को अभ्युदय नहीं माना गया है।

अभ्युदय के हेतु जिस नैतिक आचरण या धर्म की आवश्यकता है, वह निःश्रेयस के लिए भी आवश्यक है। धर्म मन को शान्त कर सुखानुभूति ही नहीं कराता वरन् चित्त को निर्मल कर ज्ञान का प्रकाश भी प्रदीप्त करता है। अधर्म में प्रवृत्त रहने वाले व्यक्ति को न इस लाभ का परिचय होता है और न उसे वह प्राप्त ही होता है। धर्माचरण से यद्यपि चित्त की निर्मलता अधिक नहीं होती है किन्तु जो कुछ होती है उसमें यह बोध सम्भव हो जाता है कि कामनायें दुःख, दुर्बलता, दैन्य, अशान्ति, बंधन आदि की जननी हैं। अधर्मी व्यक्ति न कामनाओं की इस विडम्बना को समझ पाता है और न उन्हें त्यागना सम्भव मानता है।

कामना त्यागकर कर्म करने से चित्त पूर्णतः निर्मल हो जाता है और उस व्यवस्था में श्रवणादि के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान सम्भव बन जाता है। शंकर, इसीलिए, कहते हैं— धर्मः "ईश्वरार्पणबुद्धया अनुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसन्धिवर्जितः"[21] अर्थात् धर्म फलकामना छोड़कर ईश्वरार्पणबुद्धि से किया जाने पर अन्तःकरण की शुद्धि करने वाला है। शंकर की इस युक्ति का आधार गीता का निम्न श्लोक है—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

योगिनः कर्म कुवन्ति सङ्गंत्यक्त्वात्मशुद्धये।[22]

अर्थात् योगी फलविषयक आसक्ति छोड़कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

(ख) साधन चतुष्टय

बहिरंग साधन — निःश्रेयस के लिए धर्माचरण तो आवश्यक है ही, निष्काम कर्म करना भी उसके लिए अनिवार्य है। निष्काम कर्म से मनुष्य अपना चित्त शुद्ध कर साधन-चतुष्टय सम्पन्न हो जाता है। ये चारों साधन विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षत्व है। ध्यान देने से ज्ञात होगा कि ये चारों साधन चित्तशुद्धता के ही लक्षण हैं।

शंकर धर्म-जिज्ञासा या धर्माचरण के बाद ब्रह्म जिज्ञासा सम्भव नहीं मानते, वरन् विवेक आदि साधनों के उपरान्त ही वह सम्भव है।[23] तर्क यह है कि धर्म कर्मानुष्ठान की अपेक्षा रखता है किन्तु ब्रह्मज्ञान विचार करने के उत्कृष्ट साधन अर्थात् शुद्ध बुद्धि की अपेक्षा करता है। "यथोक्त साधन संपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या"[24] अर्थात् यथोक्त साधन सम्पत्ति के अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिए। साधन-चतुष्टय इस प्रकार हैं— "नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थभोग विरागः, शमदामादि साधन संपत्, मुमुक्षत्वं च"[25] अर्थात् नित्यानित्य वस्तु का विवेक, इस लोक तथा परलोक के विषय भोगों से विराग, शम-दम आदि साधन सम्पत्ति और मोक्ष की इच्छा। षट्-सम्पत्ति के अन्तर्गत आते हैं छः गुण— शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान।[26]

विवेक वह बुद्धि है जो नित्य और अनित्य वस्तु का विभाग कर सकती है और यह निश्चय कर सकती है कि अनित्य वस्तुओं से नित्य सुख नहीं मिल सकता, अतः उनकी कामना त्याग देनी चाहिए। इस लोक तथा स्वर्गादि उच्च लोकों के सभी भौतिक सुख अनित्य हैं। विवेक उनके संग्रह और भोग में लिप्त होने की स्वीकृति नहीं देता है। जब बुद्धि में ऐसा निश्चय हो जाता है तो विषय-भोगों का चिन्तन नहीं करती। यही वैराग्य है। शरीर, इन्द्रियों और मन के स्तर पर वैराग्य छः प्रकार से व्यक्त होता है। मन विषयों का चिन्तन नहीं करना, यह शम है। इन्द्रियाँ विषय-भोगों में प्रवृत्त नहीं होतीं— यह दम है। भोग्य पदार्थों के संग्रह के लिए कर्म में प्रवृत्त न होना उपरति है। शरीर को होने वाले कष्टों को विना प्रतिकार किये सहन करना तितिक्षा है। शास्त्र और गुरुवाक्य में विश्वास रखकर स्वेच्छाचारी वृत्ति का त्याग श्रद्धा है। भौतिक जीवन की मूल्यहीनता का निश्चय समाधान है।

विवेक ने जिस अनित्यता का दर्शन कराया था उसके प्रति निषेधात्मक वृत्ति वैराग्य और षट्सम्पत्ति है। विवेक जिस वस्तु को सुझाता है उसे प्राप्त करना और उसमें स्थित होने का विधेयात्मक निश्चय मुमुक्षत्व है।

अन्तरंग साधन — उपर्युक्त साधन-चतुष्टय ब्रह्मज्ञान के बहिरंग साधन कहे जाते हैं। इन साधनों से सम्पन्न व्यक्ति ज्ञान के अन्तरंग साधन स्वरूप श्रवण, मनन और निदिध्यासन अपनाते हैं। इन साधनों से ब्रह्मज्ञान सीधे प्राप्त हो जाता है। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी को आत्मज्ञान की शिक्षा देते हुए कहते हैं— "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यों निदिध्यासितव्यों मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्व विदितम्"27 अर्थात् यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयि! इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञात से इस सब का ज्ञान हो जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

श्रवणादि की आवश्यकता पर टिप्पणी करते हुए शंकर कहते हैं— "आत्मा में अविद्या से आरोपित प्रतीति का विषयभूत जो ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि वर्णाश्रम आदि रूप कर्म का निमित्त है वह क्रिया, कारक और फलरूप तथा रज्जु में आरोपित सर्प प्रतीति के समान अविद्याजनित प्रतीति का विषय है। इसकी निवृत्ति के लिए श्रुति कहती है— "आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और ज्ञान होने पर निश्चय ही यह सब विज्ञात हो जाता है।"[28] "उक्त साधन-चतुष्टय से सम्पन्न आत्मतत्त्व का जिज्ञासु पुरुष प्राज्ञ गुरु के निकट जाय जिससे उसके भव-बन्धन की निवृत्ति हो।"[29] गुरु को श्रोत्रिय, निष्पाप, कामनाओं से शून्य, ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ, ईंधनरहित अग्नि के समान शान्त, अकारण दयासिंधु और प्रणत जनों का बंधु होना चाहिए।[30] गुरु उस शिष्य को बतावे कि वेदान्त-वाक्यों के अर्थ का विचार करने से उत्तम ज्ञान होता है जिससे फिर संसार-दुख का आत्यन्तिक नाश हो जाता है।"[31]

श्रवणादि के विषय में शंकर का मत है कि पहले आचार्य और शास्त्र द्वारा श्रवण करनें योग्य एवं पीछे तर्क द्वारा मनन करने योगय है और इसे पश्चात् वह निदिध्यासितव्य अर्थात् निश्चयपूर्वक ध्यान करने योग्य है। इस प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनरूप साधनों के सम्पन्न होने पर ही इसका साक्षात्कार होता है।"[32] शंकर ने ब्रह्मज्ञान के लिए श्रवण को पर्याप्त नहीं माना है। श्रवण के उपरान्त मनन और निदिध्यासन साधन भी अपनाने पर ही ज्ञान होता है। वे कहते है।— "यद्धैकत्वमेतान्युपगतानि, तदा सम्यग्दर्शनं ब्रह्मैकत्वविषयं प्रसीदति, नान्यथा श्रवणमात्रेण"[33] अर्थात् जिस समय इन सब साधनों की एकता होती है, उसी समय ब्रह्मैकत्वविषयक सम्यक् दर्शन का प्रसाद होता है; अन्यथा केवल श्रवण से उसकी स्फुटता नहीं होती। शंकर अन्यत्र भी अपने इस मत का उल्लेख कर उसको दृढ़ करते हैं: "मननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात्"[34] अर्थात् श्रवण के समान मनन निदिध्यासन भी ज्ञान के लिए है। शंकर इनकी पुनरावृत्ति भी आवश्यक मानते हैं— "प्रत्यावृत्तिः कर्तव्या दर्शनपर्यवसितत्वादेषम्"[35] अर्थात् प्रत्यय की आवृत्ति किये जाने वाले श्रवण आदि साधन दृष्ट फल वाले होते हैं जैसे धान को तक कूटते हैं जब तक चावल प्रकट नहीं हो जाता।

शंकर के परवर्ती आचार्यों में इस सिद्धान्त पर मतभेद दिखाई देता है कि आत्मज्ञान के लिए श्रवण पर्याप्त अथवा श्रवण के उपरान्त मनन-निदिध्यासन करने पर ही ज्ञान होता है। यह मतभेद तीन दिशाओं में बँट गया है— मण्डन और उनके अनुयायी ब्रह्मज्ञान के लिए तीनों आवश्यक मानते हैं, सुरेश्वर आदि श्रवण को ही पर्याप्त मानते हैं और विद्यारण्य इनसे भिन्न अपनी स्थिति कुछ और ही रखते हैं।

मण्डन का मत है कि "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों के श्रवण से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष है। वह ज्ञान अवरोक्ष तभी होता है जब उस पर मनन-निदिध्यासन या उपासना की जाय। "निश्चितेऽपि प्रमाणात् तत्त्वे सर्वत्र मिथ्यावभासानिवर्तन्ते हेतु विशेषादनुवर्तन्तेऽपि"[37] अर्थात् प्रमाण से निश्चित ज्ञान हो जाने पर भी मिथ्याभास सर्वथा निवृत्त नहीं होता, हेतु विशेष से वह अनुवर्तित भी होता है। "तच्च तत्त्वदर्शनाभ्यासो लोकसिद्धः"[38] अर्थात् तत्त्वदर्शन का अभ्यास लोकसिद्ध है। मण्डन अन्यत्र पुनः कहते हैं, "शब्दं तु प्रमाणाधीनं क्षणिकं ज्ञानम् तत्र पुनरपि विपर्ययावकाशः"[39] अर्थात् शब्द ज्ञान प्रमाणाधीन और क्षणिक है, उसमें पुनः विपर्यय का अवकाश है। "सततं शाब्दं ज्ञानमनुसंदधीत, किमन्यहुपासनमस्मात्"[40] अर्थात् शब्द ज्ञान का सतत अनुसंधान करना चाहिए, इसके अतिरिक्त उपासना और क्या है?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तात्पर्य यह है कि उपनिषद् वाक्यों से तत्त्व का परोक्ष ज्ञान होता है और उपासना से वह अपरोक्ष होकर मुक्ति का हेतु होता है। "विज्ञान प्रज्ञां कुर्वीत"— इस श्रुति वाक्य की व्याख्या करते हुए मण्डन अपने मत को श्रुतिसम्मत मानते हैं। आत्मज्ञान के बाद "प्रज्ञा कुर्वीत का तात्पर्य यही हो सकता है कि हमें वह ज्ञान साक्षात् हो, क्योंकि ज्ञान के बाद किसी अन्य फल की आकांक्षा नहीं हो सकती है।41

वाचस्पति और अमलानन्द ने भी यही सिद्धान्त स्वीकार किया है। अमलानन्द ने वाचस्पति को ही इस मत का प्रवर्तक माना है— "शास्त्रदृष्टिर्मा तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परम्"[42] अर्थात् वाचस्पति उसे "शास्त्रदृष्टि" मानते हैं। मण्डन के द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्त वाचस्पति द्वारा स्वीकार किया गया और परवर्ती आचार्यों द्वारा वह सिद्धान्त वाचस्पति के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया।

सुरेश्वर का मत इसके विपरीत है। उन्होंने नैष्कर्म्यसिद्धि में उपनिषदों के शब्द प्रमाण से ही ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान माना है। जैसे दसवें व्यक्ति से यह कहने पर कि तुम ही दसवें हो, उसे ज्ञान हो जाता है और उनके नौ रह जाने की भ्रांति मिट जाती है वैसे ही तत्त्वमसि वाक्य से यह ज्ञान हो जाता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ।[43] सुरेश्वर मानते हैं कि शब्द ज्ञान सदा परोक्ष नहीं होता। उससे अपरोक्ष ज्ञान भी सम्भव है। "तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थपरिज्ञानं ततोऽविद्योच्छेदस्ततश्च स्वात्मन्येवावस्थानं"[44] अर्थात् तत्त्वमसि आदि वाक्यों के अर्थ का परिज्ञान होता है, उससे अविद्या का उच्छेद होता है और तभी उससे अपने आत्मा में अवस्थिति हो जाती है। यही मुक्ति है।

सुरेश्वर मण्डन आदि उन विद्वानों की निन्दा करते हैं जो श्रुतिवाक्यों के श्रवण से केवल परोक्ष ज्ञान मानते हैं और अपरोक्ष ज्ञान के लिए मनन-निदिध्यासन रूप प्रसंख्यान की अपेक्षा रखते हैं।

शब्दज्ञानविधावेवं वेदान्तेषु निराकृते।
अपरे पण्डितम्मन्या विध्यन्तरमिहोचिरे॥[45]

अर्थात् वेदान्त में इस रीति से शब्दज्ञान की विधिपरकता असिद्ध होने पर भी अपने को मिथ्या में ही पंडित मानने वाले वेदान्त में विध्यन्तर अंगीकार करते हैं। सुरेश्वर के विचार से वे लोग अपने सम्प्रदाय के बल में शास्त्र-विपरीत मत स्थापित करने का दुःसाहस करते हैं— "केचित्स्वसंप्रदायबलावष्टम्भादाहुः"[46] अर्थात् कई लोग अपने सम्प्रदाय-बल से प्रेरित होकर ऐसा कहते हैं।

विद्यारण्य के मत में श्रुति वाक्य दो प्रकार के हैं— महावाक्य तथा अवान्तर वाक्य। अवान्तर वाक्यों से परोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है और महावाक्यों से अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान।

अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत्।
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः॥47

अर्थात् उपनिषद् के अवान्तर वाक्यों से तो परोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है और महावाक्यों के द्वारा अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान होता है।

विद्यारण्य इस मत का स्पष्ट खण्डन करते हैं कि श्रुति वाक्य के श्रवण से केवल परोक्षज्ञान होता है।

एवं सति महावाक्यात् परोक्षज्ञानमीर्यते।
यैस्तेषां शास्त्रसिद्धान्तविज्ञानं शोभतेतराम्॥[48]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् लंगड़ा होने पर भी जो लोग कहते हैं कि महावाक्यों के श्रवण से केवल परोक्ष ज्ञान होता है उनका शास्त्रसिद्धान्तों का परिज्ञान हँसी के योग्य है।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मनन और निदिध्यासन का कोई प्रयोजन नहीं है। वे श्रवण से ब्रह्मज्ञान मानते हैं और मनन-निदिध्यासन से उसकी दृढ़ता प्राप्त करना आवश्यक बताते हैं।

अस्तु बोधोऽपरोक्षोत्र महावाक्यात् तथाप्यसौ।
न दृढ श्रवणादिनामाचार्यैः पुनरीक्षणात्॥[49]

अर्थात् यद्यपि महावाक्य के श्रवण से अपरोक्ष ज्ञान होता है किन्तु उतने से वह दृढ़ नहीं हो जाता। अतः शंकराचार्य ने वाक्यार्थज्ञान होने पर भी श्रवणादि माना है।

विद्यारण्य "विज्ञान प्रज्ञां कुर्वीत" श्रुति वाक्य का भी तात्पर्य यही मानते हैं कि आत्मज्ञान होने पर भी जो विपरीत-भावना शेष रहती है वह मनन आदि से निवृत्त हो जाय। श्रवण से ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का ज्ञान होता है, मनन से शंका निवृत्ति होती है और निदिध्यासन से विपरीत-भावना नष्ट होती है। विपरीत-भावना नष्ट होने से व्यवहार विरल होता है। किन्तु ज्ञानी जानता है कि व्यवहार या विक्षेप उसके ज्ञान में बाधक नहीं है। वे तो मन के ही विकार हैं। अतः ज्ञानी निदिध्यासन आदि को अधिक महत्त्व नहीं देता है।[50]

(ग) ज्ञानकर्म समुच्चय एवं शंकर द्वारा उसका खण्डन

ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने में श्रवण के साथ मनन-निदिध्यासन की आवश्यकता के बिन्दु पर मण्डन और सुरेश्वर सम्प्रदायों में जो उपर्युक्त भेद उत्पन्न हो गया उसका मुख्य कारण ज्ञानकर्मसमुच्चय मानने, न मानने का भेद था। शंकराचार्य के पूर्व भगवद्गीता की व्याख्या ज्ञानकर्मसमुच्चयपरक की जा रही थी[51] किन्तु शंकराचार्य ने उसका घोर विरोध किया। उसी समय से अद्वैत वेदान्त के आचार्यों की परम्परा दो भागों में बँट गयी। मण्डन शंकर से सहमत न होकर ज्ञानकर्मसमुच्चय का समर्थन करते रहे और उसके पक्ष में तर्क एकत्र करते रहे। तिलक ने भी इसी पक्ष को युक्ति संगत माना है और मराठी के कवि वामन पण्डित को भी अपना पक्षधर माना है—

"The Bhagavatgita looks upon the Karma-Yoga as the most excellent path of life. It is not that I alone say so. Even the wellknown Marathi poet Vaman Pandit is of the same opinion".[52]

एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री भी इस मतभेद का कारण इसी प्रकार स्वीकार करते हैं—

"Mandana's exposition of the advaita doctrine was based mainly on a pre-Shankara phase of it, while Sureshvara's exposition ot that doctrine was entirely dependent upon its Shankara phase.[53]

शंकर ने कर्मज्ञानसमुच्चय का विरोध किया है किन्तु ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान के हेतु श्रवण के साथ मनन-निदिध्यासन की आवश्यकता भी स्वीकार की है। इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। मण्डन के द्वारा ज्ञानकर्मसमुच्चय का समर्थन और श्रवण के द्वारा परोक्ष ज्ञान तथा मनन और निदिध्सासन के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान का प्रतिपादन होने पर सुरेश्वर ने शंकर का समर्थन करने हुतु मण्डन के ज्ञानकर्मसमुच्चय के पक्ष में दी गयी युक्तियों का खण्डन किया और मनन-निदिध्यासन में कर्म की गंध पाकर ब्रह्मज्ञान के हेतु श्रवण को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ही पर्याप्त माना। उनके मत में श्रवण से ही परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ही सम्भव है। मनन और निदिध्यासन ब्रह्मज्ञान में सहायक नहीं है, वरन् प्राप्त ज्ञान को केवल दृढ़ करते हैं और आत्मभाव की वासना उत्पन्न करते हैं।

यहाँ "कर्मज्ञानसमुच्चय" के प्रश्न पर भी संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए।

शंकर का मत है— "न केवलेभ्यः कर्मभ्यो न च ज्ञानकर्मभ्यां समुच्चिताभ्यां निःश्रेयसप्राप्तिः"[54] अर्थात् मोक्ष न तो केवल कर्म से मिलता है और न ज्ञान-कर्म के समुच्चय से ही। कर्म अविद्यापूर्वक होते हैं और वे अविद्या के ही पोषक हैं। उनसे अविद्या का नाश नहीं हो सकता है। अविद्या का नाश विद्या से ही होता है और विद्या कर्मरूप नहीं है। "अविद्यापूर्वकस्य कर्मणो विद्या एव शुभस्य वा क्षयकारणम् अशेषतो न नित्यकर्मानुष्ठानमू"[55] अर्थात् अविद्यापूर्वक होने वाले सभी शुभाशुभ कर्मों का अशेषतः नाश करने वाला हेतु विद्या ही है, नित्यकर्म का अनुष्ठान नहीं।

कर्म से अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति, संस्कार, विकार या उत्पादन किया जा सकता है, किन्तु मुक्ति न अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति है, न उत्पाद्य है, न विकारी है और न संस्कार्य है। अतः वह कर्म साध्य नहीं है।[56]

कर्म और विद्या का विरोध होने के कारण शंकर न कर्म से विद्या की प्राप्ति मानते हैं और न कर्म और विद्या एक साथ स्वीकार करते हैं। "न अपि ज्ञानस्य कैवल्यफलस्य कर्मसाहाय्यापेक्षा अविद्यानिवर्तकत्वेन विरोधात्"[57] अर्थात् कैवल्य ही जिसका फल है ऐसे ज्ञान का कर्मों की सहायता भी अपेक्षित नहीं है। क्योंकि ज्ञान अविद्या का नाशक है, इसलिए उसका कर्मों से विरोध है। "हेतुस्वरूपफलविरोधात्"[58] अर्थात् उनके हेतु स्वरूप और फलों में विरोध है। "सहसम्भवानुपपत्तेः"[59] अर्थात् इन दोनों का साथ रहना सम्भव नहीं है। विद्या के उत्पन्न होने पर अविद्या का नाश हो जाता है और फिर उसी आश्रय में अविद्या की उत्पत्ति हो सकती। अविद्यासम्भवात्तदुपादानस्य कर्मणोऽन्यनुपपत्तिम्"[60] अर्थात् अविद्या के असम्भव हो जाने पर उसके आश्रय से होने वाले कर्म भी नहीं हो सकते। "जिसमें कारक और फल का भेद स्वीकार किया गया है उस कर्म के साथ के साथ सम्पूर्ण भेददृष्टि से रहित ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान का रहना संगत नहीं है।"[61]

अपने सत् स्वरूप का अज्ञान केवल ज्ञान से ही नष्ट हो सकता है। उसके हेतु कर्म कारगर नहीं हो सकता। "अकार्यत्वात् च निःश्रेयसस्य कर्मसाधनत्वानुपपत्तिः। न हि नित्यं वस्तु कर्मणा ज्ञानेन वा क्रियते।"[62] अर्थात् मोक्ष अकार्य है, इसलिए कर्मों को उसका साधन मानना नहीं बन सकता। कोई भी नित्य वस्तु कर्म या ज्ञान से उत्पन्न नहीं की जाती।

ज्ञान प्राप्त होने पर पूर्णता और तृप्ति का अनुभव होता है। इस अवस्था में कामना न रह जाने से कर्म करना सम्भव नहीं होता। "कैवल्यफले हि ज्ञानं प्राप्त क्रियाफलार्थित्वाभावात् फलान्तरे तत्साधनभूतायां वा क्रियायाम् अर्थित्वानुपपत्तिः"[63] अर्थात् जिसका फल कैवल्य है उस ज्ञान के प्राप्त होने के पश्चात् कर्म फल की इच्छा नहीं रह सकती अतः फलान्तर की या उसकी साधनभूत क्रिया की इच्छुकता नहीं रह सकती।

अपने मत के समर्थन में शंकर यह श्रुति प्रमाण देते हैं कि ज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति का कोई रास्ता नहीं है। "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"[64] अर्थात् उस परमात्मा को जानकर ही मनुष्य मृत्यु से तरता है, मोक्ष प्राप्ति के लिए दूसरा मार्ग नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शंकर के इन उद्धरणों का केवल यही तात्पर्य है कि कर्म मुक्ति प्राप्ति में सीधे सहायक नहीं है, न अकेले और न ज्ञान के साथ। किन्तु वे ज्ञान प्राप्त करने में कर्म को परोक्ष रूप से सहायक मानते हैं, वही केवल निष्काम कर्म को; क्योंकि उससे चित्त शुद्ध होता है और शुद्ध चित्त तत्त्व चिन्तन के लिये उपयोगी है। "धर्मः ईश्वरार्पणबुद्धया अनुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसन्धिवर्जिताः"[65] अर्थात् फल कामना छोड़कर ईश्वरअर्पण बुद्धि से किया जाने पर अन्तःकरण की शुद्धि करने वाला है। "कर्मणा विशुद्धि हेतुत्वात्, कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्ति आत्मानमुपनिषत्प्रकाशितम् प्रतिबन्धने वेदितुम्"[66] अर्थात् कर्म चित्त शुद्धि के हेतु है; कर्मों से संस्कार युक्त हुए विशुद्ध चित्त पुरुष ही उपनिषद् प्रकाशित आत्मा को विना किसी रुकावट के ज़ान सकते हैं "आत्मानं चेल्लोकमिच्छति यः तस्य सर्वक्रियोपरम एव" अर्थात् आत्मलोक ही इच्छा है, उसके सम्पूर्ण क्रियाओं से उपरत होना ही आत्मलोक का मुख्य एवं अन्तरंग साधन है।

मण्डन शंकर के कर्म-ज्ञान विरोधी सिद्धान्त से सहमत नहीं है। वे अपने समय तक प्रतिपादित कर्मविषयक सात सिद्धान्तों का उल्लेख कर दो के प्रति अपनी सहमति प्रकट करते हैं और पाँच का खण्डन करते हैं। उन्हीं पाँच में शंकर का मत भी है। वे सातों सिद्धान्त इस प्रकार हैं[68]— (1)वैदिक कर्म करने से स्वर्गादि प्राप्त करने की कामना होती है और स्थूल शरीर से आसक्ति नष्ट होती है। यह उपलब्धि आत्मज्ञान के लिये भी उपयोगी है। (2) कामना मनुष्य को परमात्मदर्शन के अयोग्य बनाती है। कर्म के द्वारा कामना का क्षय हो जाता है और बहुत काल बाद प्रजापति का पद प्राप्त कर परमाद्वैत दर्शन का अधिकार मिल जाता है। (3) ऋणत्रय से मुक्त होने के लिए कर्म करना आवश्यक है। ऋणों से छुटकारा पाने पर व्यक्ति ज्ञान का अधिकारी होता है। (4) वैदिक कर्मों का फल दो प्रकार का है— एक तो विषय भोग और दूसरे आत्मज्ञान। (5) सभी वैदिक कर्म मनुष्य के चित्त को शुद्ध करने वाले और आत्मज्ञान के योग्य बनाने वाले हैं। (6) आत्मज्ञान तो कर्त्ता के चित्त को शुद्ध करने वाले हैं। शुद्ध चित्त व्यक्ति ही कर्मकाण्ड में प्रतिपादित कर्मों को विधिपूर्वक करने का अधिकारी होता है। (7) कर्म और ज्ञान परस्पर विरोधी हैं। एक द्वैत और दूसरा अद्वैत-विषयक होने से उनमें कोई सम्बन्ध नहीं है।

मण्डन इनमें से चौथा और पाँचवा मत मानते हैं। चौथे मत के अनुसार कर्म अपना फल भोग कराने के अतिरिक्त आत्मज्ञान का अधिकारी भी बनाता है। "सर्वकर्ममणा मेंवात्मज्ञानाधिकारानुप्रवेशमाहुः— विविदिषन्ति यज्ञेन— इति श्रुतेः"[69] अर्थात् सभी कर्मों से आत्मज्ञान के अधिकार में प्रवेश होता है, इसलिए श्रुति कहती है कि यज्ञ से ज्ञान प्राप्त होता है। पाँचवे मत के अनुसार कर्म पुरुष का संस्कार करने वाले हैं— "पुरुषसंस्कारतयात्मज्ञानाधिकारसंस्पर्श कर्मणां वर्णयन्ति"[70] अर्थात् कर्म पुरुष का संस्कार करके आत्मज्ञान का अधिकारी बनाते हैं।

इसप्रकार मण्डन का यह दृढ़ विश्वास है कि अग्निहोत्र आदि कर्म करने से व्यक्ति महाकाव्य श्रवण के द्वारा प्राप्त परोक्ष ज्ञान पर मनन-निदिध्यासन का अधिकारी बनता है और उससे आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

मण्डन कर्म-त्याग और संन्यासपूर्वक भी ब्रह्मज्ञान और मुक्ति स्वीकार करते हैं। संन्यासी को शम, दम, अपरिग्रह आदि का अभ्यास कर्म-त्याग के द्वारा करना होता है। वह यज्ञादि का सहारा नहीं लेता, इसलिए उसे विलम्ब होता है। गृहस्थ यज्ञ करता हुआ चित्त शुद्ध कर ज्ञानाभ्यास से शीघ्र मुक्त हो सकता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है। अपने इस मत के समर्थन के लिए वे ब्रह्मसूत्र उद्धत करते हैं— "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेस्त्ववत्"[71]— ब्रह्मविद्या अपनी उत्पत्ति में सभी आश्रम कर्मों की अपेक्षा करती है क्योंकि श्रुतियाँ यज्ञ आदि में ज्ञानोत्पत्ति की हेतुता प्रतिपादित करती हैं, अश्व के समान। इसकी व्याख्या करते हुए मण्डन लिखते हैं "यज्ञेनदानेन इति श्रवणात् कर्माण्यपेक्ष्यन्ते विद्यायामभ्यासलभ्यायामपि यथान्तरेणाप्यश्वं ग्रामप्राप्तौ सिद्धन्त्यां शैघ्रयायाक्लेशाय वाश्वोऽपेक्ष्यते"[72] अर्थात् श्रुतियों में यज्ञ-दान से श्रवण किया जाता है, इसलिए विद्या के अभ्यास में कर्म की अपेक्षा है, जैसे ग्राम प्राप्ति में अश्व से यात्रा करने पर शीघ्रता होती है और क्लेश नहीं होता है।

इस प्रकार मण्डन यद्यपि ज्ञान से मुक्ति स्वीकार करते हैं किन्तु कर्मसहित ज्ञान के अभ्यास से वे उसमें शीघ्रता और सरलता मानते हैं। यही उनका "ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद" है।

उसी ब्रह्मसूत्र को शंकर भिन्न दृष्टि से देखते हैं वे कहते हैं— विद्या सर्व आश्रम कर्मों की अपेक्षा करती है, उसे अत्यन्त अनपेक्षा नहीं है। इसका तात्पर्य है कि विद्या फलसिद्धि के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करती, किन्तु अपनी उत्पत्ति के लिए तो अपेक्षा करती है। श्रुति आश्रम कर्मों में विद्या के प्रति साधन भाव सूचित करती है। जैसे योग्यतावश अश्व हल खींचने में नियुक्त नहीं किया जाता, किन्तु रथ खींचने में नियुक्त किया जाता है, वैसे आश्रम कर्म विद्या से फलसिद्धि में अपेक्षित नहीं किन्तु उसकी उत्पत्ति में तो अपेक्षित है।[73] इस प्रकार शंकर के मत में आश्रम कर्म से विद्या और विद्या से मुक्ति है। कर्म मुक्ति में सीधे सहायक नहीं हैं अतः यह मत कर्मज्ञानसमुच्चय का विरोधी है।

सुरेश्वर शंकर के ही पक्षधर हैं और कर्मसंन्यास के द्वारा ही मुक्ति सम्भव मानते हैं। "जैसे मनुष्य नरक के भय से अशुभ कर्म से भयभीत होता है, वैसे ही मुक्ति कामी को काम्य कर्मों के दोष समझ कर उनसे दूर रहना चाहिए।"74 चित्तशुद्धि के लिये निष्काम कर्म किये जा सकते हैं:

शुध्यमानं तु तच्चित्तमीश्वरार्पित कर्मभिः।
वैराग्यं ब्रह्मलोकादौ व्यनक्त्यय सुनिर्मलम्॥[75]

अर्थात् चित्त को शुद्ध करने के लिये ईश्वरार्पित कर्म करने चाहिए और ब्रह्मलोक तक के भोग पदार्थों में निर्मल वैराग्य रखे। ग्रन्थ के उपसंहार में वे कहते हैं:

नाविरक्ताय संसारान्नानिरस्तैषणाय च।
न चायमवते देयं वेदान्तार्थप्रवेशनम्॥[76]

अर्थात् जो संसार से विरक्त न हो, जिसकी एषणायें निरस्त न हो गयी हों और जिसने यम आदि का अभ्यास न किया हो उसे यह वेदान्त अर्थ में प्रवेश कराने वाले प्रकरण-ग्रंथ नहीं देना चाहिए। "निरस्तसर्वकर्माणः"[77] ही ज्ञान का अधिकारी है।

सुरेश्वर ही नहीं, शंकर के अन्य कोई अनुयायी ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का समर्थन नहीं करते। एक मण्डन ही ऐसे अद्वैतवादी हैं जो शंकर की परम्परा से हटकर अपना स्वतंत्र मत रखते हैं और ज्ञानकर्मसमुच्चय के समर्थन में तर्क खोज निकालते हैं। उसका एक उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण फल होता है कि अद्वैतदर्शन अनैतिक होने के आक्षेप से बच जाता है। यदि श्रवण के साथ वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए मनन-निदिध्यासन करना आवश्यक माना जाय और वैसा करते हुए ही मुक्ति प्राप्त करे तो व्यक्ति को अनैतिक आचरण करने का अवसर न मिलेगा। केवल श्रवण से मुक्ति का परम पुरुषार्थ सिद्ध होना सम्भव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मानने से नैतिकता की आवश्यकता नहीं रह जाती। सम्भव है इसी विचारबिन्दु ने तिलक को भी गीता का नीतिशास्त्र का अध्ययन करने में ज्ञानकर्मसमुच्चय की ओर आकर्षित किया हो। लोकजीवन में नैतिकता की उपेक्षा करना न्यायसंगत नहीं है। उसे दार्शनिक नियुक्तियों का समर्थन मिलना निश्चय ही आवश्यक है। इस विचार से तिलक का ज्ञानकर्मसमुच्चय की ओर आकर्षित होना सम्भव हो सकता है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि शंकर या सुरेश्वर आदि ने ज्ञानकर्मसमुच्चय का विरोध कर अपने अद्वैतवेदान्त को अनैतिक बना दिया है। उनके मत से मुक्ति ज्ञान द्वारा ही होती है और ज्ञान महावाक्य के श्रवण और उसके अर्थ अनुसन्धान से होता है, किन्तु यह सरल सा प्रतीत होने वाला कार्य सर्वसाधारण के द्वारा सम्पादित होना सम्भव नहीं है। विवेक आदि साधन-चतुष्टय से सम्पन्न व्यक्ति ही श्रवण आदि का अधिकारी है। ये गुण नैतिक आचरण के फलस्वरूप ही उपलब्ध होते हैं। अनैतिक मनुष्य न निष्काम कर्म कर सकता है और न कर्म करने में ईश्वरार्पण भाव रख सकता है। इसलिए ज्ञान का अधिकारी बनने के लिए उच्चकोटि के नैतिक आचरण का पालन करना आवश्यक है।

(घ) व्यावहारिक जीवन

अद्वैतवेदान्त के अनुसार ईश्वर की नामरूपात्मक माया से ही यह समस्त जगत् निर्मित है। जैसे माया "सन्नाप्यसन्नापि उभयात्मिकानो"[78] है वैसे ही उससे निर्मित जगत् भी न सत् है, न असत् है और न उभयात्मक है। इसकी प्रकृति न आकाशकुसुम के समान अलीक है और न परब्रह्म की भाँति नित्य सत् है। उपनिषदों के ऋषियों ने भी जगत् को कोरी कल्पना या आभासमात्र कहीं नहीं कहा है और न उन्होंने व्यावहारिक जीवन से भागने का प्रयास किया है। "सर्वं खलु इदं ब्रह्म"[97] कह कर वे जगत् का ब्रह्म का रूप ही प्रतिपादित करते हैं। "नेति नेति"[80] या "वाचारम्भण विकारो नामधेयं"[81] आदि वाक्यों में जगत् के मिथ्यात्व के संकेत अवश्य मिलते हैं किन्तु परमतत्त्व का प्रतिबोध कराने के लिए ही ऐसा किया गया है। वेदों का कर्मकाण्डीय भाग व्यावहारिक जीवन के सत्यत्व में किंचित् शंका नहीं उत्पन्न करता। वह जगत् में विद्यमान जीवों के हेतु कल्याणकारी मार्ग निरूपित करता है।

ब्रह्मसूत्र में परमात्मा को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण सिद्ध किया गया है किन्तु जगत् को मायिक या मिथ्या कहने में कोई रुचि नहीं दिखाई गयी है। भगवद्गीता में जगत् को परमात्मा से उत्पन्न और उसी पर आश्रित दिखाया गया है। किन्तु उसका यह निर्णय नहीं निकाला गया कि जगत् है ही नहीं अथवा वह मिथ्या है।

गौडपादाचार्य, परम सत् का प्रतिपादन करने के एकमात्र उद्देश्य के कारण, जगत् के सम्बन्ध में "अजातवाद" का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं, किन्तु पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताओं का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। वे जगत् को व्यावहारिक सत्ता मानकर उसे स्वप्न के समान सिद्ध करते हैं। जैसे, स्वप्न से जागे हुए व्यक्ति को स्वप्न का मिथ्यात्व अनुभव होता है वैसे ही आत्मज्ञानी को व्यावहारिक जीवन भी मिथ्या प्रतीत होता है। फिर भी अज्ञानी जीव के लिए व्यवहार है ही और उसी के लिए समस्त शास्त्र हैं। जाग्रत् अवस्था में अनुभव होने वाली व्यावहारिक सत्ता और स्वप्न की प्रातिभासिक सत्ता में अन्तर है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। "संवृत्या जायते सर्वं"[82] अर्थात् सारे पदार्थ व्यावहारिक दृष्टि से उत्पन्न होते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शंकर ने परमार्थ, व्यवहार और प्रतिभास का स्पष्ट और सुनिश्चित उल्लेख किया है। "सत्यं च व्यवहारविषयमधिकारान्न परमार्थसत्यम्। एकमेव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म। इस पुनर्व्यवहारविषयमापेक्षिकं सत्यम्, मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षयोदकादि सत्यमुच्यते। अनृतं च तद्विपरीतम्"[83] अर्थात् यहाँ व्यवहार का ही प्रसंग है, परमार्थ सत्य नहीं। परमार्थ सत्य तो एकमात्र ब्रह्म ही है। यहाँ तो केवल व्यवहारविषयक आपेक्षिक सत्य से ही तात्पर्य है, जैसे कि मृगतृष्णा आदि असत्य की अपेक्षा से जल आदि को सत्य कहते हैं तथा अनृत इस (व्यावहारिक सत्य) से विपरीत है।

परमार्थ सत् से व्यवहार की तुलना करते हुए शंकर कहते हैं कि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान के पूर्व व्यवहार सत् है। आत्मज्ञान से इसकी सत्यता बाधित होती है। "सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः स्वप्न व्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत्प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते।"[84] अर्थात् जैसे जागने के पूर्व सब स्वप्न व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं, बस इसी प्रकार ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान के पूर्व सब व्यवहार भी सत्य हो सकते हैं। जब तक सत्य आत्मैक्य प्रतिपत्ति नहीं होता तब तक प्रमाण, प्रमेय और फलरूप विकारों में किसी को भी मिथ्यात्व बुद्धि नहीं होती।

शंकर ने व्यावहारिक सत्ता को प्रातिभासिक सत्ता से पृथक् माना है। भ्रान्तिमान प्रतीतियाँ ही प्रातिभासिक सत्ता है। उदाहरणार्थ, रज्जु व्यावहारिक सत्ता है और उस पर सर्प की भ्रान्त प्रतीति प्रातिभासिक सत्ता है। सामान्यरूप से हम कहते हैं कि कल्पित सर्प मिथ्या है, क्योंकि रज्जु का बोध होने पर सर्प-बुद्धि का बाध हो जाता है। व्यवहार में रज्जु का बाध नहीं देखा जाता है; अतः वह व्यावहारिक सत् है। इसी प्रकार, जो जल हमारी प्यास बुझाता है वह मृगतृष्णा के जल की तुलना में अवश्य सत्य है।[85] सामान्य व्यक्ति अपने अनुभव की वस्तुयें असत्य नहीं मानता। इन वस्तुओं की व्यावहारिक उपयोगिता इतनी अधिक है और वे हमारी चेतना में बारम्बार उपलब्ध होकर अपनी सत्ता को इतना अधिक सिद्ध करती रहती हैं कि बहुत विचार करने पर भी इनकी असत्यता मानने में कठिनाई होती है।

परमार्थ, व्यवहार और प्रतिभास तीनों ही अभावरूप आकाशकुसुम आदि से विपरीत हैं। शंकर अभावरूप शशविषाण आदि को असत् मानते हैं और उनका लक्षण यही है कि उनकी उत्पत्ति कभी नहीं देखी जाती। "असतः शशविषाणादेः समुत्पत्यदर्शनात्"[86] अर्थात् असत् होने के कारण शशविषाण आदि की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। "बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि जायते"[87] अर्थात् बन्ध्यापुत्र न तत्त्व से और न माया से ही उत्पन्न होता है। ऐसे पदार्थ निरात्मक होते हैं और उनसे कोई व्यवहार नहीं हो सकता। "न हि निरात्मकं किंचिद् व्यवहारायावकल्पते"[88] अर्थात् निरात्मक वस्तुओं से व्यवहार करने की कल्पना नहीं हो सकती।

तात्पर्य यह कि व्यावहारिक जगत् परमार्थ ब्रह्म की भाँति नित्य और सत् नहीं है, किन्तु वह न निरात्मक होकर अभावरूप है और न भ्रान्ति के समान मिथ्या। वह सत्-असत् से विलक्षण है।[89] विमुक्तात्मा यह स्वीकार करते हैं कि विश्व को अनिर्वचनीय कहने से उसके स्वरूप के सम्बन्ध में हमारी अज्ञानता प्रकट होती है और यदि विश्व के सम्बन्ध में अज्ञानता स्वीकार कर ली जाय तो अद्वैत दर्शन एक दर्शनिक सिद्धान्त होने से वंचित रह जायगा। यह व्यावहारिक जगत् जीव की अविद्या की अपेक्षा से है। जीव के अविद्याकाल में जगत् सत्य है और अविद्या के नष्ट होने पर ब्रह्मात्मैक्य बोध होता है और जगत् के नानात्वपूर्ण पदार्थों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का बाध हो जाता है। जीव की इन दोनों अवस्थाओं का ध्यान रखकर शंकर उसके जीवन के दो लक्ष्य अभ्युदय और निःश्रेयस निर्धारित करते हैं।

धर्म का प्रयोजन प्राणियों को अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कराना ही है : "प्राणिनां साक्षात् अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः यः स धर्मः"[90] अर्थात् धर्म प्राणियों के अभ्युदय और निःश्रेयस का हेतु है। इसमें प्रवृत्ति से अभ्युदय और निवृत्ति से निःश्रेयस सम्भव है। "अभ्युदयार्थः.....प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः"[92] अर्थात् निःश्रेयस का लक्षण है संसार से अत्यन्त उपरत हो जाना। इस प्रकार शंकर ने जीवनोत्कर्ष के दो प्रमुख स्तर कर दिये हैं।

अभ्युदय का अर्थ है व्यावहारिक जीवन का उत्कर्ष।[93] किन्तु व्यावहारिक जीवन की सीमा इसी जीवन के जन्म और मृत्यु के बीच आबद्ध न होकर स्वर्गादि तक विस्तीर्ण है। स्वर्गलोक भी प्राणी के अभ्युदय का एक स्तर है और वहाँ का जीवन भी व्यावहारिक है। "स देवादिस्थान प्राप्ति हेतुः"[94] अर्थात् वह स्वर्गादि की प्राप्ति का साधन है।

समस्त व्यावहारिक जीवन अभ्युदय नहीं है। भगवद्गीता के आधार पर शंकर व्यावहारिक जीवन को तीन कोटियों में बाँटते हैं– ऊर्ध्व, मध्य और अधः। अधोगति का अर्थ है पशु-पक्षी आदि योनियों को प्राप्त करना। "अधो गच्छन्ति पश्वादिषु उत्पद्यन्ते"[95] अर्थात् पशु-पक्षी आदि योनियों में उत्पन्न होना ही अधोगति है। इसे अभ्युदय नहीं कहा जा सकता।

प्राणी की मध्य स्थिति मनुष्य योनि है: "मध्ये तिष्ठन्ति मनुष्येषु उत्पद्यन्ते"[96] अर्थात् मनुष्य योनि में उत्पन्न होना प्राणी की मध्य स्थिति है। पशु योनियों की अपेक्षा उच्च होने के कारण यह अभ्युदय के अन्तर्गत भले ही मान ली जाय किन्तु गीता आदि शास्त्र और शंकर इसे अभ्युदय नहीं मानते, क्योंकि इस स्तर के पुनः तीन विभाजन हो सकते हैं– दैवी, आसुरी और राक्षसी प्रकृति के मनुष्य। इनमें आसुरी और राक्षसी प्रकृति मोह उत्पन्न करती है–

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृति मोहिनींश्रिताः।[97] अर्थात् राक्षसी और आसुरी प्रकृतियाँ मोह उत्पन्न करती हैं। शंकर इसका परिणाम हीन गति और नैतिक मूल्यों का ह्रास बताते हैं। "राक्षसीं प्रकृतिं आश्रिताः द्विन्धि भिन्धि पिव खाद परस्वम् अपहर इति एवं वदनशीलाः क्रूरकर्मणो भवन्ति।"[98] अर्थात् राक्षसी प्रकृति के आश्रित हो तोड़ो, फोड़ो, पियो, खाओ, दूसरों का धन लूट लो इत्यादि वचन बोलने वाले और बड़े क्रूर कर्मी हो जाते हैं। इस दशा में प्राणी का अभ्युदय नहीं है।

"अभ्युदय" का अर्थ भौतिक सम्पन्नता ही है, किन्तु शास्त्रसम्प्रति के विपरीत क्रूरकर्मी के द्वारा धन और विषयभोग के पदार्थों का संग्रह अभ्युदय नहीं है। अभ्युदय मनुष्य की वह उन्नतशील दशा है जिसमें वह अपने ऊपर नियन्त्रण रखते हुए, अपने मन को शान्त रखते हुए और समस्त लोक के कल्याण का ध्यान रखते हुए लौकिक सुखों के साधन या स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति का प्रयास करता है और इस प्रकार जो कुछ पाता है उसे ही सुखदायी मानता है। तात्पर्य यह है कि अभ्युदय के हेतु कर्मशास्त्र ही प्रमाण मानने योग्य है।[99] जो मनुष्य शास्त्र का अनादर कर स्वेच्छाचार से सुखी होना चाहते हैं वे कभी सफल नहीं होते।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कार्यकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्॥[100]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् जो मनुष्य शास्त्र के विधान को त्याग कर अपनी कल्पना से प्रेरित होकर कर्म करते हैं वे न तो सिद्धि पाते हैं और न लौकिक-पारलौकिक सुख के ही भागी होते हैं।

अभ्युदय की प्राप्ति में मनुष्य का कर्म और देवता की प्रसन्नता दोनों आवश्यक हैं। मनुष्य जो कर्म देवताओं की पुष्टि के लिए करता है वे यज्ञ कहलाते हैं। शंकर कहते हैं, "तुम यज्ञ के द्वारा देवों को बढ़ाओ और देव वृष्टि आदि द्वारा तुम्हें बढ़ावेंगे। इस प्रकार एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम उच्चता प्राप्त करोगे।"[101] यही अभ्युदय है। देवता प्रकृति की नाना अधिष्ठात् शक्तियाँ हैं जिनके समष्टि और व्यष्टि दो रूप हैं। प्रकृति की शक्तियों का दोहन करने से ही इष्ट भोग्य पदार्थ प्राप्त होते हैं, किन्तु उसके बदले में मनुष्य प्रकृति की आवश्यकता भी पूर्ण करता है। "जो मनुष्य प्रकृति की शक्तियों (देवों) द्वारा दिये हुए भागों को उनका ऋण चुकाये विना खाता है वह केवल अपने शरीर और इन्द्रियों को ही तृप्त करता है और देवताओं का स्वत्त्व हरण करने वाला चोर है।"[102]

अभ्युदय पुरुषार्थ है। उससे मनुष्य को लौकिक सुख प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु इस सुख का विश्लेषण कर देखते हैं कि यह जीवन की सर्वोच्च स्थिति नहीं है। इसके दोषों का उल्लेख शंकर ने इस प्रकार किया है:

(1) कर्म के द्वारा प्राप्त होने वाले भोग्य पदार्थ नश्वर है। स्वर्ग आदि की प्राप्ति भी सदा के लिए नहीं होती। "पुण्यजितो लोकः क्षीयते"[103] अर्थात् पुण्य कर्म से प्राप्त हुआ लोक क्षीण हो जाता है। लोक प्राणियों के अनुभव क्षेत्र को कहते हैं। शुभ कर्म के फलस्वरूप एक ऐसे अनुभव क्षेत्र में पहुँच जाता है जहाँ उसे सुख का अनुभव होता है। वही उसका स्वर्ग है, किन्तु उस सुख की तीव्रता और स्थायित्व कर्मशक्ति से निर्धारित होता है। कर्म भौतिक और विनाशी है। अतः उसका फल भी विनाशी है। "अनित्या मध्यक्षणभावित्वाद्"[104] अर्थात् केवल बीच के क्षण में ही प्रतीत होने वाले अनित्य हैं।

(2) शंकर ने अभ्युदय को "पराधीनोभोगः"105 भी माना है। तात्पर्य यह है कि अभ्युदय में जिस सुख का अनुभव होता है वह पराधीन है। यह सुख भोग्य पदार्थ और इन्द्रियों के अधीन है। यदि विषय नष्ट हुआ तो सुख भी नष्ट हो जाता है। यदि इन्द्रियाँ समर्थ न हुईं तो भी सुख प्राप्त न होगा।

(3) इसके अतिरिक्त अभ्युदय का सुख तृप्ति नहीं देता है, इसलिए गीता में इसे "दुष्पूरेणानलेन"[106] कहा है और शंकर कहते हैं कि काम अति कष्ट से पूरित होता है तथा मनुष्य को भागों से कभी तृप्ति नहीं होती।[107]

(4) शंकर के अनुसार अभ्युदय लौकिक सुख है, किन्तु वह मृगतृष्णा के समान आभासमात्र है। वस्तुतः लोक में कहीं गन्धमात्र भी सुख नहीं है। "न संसारे सुखस्य गन्धमात्रम् अपि अस्ति, इति बुद्ध्वा विषयमृगतृष्णिकाया इन्द्रियाणि निवर्तयेत्।"[108] अर्थात् संसार में सुख की गन्धमात्र भी नहीं है, यह समझ कर विषयरूप मृगतृष्णा से इन्द्रियों को हटा लेना चाहिए।

(5) अभ्युदय में प्राप्त होने वाले भोग और ऐश्वर्य ऐसा मोह उत्पन्न करते हैं जिससे निःश्रेयस प्राप्त करने का विचार उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार यह जीवन की पूर्णता प्राप्त करने में बाधक है, यह हमारी प्रगति को अवरुद्ध करता है। "भोगैश्वर्ययोः एव प्रणयवतां आच्छादितविवेकप्रज्ञानां सांख्ये योगे वा बुद्धिः न भवति"[109] अर्थात् भोग और ऐश्वर्य में ही जिनका राग हो गया है और जिनकी विवेक बुद्धि आच्छादित हो गयी है उनकी बुद्धि सांख्य या योग में नहीं ठहरती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कठोपनिषद् में प्रेय और श्रेय जीवन के दो मार्ग बताये गये हैं— "श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य"[110] अर्थात् श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य के पास आते हैं। शंकर इन दोनों मार्गों का सम्बन्ध निःश्रेयस और अभ्युदय से मानते हैं। श्रेय मार्ग से मुक्त प्राप्त होती है और प्रेय मार्ग से अभ्युदय का लाभ होता है।

"श्रेयः प्रयेसोर्ह भ्युदायामृतत्वार्थो पुरुषः प्रवर्तते"[111] अर्थात् अभ्युदय की इच्छावाला पुरुष प्रेय से और अमृतत्व का इच्छुक श्रेय से प्रवृत्त होता है।

प्रेय का तात्पर्य है— इन्द्रियों और मन को जो कुछ प्रिय लगता हैं उसकी कामना करते हुए उसे ही प्राप्त करने का प्रयास करना। इस मार्ग पर इन्द्रिय विषय ही प्रिय लगते हैं और उनके प्राप्त होने से अभ्युदय पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। इसके विपरीत श्रेय मार्ग पर अच्छा-बुरा या प्रिय-अप्रिय लगने को महत्त्व न देकर यह विचार किया जाता है कि जीवन के लिए कल्याणकारी क्या है। यहाँ शास्त्र और तर्क प्रमाण ही मान्य है। जिनमें विवेकशक्ति का अभाव है वे योगक्षेम के हेतुभूत प्रेय मार्ग का ही वरण करते हैं।112

श्रेय और प्रेय मार्ग प्रकाश और अंधकार के समान एक-दूसरे के विपरीत हैं। एक में विवेक और दूसरे में अविवेक की प्रधानता है। "विद्याविद्यारूपत्वाद्विरुद्धे"[113] अर्थात् विद्या और अविद्या रूप होने के कारण परस्पर विरुद्ध हैं।

निःश्रेयस मुक्ति का नाम है जो श्रेय का विचार करने से विवेक द्वारा प्राप्त होता है। यही जीवन का परम प्राप्तव्य या परम पुरुषार्थ है। केन उपनिषद् के अनुसार—

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टः।"[114]

अर्थात् यदि इस जन्म में ब्रह्म को जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्म में न जाना तब तो भारी हानि है। अतः श्रुति का आदेश है "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि"[115]— तु उस ब्रह्म को जानो। उसे जानकर प्राणी शोक से पार हो जाता है— "तम को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः"[116] उस अवस्था में एकत्व देखने वाले पुरुष को क्या मोह और क्या शोक हो सकता है। "तरति शोकमात्मवित्"[117]— आत्मवित् पुरुष शोक से पार हो जाता है। "निवाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते"[118]— उसे निश्चित रूप से जान कर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है। "ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूत् विमृत्युः"[119]— ब्रह्म को प्राप्त हुआ पुरुष विरज (शुद्ध) और विमृत्यु (अमर) हो गया। "य एयद्विदुरमृतास्ते भवन्ति"[120]— जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं। "ब्रह्मदेव ब्रह्मैव भवति"[121]— जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही को जाता है। भगवद्गीता के अनुसार भी मुक्ति ही परम प्राप्तव्य है:

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिक ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥[122]

अर्थात् जिसे प्राप्त कर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ नहीं मानता और जिसमें स्थित हुआ मनुष्य बड़े भारी दुःखों से विचलित नहीं होता है (वही निःश्रेयस है)। "स निश्चयेन भोक्तव्यो"[123]— उसका भोग निश्चय ही करना चाहिए।

गौडपाद परम पद का इस प्रकार निरूपण करते हैं:

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः।
यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते॥[124]

अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा स्वभाव से ही नित्य बोधस्वरूप और सुनिश्चित है— जिसे ऐसा समाधान हो जाता है वह अमरत्व प्राप्ति में समर्थ है। "स पूज्यः सर्वभूतानां"[125]— वह सब प्राणियों द्वारा पूज्य हो जाता है।

मुक्ति के विषय में शंकर का मत बहुत स्पष्ट है। वे ब्रह्म और आत्मा के एकत्व ज्ञान को ही मुक्ति मानते हैं और सभी उपनिषदों का यही उद्देश्य निर्धारित करते हैं। "अहं ब्रह्मा स्मीति ब्रह्मात्मतत्त्वमवगम्य निवृत्ताज्ञानतत्कार्यो वीतशोको भवति"[126] अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ— इस प्रकार ब्रह्मात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर वह अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति हो जाने के कारण शोकरहित हो जाता है। "तद्विज्ञानादमृतत्वम्"[127] अर्थात् उसके ज्ञान से अमृतत्व प्राप्त होता है। यही निःश्रेयस है। "आत्मज्ञानस्य तु केवलस्य निःश्रेयसहेतुत्वं भेदप्रत्ययनिवर्तकत्वेन कैवल्यफलावसानत्वात्"[128] अर्थात् केवल आत्मज्ञान ही निःश्रेयस का हेतु है क्योंकि भेद-प्रतीति का निवर्तक होने के कारण कैवल्य की प्राप्ति ही उसकी अवधि है।

इससे स्पष्ट है कि शंकर मुक्ति को नानात्वरहित ब्रह्मात्मैक्य बोध ही मानते हैं। इसका उल्लेख उन्होंने पद-पद पर अगणित बार किया है। इस अवस्था में ज्ञानी कर्म करता रहे तो भी वह उनसे लिप्त नहीं होता। "यावज्जीवं यथा कायं पुण्य-पापादिकं कुर्वत्यापि विदुषि न कर्मलेषा भवति विद्यासामर्थ्यात्"[129] अर्थात् विद्वान् स्वेच्छा से जीवनपर्यन्त पुण्य-पापादि कर्म करता भी रहे तो भी ज्ञान के सामर्थ्य से उन कर्मों को लेष नहीं होता है।[130]

आत्मवेत्ता मुक्त पुरुष शोक का अतिक्रमण कर जाता है। वह पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। वह आप्तकाय और पूर्णकाय होता है। वह पापशून्य हो जाता है। वह सम्पूर्ण लोकों और समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।[131] इसकी अविद्या आदि संसार के बीज का विशरण हो जाता है।[132] वह मृत्यु के मुख से छुटकारा पा जाता हैं मुक्त पुरुष का उत्कर्ष और अपकर्ष नहीं होता।[133] वह आकाश के समान सर्वव्यापक हो जाता है।[134]

साधन की दृष्टि से शंकर ने मुक्ति दो प्रकार की मानी है— सद्यः और क्रमिक। आत्मज्ञान से इसी जीवन में तत्काल मुक्ति हो जाती है, अतः इसे सद्यः मुक्ति कहते हैं। उपासना से क्रमशः उच्चलोकों की प्राप्ति होती है और अन्त में ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के मुख से ज्ञान सुन कर जो मुक्ति होती है वह क्रमिक मुक्ति कही जाती है। ज्ञान का विषय परब्रह्म है और उपासना का विषय अपर ब्रह्म है। "परं चेज्ज्ञातव्यमपरं चेत्प्राप्तव्यम्"[135] अर्थात् यदि पर ब्रह्म हो तो वह केवल जाना जा सकता है और यदि अपर ब्रह्म हो तो उसे प्राप्त किया जा सकता है।

उपनिषदों में ज्ञान और उपासना दोनों मार्गों का वर्णन है। शंकर ने उन दोनों का समर्थन और उन दोनों की व्याख्या की है। व्यक्तियों के अधिकार भेद से दोनों ही मार्ग अपना महत्त्व रखते हैं। जिस व्यक्ति का चित्त पर्याप्त शुद्ध नहीं है, वह आत्मा और ब्रह्म की एकता का विचार करने में समर्थ न होगा। वह निराश होकर यह न मान बैठे कि वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। उसे उपासना पद्धति अपनानी चाहिए और अपर ब्रह्म की उपासना करते हुए वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और सूक्ष्म अनुभवों के उच्च स्तर पर उठ सकता है। इन्हीं स्तर को "लोक" कहते हैं। "लोक शब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु भाष्यते— मनुष्यलोकः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पितृलोको देवलोकः''[136] अर्थात् लोक शब्द प्राणियों के भोग स्थानों में कहा जाता है, जैसे, मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक आदि।

शंकर के अनुसार ब्रह्मलोक प्राप्त करने की इच्छा वाले सब उपासक अर्चिरादि मार्ग से ही जाते हैं और उस लोक में दीर्घायुं हिण्यगर्भ (ब्रह्म) के अनन्त संवत्सर पर्यन्त रहते हैं।[137] इसे देवसान मार्ग भी कहते हैं। इस मार्ग को प्राप्त कर प्राणी अग्निलोक को जाता है, अनन्तर वह वायुलोक में, वरुणलोक में, इन्द्रलोक में, प्रजापति लोक में और तब ब्रह्मलोक में पहुँचता है।[138] इन लोकों के अधिष्ठातृ देवता उपासक को अपने से उच्चलोक में पहुँचा देते हैं ''चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति''[139] अर्थात् वे उपासक चन्द्रलोक से विद्युत् को प्राप्त होते हैं, वहाँ से वह अमानव पुरुष इन्हें सत्यलोक के ब्रह्म को प्राप्त करा देते हैं। इन उपासकों को मार्ग में मिलने वाले लोकों का सुख अनुभव नहीं होता किन्तु उन लोकों में वास करने वाले प्राणियों को उनका सुख अनुभव होता है। कारण यह है कि उन लोकों से होकर गुजरने वाले उपासकों की इन्द्रियाँ मन में लीन होकर एकीभूत रहती हैं। ''सपिण्डित करणत्वादेव गन्तृणां न तत्रोपभोग संभवः''[140] अर्थात् इन्द्रियाँ एकीभूत होने के कारण जाने वाले उपासकों को वहाँ भोग प्राप्त होना संभव नहीं है।

यह मार्ग अपुनरावर्ती है। इस मार्ग से ब्रह्मलोक पहुँचने वाला उपासक निम्न लोकों में नहीं लौटता है। ''इत्थं क्रममुक्तिरनावृत्त्यादिश्रुत्याभिक्षामेभ्योऽभ्युपगन्तव्या''[141] अर्थात् इस प्रकार क्रम मुक्ति अनावृत्ति आदि श्रुति वचनों से स्वीकार करनी चाहिए। महाप्रलय प्राप्त होने पर हिण्यगर्भ का अन्त होने पर ब्रह्मलोकवासी वे सब सत्त्वदर्शी ब्रह्मा के साथ परब्रह्म को प्राप्त होते हैं।[142]

उत्तम अधिकारी को मुक्ति तत्काल प्राप्त हो सकती है। वह महावाक्य सुनते ही अपने सत् स्वरूप का अनुभव कर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार प्राप्त होने वाली मुक्ति ''सद्यः'' कहलाती है। ''कर्माभावे गमनकरण अभावात् प्राणा वागादयो नोत्क्रमन्ति''[143] अर्थात् कर्मों का अभाव हो जाने के कारण गमन का कोई कारण न रहने से उसके वागादि प्राण उत्क्रमण नहीं करते। इसी क्रम में शंकर कहते हैं कि वह विद्वान् यहीं ब्रह्म हो जाता है। यद्यपि वह देहवान् सा दिखाई देता है किन्तु वह ब्रह्म को जान कर ब्रह्म ही हो जाता है। कामनायें ही जीव को ब्रह्म से पृथक् करती हैं। उनके नष्ट होने से भेद का कोई कारण नहीं है।

मुक्त पुरुष का पुनर्जन्म या शरीर त्याग कर कहीं गमन नहीं होता। ''न हि विदुषो मृतस्य भावान्तरापत्तिः''[144] अर्थात् मरे हुए विद्वान को भावान्तर की प्राप्ति नहीं होती। वह अपने सत् स्वरूप में स्थित होकर आकाश के समान पूर्णत्व और अनन्तत्व अनुभव करता है। मरण के समय वाणी की वृत्ति मन में लय हो जाती है, मन की वृत्ति प्राण में, प्राण की तेज में और तेज पर देवता अर्थात् परमात्मा में लीन हो जाता है।[145] इन सब के लय हो जाने के कारण उत्क्रमण का प्रश्न ही नहीं रहता है और न जन्मान्तर की प्राप्ति होती है। ''भूतोपादानाद्देहान्तरोत्पत्तिः''[146] अर्थात् भूतोपादान से ही अन्य देह की उत्पत्ति है। मुक्त पुरुष के यह भूतोपादान ही लय हो जाते हैं। अतः जन्मान्तर प्राप्त करने का साधन ही नहीं रह जाता है।

सद्यः मुक्ति के दो रूप हो सकते हैं– जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति। प्रथम प्रकार की मुक्ति शरीर रहते ही प्राप्त हो जाती है, किन्तु दूसरी मुक्ति शरीर नष्ट होने पर सिद्ध होती है। आत्मज्ञान प्राप्त होने के पूर्व किये हुए कर्म अनारब्ध या आरब्ध दो प्रकार के होते हैं। ज्ञान से ब्रह्मात्मैक्य का बोध होता है और उससे अनारब्ध कर्म नष्ट होकर प्रारब्ध कर्मों से शरीर चलता रहता है। यही जीवन मुक्ति है। ऐसा ज्ञानी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पुरुष प्रारब्ध कर्मों के प्रति उपेक्षा भाव रखता है। वह अपने अकर्त्ता स्वरूप का अनुभव करता हुआ उसी में स्थित रहता है। प्रारब्ध से उद्दिष्ट शरीर आदि वैसे ही चलते रहते हैं जैसे कुलातचक्र प्रतिबन्ध के सम्भाव न होने से वेगक्षय की प्रतीक्षा करता है।[147] बाधित हुआ भी मिथ्याज्ञान दो चन्द्रज्ञान के समान संस्कार के बल से कुछ समय तक अनुवर्तित होता ही है।[148] शरीर या पंचभूतों में विखण्डन होने और वाणी-मन आदि का परदेवता में लय होने पर विदेह मुक्ति हो जाती है।

इस प्रकार शंकर जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों स्वीकार करते हैं किन्तु मुक्ति और अमुक्ति की प्राकल्पना व्यावहारिक जीवन में ही है, परमार्थ में नहीं। "न हि वस्तुतों मुक्तामुक्तत्वविशेषोऽस्ति आत्मनो नित्यैकरूपत्वात्"[149] अर्थात् वस्तुतः (परमार्थतः) मुक्तत्व और अमुक्तत्व में कोई भेद नहीं है क्यों कि आत्मा सदा एकरूप ही है।

जीवनमुक्ति के विषय में उत्तरवेदान्तियों ने विस्तृत विचार कर विभिन्न मत प्रतिपादित किये हैं। श्री अप्पयदीक्षित सिद्धान्तलेशसंग्रह में ऐसे अनेक सिद्धान्त उद्धृत करते हैं। उनके अनुसार जीवनमुक्त पुरुष में भी अविद्यालेश रहता है और उससे देहादि प्रतिभास होता है। ज्ञान से आवरण के नष्ट होने पर भी प्रारब्धकर्म से जो अज्ञान का विक्षेपांश अनुवृत होता है, वही अविद्या का लेश है और उसी से जीवन है।[150] दूसरा मत है कि अज्ञान नष्ट होने पर भी अज्ञान की कुछ वासना वैसे ही शेष रहती है जैसे हींग का पात्र धो देने पर भी हींग की गन्ध आती है।[151] सर्वज्ञात्ममुनि के मत से ब्रह्मज्ञान उदित होने पर अज्ञान शेष नहीं रह सकता और उसके विना जीवन भी सम्भव नहीं है। अतः जीवनमुक्ति का प्रत्यय अर्थवाद मात्र है।[152] तात्पर्य यह है कि उनकी दृष्टि से केवल विदेह मुक्ति सम्भव है इस मत का समर्थन मण्डन भी करते हैं। उनका तर्क इस प्रकार है— "विद्यया त्वविद्योच्छेदे कर्मविपाकव्यवहारोच्छित्तावविशेषात् सर्वोच्छेद इति सपाद्येव मुच्यते"[153] अर्थात् विद्या से अविद्या का उच्छेद हो जाता है और उससे कर्मविपाक का व्यवहार उच्छिन्न हो जाता है। इस प्रकार सर्वोच्छेद हो जाने से तत्काल मुक्ति हो जाती है। किन्तु यह मण्डन का एक मत है। इसके अतिरिक्त वे यह भी कहते हैं— "न च ब्रमः ब्रह्मवेदनान्तर एवं देहवियोगः किंतु आरब्धकार्य कर्मक्षयं भागेन प्रतीक्षत इति"[154] अर्थात् मैं यह नहीं कहता कि ब्रह्मज्ञान होते ही अविलम्ब देहवियोग हो जाता है, किन्तु आरब्ध से प्रेरित कर्म का भाग से क्षय होने तक प्रतीक्षा होती है। मण्डन इस मत पर अधिक बल देते हैं और शंकर मत से दूर नहीं हैं। सर्वज्ञात्म और मण्डन के प्रथम मत से शंकर का विरोध हो सकता है। उस विरोध का कारण छान्दोग्य उपनिषद् के एक वाक्य की दो भिन्न प्रकार से व्याख्या की सम्भावना है। वह वाक्य इस प्रकार है— "आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति"[155] अर्थात् आचार्यवान् पुरुष ही सत् को जानता है। उसके लिए मोक्ष होने में उतना ही विलम्ब है जब तक कि वह देहबन्धन से मुक्त नहीं होता। उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न हो जाता है।

सर्वज्ञात्म के अनुसार इसका अर्थ यह हो सकता है कि सत् को जानने वाला भी तभी मुक्त होता है जब वह देहबन्धन से मुक्त हो जाता है। इसलिए जीवनमुक्ति नहीं होती है, केवल विदेहमुक्ति होती है। मण्डन के एक मत के अनुसार सत् का ज्ञान होते ही देहबंधन छूट जाता है, उसमें विलम्ब नहीं लगता है। जैसे, व्यवहार में कहा जाता है कि मुझे नहाने-खाने भर की देर है। "तावदेव"[156] पद क्षिप्रता का वाचक है। ज्ञान होते ही शीघ्र देह से वियोग हो जाता है और जीवन-मुक्ति सम्भव नहीं है। जहाँ कहीं जीवन-मुक्त के लक्षण हैं वे साधक के हैं सिद्ध के नहीं। गीता का स्थितप्रज्ञ साधक ही हैं। "स्थितप्रज्ञस्तावन्न विगलितनिखिलविद्यः सिद्धः किंतु साधक एवं अवस्थाविशेषं"[157] अर्थात् स्थितप्रज्ञ समस्त अविद्या से मुक्त सिद्ध पुरुष नहीं है वरन् वह साधक की ही एक अवस्था विशेष है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भामती और कल्पतरुकारों ने इस मत का खण्डन किया है। वाचस्पति कहते हैं— "स्थितप्रज्ञश्च न साधकः तस्योत्तरोत्तरध्यानोत्कर्षण पूर्वप्रत्ययानवस्थितत्वात् तिरतिशयस्तु स्थितप्रज्ञः स च सिद्ध एव"[158] अर्थात् स्थितप्रज्ञ साधक नहीं है। उसके उत्तरोत्तर ध्यानोत्कर्ष से पूर्व प्रत्यय नष्ट हो जाते हैं और जब निरतिशय स्थिति प्राप्त होती है तो वही स्थितप्रज्ञ है। अतः यह सिद्ध अवस्था है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञान के उपरान्त जीवन रह सकता है और वह सिद्ध ज्ञानी ही जीवनमुक्त है।

शंकर उपर्युक्त श्रुतिवाक्य पर भाष्य लिखते हुए जीवन-मुक्ति का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं "ब्रह्मवेत्ता को जीवनादि का प्रयोजन न होने पर भी प्रवृत्तफल कर्मों का फलोपभोग अवश्य होता है, इसलिए छोड़े हुए बाण के समान उसे तभी तक विलम्ब है जब तक कि वह देहबन्धन से नहीं छूटता ऐसा कहना ठीक ही है।"[159] अतः स्पष्ट है कि शंकर ब्रह्मज्ञान, जीवनमुक्ति, इस अवस्था में प्रारब्ध कर्मों से उपरामता और विदेहमुक्ति स्वीकार करते हैं। उनका यह मत ठीक ही है, क्योंकि अद्वैतवेदान्त में गुरुशिष्य परम्परा से तत्त्वज्ञान का आरोहण माना गया है, जैसा उपर्युक्त श्रुति वाक्य में भी कहा है— "आचार्यवान् पुरुषो वेद"। यह क्रम तभी सम्भव है जब ब्रह्मज्ञान होने के उपरान्त भी कुछ काल जीवन सम्भव हो और वह अपने शिष्यों को ज्ञान दे सके। ज्ञान होते ही शरीर त्याग हो जाने पर यह सम्भव न होगा। मण्डन मिश्र का दूसरा मत भी जीवनमुक्ति का समर्थन करता है, अतः वही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

विद्यारण्य स्वामी क्रममुक्ति और जीवनमुक्ति का भेद स्वीकार करते हैं। क्रममुक्ति उपासना से प्राप्त होती है और वह ब्रह्मलोक ले जाया जाता है।[160] जो व्यक्ति विचार करने में सक्षम है वह ब्रह्मविद्या के अभ्यास से इसी जीवन में मुक्त हो जाता है। "जीवन्नेव भवेन्मुक्तौ वपुरस्तु यथा तथा।"[161] अर्थात् वह जीवन में ही मुक्त हो जाता है और उसका शरीर तो जैसे-तैसे रहता है। वह अपने आपको शुद्ध आत्मरूप से अनुभव करता है। यद्यपि वह इन्द्रियों से जगत् को देखता है किन्तु उसे जगत् से कोई बाधा नहीं होती।[162] पूर्व अभ्यास से जीवनमुक्ति का व्यवहार चलता है और प्रारब्ध कर्म के क्षीण होने पर वह भी निवृत्त हो जाता है।[163]

वेदान्तपरिभाषाकार भी क्रमिक और सद्यः मुक्ति का भेद मानते हैं। सगुणोपासक अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक जाते हैं और उन्हें वहीं पर श्रवणादि द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार होता है और वे ब्रह्मदेव के साथ मोक्ष पाते हैं।[164] जिसे निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार है वह किसी अन्य लोक में नहीं जाता। प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर वह ब्रह्म से मिलकर एक हो जाता हैं उन्होंने "तस्य तावदेव चिर" वाक्य का यही अर्थ माना है कि ज्ञान से आरब्ध कर्मों को छोड़कर समस्त सञ्चित कर्मों का नाश हो जाता है। आरब्ध कर्मों के क्षय होने पर देहपात हो जाता है।[165]

क्रमिक और जीवनमुक्ति का भेद साधनकाल में ही है, मुक्ति का कारण ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान है। क्रमिक मुक्ति में यह ज्ञान ब्रह्मलोक में ब्रह्मा से प्राप्त होता है तब मुक्ति होती है और जीवन-मुक्ति में यह ज्ञान आचार्य से प्राप्त होता है और यहीं मुक्ति प्राप्त हो जाती है। मुक्ति की अवस्था में जीव का ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त होना अद्वैतवेदान्त में सर्वमान्य है। यह समस्त भेदशून्य अवस्था है। इसमें प्रकार-भेद की कल्पना नहीं की जा सकती। आचार्यों ने साधन और शरीर-सापेक्ष अवस्थाओं को ध्यान में रखकर मतभेद उठाये हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(ङ) शंकर-वेदान्त में आचारशास्त्र का स्थान

इस तथ्य पर ध्यान न रखकर कुछ विदेशी विद्वानों से अद्वैतवेदान्त में अनैतिक आचरण की सम्भावना सिद्ध करने का प्रयास किया है। उसका निराकरण भी डॉ. राधाकृष्णन आदि अनेक विद्वानों ने किया है।[166] अतः हम उसके विस्तार पर न जाकर उसका संक्षेप में ही उल्लेख करेंगे।

प्रो. हॉग का यह आक्षेप है कि यदि ब्रह्म ही सत् है और जगत् का नानात्व छाया मात्र है, तो शुभ और अशुभ का कोई भेद नहीं हो सकता है। यदि जगत् छाया है तो पाप छाया से भी कम है। फिर भला मनुष्य को पाप से बचने का प्रयास क्यों करना चाहिए? यदि नैतिकता सार्थक है तो जीवन भी सत्य है; यदि जीवन असत् है तो नैतिकता का कोई प्रयोजन नहीं हैं।[167]

इस आक्षेप का निराकरण करने के लिए डॉ. राधाकृष्णन् शंकर के वचन उद्धृत करते हैं, जहाँ कहा गया है कि देह के सम्बन्ध से ही ज्योति आदि के समान विधि और निषेध हैं। जैसे, ज्योति एक होने पर भी श्मशान की अग्नि का परिहार किया जाता है, अन्य का नहीं। अथवा जैसे एक सूर्य भी अपवित्र देश में त्याज्य होता है, अन्य पवित्र भूमिस्थ प्रकाश का त्याग नहीं होता। वज्र, वैदूर्य आदि पदार्थ जिस भूमि से उत्पन्न होते हैं उसी से उत्पन्न नरकंकाल आदि अस्पर्श्य होते हैं।[168] देह सम्बन्ध अज्ञान अवस्था में देखा जाता है और उसी अवस्था में विधि निषेध भी सार्थक है। इस कारण अविद्या निमित्त देह आदि के सम्बन्ध से किये गये भेद से एकात्मत्व स्वीकार करने पर भी विधि और प्रतिषेध हो सकते हैं।[169]

शरीर आदि उपाधियों से मुक्त अपने आपको निर्विकार, निष्क्रिय आत्मा देखने वाला समस्त नानात्व से परे है। वह न कर्म में प्रवृत्त होता है और न शुभाशुभ देखता है। वह कृतार्थ होने से नियोज्य नहीं हो सकता। अतः उसके विषय में हेय और उपादेय का भी प्रश्न नहीं उठता हैं। आत्मा अपने में ही नियोज्य नहीं होता है।

यही समाधान, प्रो. ह्यूम के इस आक्षेप का भी हो सकता है कि ब्रह्मज्ञानी वह जघन्य पाप कर सकता है जो अज्ञानी व्यक्ति के लिए घातक सिद्ध होते हैं, अतः अद्वैतदर्शन ज्ञानी को अनैतिक आचरण करने का अवसर देता है। प्रो. ह्यूम यह भूल जाते हैं कि आत्मज्ञान में स्थिर रहने वाला व्यक्ति न कर्म में प्रवृत्त हो सकता है और न प्रवृत्त होने की उसे कोई आवश्यकता है। अतः वह पाप कर्म करेगा ही नहीं। "यदि उसके शरीर आदि कर्म में प्रवृत्त होते हैं तो ज्ञानी पुरुष ऐसा अनुताप नहीं करता कि मैंने अमुक कार्य किया है, उससे मुझे नरक में जाना पड़ेगा। ऐसे व्यक्ति सब प्राणियों को मार कर भी वास्तव में उन्हें नहीं मारता है और उस पाप से नहीं बँधता है।"[170] इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वेदान्त में नैतिकता का कोई स्थान नहीं है। शंकर कहते हैं, "लौकिकपारमार्थिक दृष्ट्यपेक्षया तदुपपत्तेः"[171] अर्थात् लौकिक (व्यावहारिक) और पारमार्थिक इन दो दृष्टियों की अपेक्षा से ऐसा कहना बन सकता है। शरीर आदि में आत्मबुद्धि करके व्यक्ति मानता है कि मैं मारने वाला हूँ और पारमार्थिक दृष्टि का आश्रय लेकर वह अनुभव करता है कि मैं न मारता हूँ और न बँधता हूँ। आत्मा न अकेली कर्म करती है और न शरीर आदि के साथ सम्मिलित होकर कार्य करता है। विकारवान् वस्तु का ही अन्य पदार्थों के साथ संघात हो सकता है और विकारी पदार्थ ही संहत होकर कर्ता बन सकता है। आत्मा निर्विकार है। अतः आत्मभाव में स्थित व्यक्ति के लिए कर्म नहीं है।

प्रो. ह्यूम की दूसरी आपत्ति यह है कि ब्रह्मवाद में यह अधिक सम्भवना रहती है कि मनुष्य उसे गलत समझ जाय और व्यवहार में उसका दुरुपयोग हो। विरोचन एक ऐसा ही दृष्टान्त है। वह शरीर को ही आत्मा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मान कर प्रजापति की शिक्षा का जीवन में अनुचित प्रयोग करता है।272 ह्यूम की इस आपत्ति में कोई बल नहीं है। यदि कोई वेदान्त को यथार्थरूप में नहीं समझ पाता है और उसका दुरुपयोग करके हानि उठाता है तो यह वेदान्त का दोष नहीं है, वरन् उसका दुरुपयोग करने वाले व्यक्ति का दोष है। उदाहरण के लिए विद्युत्शक्ति जीवन में अनेक प्रकार से उपयोगी है, किन्तु यदि कोई उसके नियम न जानकर उसका दुरुपयोग करे तो वह अपना जीवन ही नष्ट कर सकता है। यहाँ दोष विद्युत् का नहीं वरन् व्यक्ति की मूढ़ता का है।

डॉ. अर्कहार्ट ने अपने ग्रन्थ "सर्वेश्वरवाद और जीवन का मूल्य"273 में वेदान्त के आचारदर्शन पर सबसे प्रबल आक्रमण किया है किन्तु उनकी दृष्टि निश्चय ही द्वेष और भ्रान्ति से प्रच्छन्न है। उनके विचार से जीवन के समस्त सामान्य क्षेत्र को ध्यान में रख कर वेदान्त-सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया है। उसमें बुद्धिवाद के आधार पर भेदातीत ब्रह्म को ही एक मात्र सत् माना गया है और जगत् को मायिक तथा असत् कहा गया है। अतः ब्रह्मवाद में समस्त भेद निरस्त हो जाने के कारण शुभाशुभ का भेद भी निरस्त हो गया और आचारशास्त्र का आधार ही नष्ट हो गया।

इसके अतिरिक्त वेदान्त में वैयक्तिक अहं को मिथ्या बता कर नैतिक निर्गम का आश्रय ही समाप्त कर दिया गया है। अज्ञान की अवस्था में यह कर्मसिद्धान्त के अधीन अवश्य है किन्तु यह प्रारब्ध के वश में है। वह स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं है। कर्मस्वातन्त्र्य न रहने पर मनुष्य नैतिक दायित्व स्वीकार नहीं कर सकता है।

इस प्रकार के आक्षेपों का कारण शंकर की व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टि को ध्यान में न रखना ही हो सकता हैं। पारमार्थिक दृष्टि से एक अद्वितीय ब्रह्म की ही सत्ता है उसके अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है। ऐसा ज्ञान रखने वाला व्यक्ति न कर्त्ता है और न भोक्ता। अब उसे यम-नियम रूप साधनों की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उन साधनों से जिस साध्य को प्राप्त करना था उसे ज्ञानी व्यक्ति ने प्राप्त कर लिया है। साध्य प्राप्त करने पर साधनों का कोई मूल्य नहीं रहता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि किसी एक ज्ञानी व्यक्ति को विधि-निषेध से प्रयोजन नहीं तो समस्त संसार के लिए ही उनकी उपयोगिता समाप्त हो गयी। जगत् के शेष मनुष्य व्यावहारिक जीवन जीते हैं, उनके लिए शंकर नैतिक नियमों का पालन अनिवार्य मानते हैं। स्वप्न में सोते हुए व्यक्ति के लिए स्वप्न के सुख-दुःख यथार्थ हैं। वह स्वप्न के नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकता। जाग्रत् मनुष्य के लिए स्वप्न मिथ्या है और स्वप्न में किये हुए अपराधों के लिए वह दण्डित नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वप्न राज्य के सिपाही और कानून जाग्रत् में प्रवेश नहीं कर सकते।

मनुष्य का व्यक्तित्व भी व्यवहार में सत्य प्रतीत होता है और वह अपने को कर्त्ता-भोक्ता अनुभव करता है। ऐसी अवस्था में वह धर्म की उपेक्षा कर दण्ड का भागी होता है। इस अवस्था में वेदान्त प्रारब्ध का बन्धन आवश्य मानता है किन्तु कर्मस्वातन्त्र्य अस्वीकार नहीं करता। कर्म की स्वतन्त्रता न होने पर शास्त्र, उपदेश आदि निरर्थक हैं, जैसे पशुओं के लिए। मनुष्य पशुओं की भाँति पूर्णतः प्रारब्ध के बन्धन में नहीं है। उसे कर्म करने, न करने अथवा अन्यथा करने की कुछ स्वतन्त्रता अवश्य है।

व्यक्तित्व का मिथ्यात्व परमार्थदृष्टि से ही है। व्यवहार में व्यक्तित्व मिथ्या नहीं है। यदि ज्ञान की अवस्था में सर्वात्म भाव की प्राप्ति हो तो उसका विरोधी एक शरीर का अहं नहीं रह सकता। ज्ञान की दशा में वैयक्तिक अहं का न रहना और नैतिक नियमों के बन्धन से छूट जाना ही उचित है, क्योंकि उसके बिना मुक्ति की अवधारणा सिद्ध नहीं होती। ईसाई दर्शन में मुक्ति की अपेक्षा नैतिकता का अधिक महत्त्व हो सकता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है, किन्तु अद्वैतवेदान्त नैतिकता को साधन मात्र मानता है, साध्य तो मुक्ति ही है। वही जीवन की पूर्णावस्था है। उस अवस्था में अनन्तता, पूर्णता और तृप्ति का शाश्वत सुख हो सकता है।

संदर्भ-सूची

1. भगवद्गीता 2.66, पृ. 70
2. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 1.1.4, पृ. 64.
3. भगवद्गीता 16.24, पृ. 391
4. वही. 16.23
5. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 1.1.4, पृ. 56.
6. वही.
7. वही.
8. वही.
9. वही. पृ. 57
10. भगवद्गीता 14.16, पृ. 357
12. भगवद्गीता, शां.भा. 14.16, पृ. 357.
13. वही, प्रस्तावना, पृ. 15.
14. वही, 4-13, पृ. 112.
15. भगवद्गीता, शां.भा. 4.13, पृ. 761.
16. वही. पृ. 762.
17. वही. पृ. 761.
18. भगवद्गीता, शां.भा. 16.1, से 3.
19. भगवद्गीता, शां.भा. 18.5, पृ. 9.
20. वही, 3.9., पृ. 89.
21. वही, प्रस्तावना, पृ. 15.
22. भगवद्गीता, 5.11.
23. ब्रह्मसूत्र, शां. भा. 1.1.1.
24. वही, पृ. 27.
25. वही, पृ. 26.
26. विवेक-चूडामणि, 18 से 32.
27. बृहदारण्यक उपनिषद् 2.4.5, पृ. 549.
28. वही, शां.भा. 2.4.5, पृ. 551.
29. विवेक-चूडामणि, 33, पृ. 15.
30. वही, 36.
31. वही, 47.
32. बृहदारण्यक उपनिषद् शां. भा. 2.4.5, पृ. 551.
33. वही, पृ. 551.
34. ब्रह्मसूत्र शां. भा. 1.1.4, पृ. 77.
35. वही, 4.1.1, पृ. 793.
36. वही, 4.1.1, पृ. 792.
37. ब्रह्मसिद्धि, पृ. 35.
38. वही, पृ. 35.
39. वही, पृ. 134.
40. वही, पृ. 134.
41. वही, पृ. 154.
42. भामती पर कल्पतरु, पृ. 218.
43. नैष्कर्म्य-सिद्धि, पृ. 146.
44. वही, 1.52, पृ. 146.
45. बृहदारण्यकवार्तिकसार, 1.209, पृ. 316.
46. नैष्कर्म्य-सिद्धि, 1.67 पृ. 38.
47. पञ्चदशी, 7.69.
48. वही, 7.79.
49. वही, 7.97.
50. वही, 7.264-65, पृ. 335.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

51. गीतारहस्य, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, पृ. 16.
52. वही, पृ. 27.
53. ब्रह्मसिद्धि, प्रस्तावना, पृ. 30.
54. भगवद्गीता, शां. भा. 18.67, पृ. 460.
55. वही,
56. ब्रह्मसूत्र शां. भा. 1.1.4, पृ. 64-65.
57. भगवद्गीता, शां. भा. 18.67, पृ. 461.
58. ईश उपनिषद्, शां. भा. 18, पृ. 59.
59. वही.
60. वही, पृ. 60.
61. केन उपनिषद, शां.भा. प्रस्तावना, पृ. 22.
62. भगवद्गीता, शां. भा. 18.67, पृ. 460.
63. वही, पृ. 461.
64. श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.8.
65. भगवद्गीता, शां. भा. प्रस्तावना, पृ. 15.
66. बृहदारण्यकोपनिषद्, शां. भा. 4.4, पृ. 1101.
67. वही, पृ. 1105.
68. ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मकाण्ड, पृ. 26.
69. वही, पृ. 27.
70. वही, पृ. 28.
71. ब्रह्मसूत्र, 3.4.26.
72. ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मकाण्ड, पृ. 37.
73. ब्रह्मसिद्धि, शं. भा., 3.4.26, पृ. 767.
74. नैष्कर्म्यसिद्धि, प्रथम अध्याय, पृ. 30.
75. वही, पृ. 30.
76. वही, चतुर्थ अध्याय, पृ. 203.
77. वही, पृ. 203.
78. विवेक-चूडामणि.
79. छान्दोग्य उपनिषद् 6.14.1.
80. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4.2.4.
81. छान्दोग्य उपनिषद् 6.1.4, पृ. 577.
82. गौडपादकारिका, अलातशान्तप्रकरण, 57.
83. तैत्तिरीय उपनिषद्, शां. भा. 2.6, पृ. 171.
84. ब्रह्मसूत्र, शां. भा. 2.6, पृ. 365.
85. तैत्तिरीय उपनिषद्, शां. भा. 2.6.
86. वही,
87. गौडपादकारिका, शां. भा. 1.6.
88. भगवद्गीता, शां.भा. 9.4.
89. विमुक्तात्मा, इष्टसिद्धि, प्रस्तावना, पृ. 30.
90. भगवद्गीता, शां.भा., उपोद्घात, पृ. 13.
91. वही, पृ. 15.
92. वही.
93. वही, पृ. 15.
94. वही, 14.18, पृ. 358.
95. वही.
96. वही, अध्याय 16 भूमिका, पृ. 380.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

97. भगवद्गीता, 9.12, पृ. 233.
98. वही, पृ. 234.
99. वही, 16.24, पृ. 391.
100. वही, 16.23, पृ. 391.
101. वही, शां. भा., 3.11, पृ. 89.
102. वही, शां. भा., 3.12, पृ. 90.
103. छान्दोग्य उपनिषद् शां. भा. 8.6, पृ. 819.
104. भगवद्गीता, 9.21, पृ. 238, वही, शां.भा. 5.22, पृ. 162.
105. छान्दोग्य उपनिषद् शां. भा. 8.6, पृ. 819.
106. भगवद्गीता, शां. भा. 3.39, पृ. 103.
107. वही, पृ. 104.
108. वही, 5.22, पृ. 162.
109. वही, 2.44, पृ. 58.
110. कठोपनिषद् 1.2.2, पृ. 62.
111. वही, शां.भा. 1.2.1, पृ. 61.
112. वही, 1.2.2, पृ. 63.
113. वही, 1.2.1, पृ. 61.
114. केनोपनिषद् 2.5, पृ. 112.
115. वही, 1.4.
116. ईशावास्य उपनिषद् 7.
117. छान्दोग्य उपनिषद् 7.1.3.
118. कठोपनिषद 1.3.15.
119. वही, 2.3.18.
120. बृहदारण्यक उपनिषद् 4.4.14.
121. मुण्डक उपनिषद, 3.2.9.
122. भगवद्गीता, 6.22, पृ. 184.
123. वही, 6.23.
124. गौडपादकारिका, अलातशान्त, 92.
125. वही, आगम, 22.
126. श्वेताश्वतर उपनिषद्, सम्बन्धभाष्य, पृ. 15.
127. वही, पृ. 15,
128 भगवद्गीता, शां. भा., 18.66, पृ. 460.
129. श्वेताश्वतर उपनिषद, शां. भा., सम्बन्धभाष्य, पृ. 35.
130. ब्रह्मसूत्र, शां.भा, 3.4.1.
131. कठोपनिषद्, शां.भा., सम्बन्धभाष्य, पृष्ठ 13.
132. वही.
133. वही, 1.2, पृष्ठ 80.
134. वही, 1.2.18, पृष्ठ 89.
135. वही, 1.2.16, पृष्ठ 86.
136. ब्रह्मसूत्र शां.भा 4.3.3, पृ. 850.
137. वही, 4.3.1, पृ. 846.
138. वही, 4.3.2, पृ. 847.
139. छान्दोग्य उपनिषद्, 4.15.5.
140. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., 4.3.6, पृ. 852.
141. वही, 4.3.10, पृ. 855.
142. वही, 4.3.11.
143. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां. भा., 4.4.6, पृ. 1054.
144. वही.
145. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., 4.2.1, पृ. 823.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

146. वही 4.2.6, पृ. 899.
147. वही, 4.1.15, पृ. 817.
148. वही, पृ.
8 1 8
149. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां. भा., 4.4.6, पृ. 1059.
150. सिद्धान्तलेशसंग्रह, अप्पय दीक्षित, 4.2, पृ. 511.
151. वही 4.3, पृ. 512.
152. वही 4.4, पृ. .315
153. ब्रह्मसिद्धि, मण्डन पृ. 130.
154. वही पृ. 130-31.
155. छान्दोग्य उपनिषद् 6.14.2, पृ. 686.
156. ब्रह्मसिद्धि, पृ. 130.
157. वही.
158. भामती, पृ. 959.
159. छान्दोग्य उपनिषद्, शां. भा. 6.14. 2, पृ. 693.
160. पञ्चदशी, 9.144, पृ. 412.
161. वही, 13 .82, पृ. 530.
162. वही, 7.279, पृष्ठ 340.
163. वही, 7.263,पृष्ठ 334.
164. वेदान्तपरिभाषा, प्रयोजनपरिच्छेद, पृष्ठ 369.
165. वही, पृ. 370.
166. इण्डियन फिलॉसफी, पार्ट द्वितीय, पृ. 621.
167. इण्डियन फिलॉसफी, भाग-2 में उद्धृत प्रो. हॉग का लेख जो मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज मैगजीन, दि. 1916 में प्रकाशित हुआ।
168. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 23.48, प. 531.
169. वही, पृ. 530.
170. भगवद्गीता, शां.भा. 18.
171. वही, पृष्ठ 419.
172. एन आउटलाइन ऑफ दि फिलॉसफी ऑफ उपनिषद्स, पृ 61.
173. पैन्थीज्म एण्ड दि वेल्यू ऑफ लाईफ.

■

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय- 13

अशुभ की समस्या

अशुभ व्यावहारिक जीवन की एक ऐसी दुर्धर्ष समस्या है जिस पर विचार किये बिना दार्शनिक चिन्तन पूर्ण नहीं होता। यदि कोई अत्यधिक आशावादी व्यक्ति अशुभ को स्वीकार न करे तो भी अधिकांश मनुष्यों के लिए अशुभ एक कठोर सत्य है। निराशावादी मनुष्यों को तो सर्वत्र अशुभ ही अशुभ दिखाई देता है। उन्हें समस्त जगत् अशुभ का भण्डार प्रतीत होता है।

इस अशुभ की समस्या पर प्राचीनकाल से विचार होता चला आया है। कुछ लोगों ने अशुभ का कारण और उसका रूप समझने का प्रयास किया तो कुछ ने उससे बचने के उपाय भी खोजे। जो लोग ईश्वर द्वारा जगत् की रचना स्वीकार करते हैं उनके सामने यह समस्या आती है कि ईश्वर ने अशुभ की रचना क्यों की अथवा ऐसे जगत् की रचना क्यों की जिसमें अशुभ स्थायीरूप से वास करता सकता है। यदि पीड़ा, कष्ट, भय, चिन्ता, पांप और दुःख निर्विकार आनन्दमय ईश्वर की रचना नहीं है तो इनकी उत्पत्ति कैसे हुई? यदि ये ईश्वर की रचनायें नहीं हैं तो क्या ईश्वर इनको नष्ट कर सकता है? यदि इन्हें नष्ट नहीं कर सकता है तो ईश्वर सर्वसमर्थ कैसे है?

अशुभ का विस्तार बहुत व्यापक है। पूर्व और पश्चिम के दार्शनिकों ने समस्त अशुभ पर अपनी दृष्टि डालने का प्रयास किया है और उसे समझने के लिए तीन वर्गों में बाँटा है। पश्चिमी दार्शनिकों ने जो तीन वर्ग सुझाये हैं, वे इस प्रकार हैं— (1) अति-भौतिक (मेरा-फिजीकल) जैसे भूचाल, तूफान, सूखा, बाढ़ आदि, (2) शारीरिक और मानसिक — जैसे पीड़ा, कष्ट, मृत्यु, दुःख आदि और (3) नैतिक, जैसे; पाप, कपट, दम्भ आदि। पैट्रिक [1] के अनुसार इन सब में अनैतिकता का अशुभ सबसे अधिक अधम कोटि का है।

भारतीय दार्शनिकों ने अशुभ का विभाजन, आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक वर्गों में किया है।[2] इन्हें तीन ताप या अनिष्ट भी कहते हैं। ताप या दुःख देने के कारण इन्हें "ताप" कहते हैं और कोई व्यक्ति इनकी कामना नहीं करता, इसलिए वे अनिष्ट कहलाते हैं। आध्यात्मिक अशुभ को दैहिक ताप भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत शारीरिक और मानसिक अशुभ आ जाते हैं। अनैतिकता के समस्त अशुभ भी इसी वर्ग के अन्तर्गत मानने पड़ेंगे, क्योंकि उनका कारण व्यक्ति स्वयं है। पश्चिम के अति-भौतिक अशुभ को भारत में दो वर्गों में बाँट लिया गया है— आधिदैविक और आधिभौतिक। भौतिक सृष्टि से उत्पन्न होने वाले अनिष्ट आधिभौतिक हैं और देवताओं के असन्तोष से होने वाले अनिष्ट आधिदैविक हैं। भूचाल, तूफान आदि आधिभौतिक अशुभ हैं और टिड्डी, चूहों आदि से कृषि आदि को हानि होना आधिदैविक अशुभ है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शंकर ने भी अशुभ की समस्या पर विचार किया है। उसे भली-भाँति समझने के लिए हमें सर्वप्रथम संक्षेप में पश्चिम और पूर्व के अन्य दार्शनिकों का मत देख लेना चाहिए। पश्चिम में यूनानी दार्शनिकों से अशुभ की समस्या पर जो विचार प्रारंभ हुआ वह आधुनिक दार्शनिकों तक विवाद का विषय बना रहा।

सुकरात के पूर्व प्राचीन यूनानी दार्शनिक अशुभ की समस्या स्वीकार करते थे और उसका कारण मनुष्य के विचार और उसकी महत्त्वाकांक्षायें मानी जाती थीं।[3] उनका यह भी मत था कि कोई ऐसी दैवी या दानवी शक्तियाँ हैं जो मनुष्य के हेतु अशुभ पैदा कर सकती हैं। यूनान के प्रारंभिक दार्शनिक की यह मान्यता किसी तर्क पर आश्रित नहीं प्रतीत होती; वह केवल एक कल्पना है।

सुकरात के बाद के दार्शनिक, प्लेटो, अरस्तू आदि ने इस समस्या पर अधिक गम्भीरता से विचार किया और तर्क का भी प्रयोग किया। प्लेटो दैवी या दानवी अशुभ-कारी शक्तियों की कल्पना त्याग कर जडतत्त्व को अशुभ का कारण मानता है। परम सत् प्रत्यय रूप है और वह सम्पूर्णरूप से शुभ है, किन्तु उससे उत्पन्न जडत्व अपूर्ण है, आत्मा के ऊपर वह बोझ है। वह मनुष्य को परम सत् से दूर रखकर अशुभ का विस्तार करता है।[4]

प्लोटिनस ने इस विचार को अधिक स्पष्ट किया और सृष्टि रचना के तीन स्तर बताकर अशुभ की व्याख्या की।

उसके अनुसार शुद्ध प्रत्यय या चेतन परम सत् और शुभ है। उससे निम्न स्तर पर उतर कर आत्मा की रचना हुई और फिर उससे जडतत्व की रचना देखने में आई। जडतत्व अंधकार, अपूर्णता और अशुभ का भण्डार है। जैसे, सूर्य से दूर हटते जाने पर अंधकार बढ़ने लगता है, वैसे ही शुद्ध प्रत्ययरूप ईश्वर से दूर हटने पर जडतत्व की प्राप्ति होती है और वह अशुभ सिद्ध होता है।

इससे स्पष्ट है कि प्लेटो और प्लोटिनस ने अशुभ का तात्विक विवेचन करने पर अधिक बल दिया और उसे अतिभौतिक या आधिभौतिक ही माना। अरस्तू ने अशुभ को नीतिशास्त्र की दृष्टि से भी देखा और अनैतिक आचरण को अशुभ का कारण स्वीकार किया। उसने अशुभ से मुक्त होने का उपाय भी दिखाया और उसके हेतु नीतिशास्त्र की रचना की। उसके अनुसार "विचार और आचरण में अतिवाद अशुभ है और मध्यम मार्ग शुभ है।"[5] शुभ वह स्थिति है जो तर्कबुद्धि से निश्चय की जाती है, वह दो अतियोंकी मध्य स्थिति है और जिसका आचरण विचारपूर्वक किया जाता है। व्यावहारिक ज्ञान रखने वाला मनुष्य ही उसका निर्धारण करेगा। इसके विपरीत अशुभ दो अतियाँ हैं।[6] इसके स्पष्ट करने के लिए उसने अनेक उदाहरण दिये हैं। जैसे, "दुःसाहस" और "कायरता" की दो अतियाँ हैं जो अशुभ हैं और उनके मध्य "साहस" शुभ है। इंद्रिय भोगों में अधिक लिप्त होना या भोगों का सर्वथा त्याग अशुभ हैं, किंतु संयमपूर्वक भोग शुभ है।

पश्चिमी दर्शन के मध्यकाल में ईसाई दार्शनिकों का उदय हुआ। उन्होंने ईश्वरवाद की स्थापना कर उसके परिप्रेक्ष्य में अशुभ की समस्या पर विचार किया। यदि समस्त सृष्टि ईश्वर की रचना है तो जगत् में दिखाई देने वाला अशुभ ईश्वर से कैसे और क्यों उत्पन्न हुआ, इस प्रश्न पर विचार करना अनिवार्य हो गया। सन्त अगस्तीन ने इस पर अपना निश्चित मत प्रस्तुत किया। उसके अनुसार ईश्वर ने अपनी स्वतंत्र इच्छा से जगत् की रचना अनन्त प्रेम से प्रेरित होकर सबके कल्याण के लिए की। अतः समस्त सृष्टि शुभ है, किंतु बात तभी समझ में जा सकती है जब हम जगत् को ईश्वर की दृष्टि से देखें। मनुष्य अपनी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उपयोगिता की दृष्टि से जगत् को देखता है तो वह सर्वत्र शुभ नहीं दिखाई देगा, उसमें अशुभ भी दृष्टिगत होगा।

ईश्वर की दृष्टि से जगत् में जो कुछ है वह सब शुभ है या उस शुभ का सौंदर्य और महत्त्व बढ़ाने वाला है, जैसे किसी चित्र में छाया समस्त दृश्य की शोभा बढ़ाती है। अतः जगत् के शुभ के लिए अशुभ की आवश्यकता है। सन्त अगस्तीन का कहना है कि "अशुभ तो शुभ नहीं है किंतु अशुभ का होना अवश्य शुभ है।"

वस्तुतः यह अशुभ है क्या? इसका उत्तर देते हुए यह दार्शनिक कहता है कि शुभ का अभाव ही अशुभ है। अशुभ के विना शुभ हो सकता है किंतु शुभ के विना अशुभ की सत्ता नहीं हो सकती।

इस प्रकार अशुभ सापेक्षिक है। शुभ के लिए उसकी आवश्यकता है। शुभ के अभाव में अशुभ का वास है। इसके अतिरिक्त, अशुभ की प्रतीति ईश्वर के कारण नहीं वरन् मनुष्य के कारण होती है। सन्त अगस्तीन अशुभ का दायित्व मनुष्य पर डाल देता है। वह नैतिक वर्ग में आने वाले अशुभों पर भी विचार करता है और उन्हें मनुष्य-कृत ही मानता है। किंतु ये अशुभ जगत् के सौन्दर्य को नष्ट नहीं कर सकते।

सन्त थामस ने अशुभ की इस समस्या पर सन्त अगस्तीन की परम्परा पर ही विचार किया और शुभ के अभाव को अशुभ मानकर यह बताने का प्रयास किया कि शुभ का अभाव कैसे होता है। वह कहता है कि जब तक वस्तुयें प्रकृति के नियमों के अनुसार कार्य करती हैं वे शुभ स्वरूप में रहती हैं, उनसे अशुभ की उत्पत्ति नहीं होती। किंतु जब जड पदार्थ में अस्वाभाविक क्रिया उत्पन्न होती है तो अशुभ की उत्पत्ति होती है। नैतिक अशुभ का भी यही कारण है। जब तर्कबुद्धि का निर्देश नहीं माना जाता और ईश्वर के नियमों का उल्लंघन होता है तो नैतिक अशुभ की उत्पत्ति होती है। मनुष्य जो कुछ भी करता है शुभ समझकर ही करता है। उसके इरादे के विपरीत ही अशुभ की सत्ता होती है।[8]

इस प्रकार ईसाई दार्शनिकों ने अशुभ की समस्या पर कुछ आगे बढ़कर विचार किया और उसके कुछ नये पहलुओं का उद्घाटन किया। मुख्यरूप से अशुभ का दायित्व मनुष्य पर आ गया।

मध्यकाल से आधुनिककाल तक अनेक दार्शनिक हुए और उन्होंने इस समस्या पर विचार किया तथा अनेक मूल्यवान् सिद्धांतों की उद्भावना भी की, किंतु उन सब की प्रवृत्ति मनुष्य पर अशुभ का दायित्व लादने की रही और उससे बचने का उपाय भी खोजते रहे। इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति आधुनिक काल के प्रमुख दार्शनिक ब्रेडले में मिलती है। वह सत् और आभास की प्रकल्पना कर आभास में अशुभ की सत्ता मानता है। सत् शुभ स्वरूप है। उसमें अशुभ नहीं है। आभास अशुभ को प्रश्रय देता है। आभास असीम है और असीमता में रहने वाला मनुष्य अशुभ से आक्रान्त हो जाता है।

ब्रेडले के अनुसार अशुभ तीन प्रकार के हैं - (1) कष्टरूप अशुभ, (2) असफलता रूप अशुभ और (3) नैतिक अशुभ। ये तीनों ही अशुभ मनुष्य से संबंधित हैं। संसार में भले ही दुःख की अपेक्षा सुख अधिक हो किंतु कष्ट, पीडा और दुःख अवश्य है। उस का निषेध नहीं किया जा सकता। निरपेक्षसत् से बाहर कुछ नहीं है, अतः दुःख भी उस में किसी प्रकार अवश्य स्थित है। लक्ष्य प्राप्ति की असफलता भी अशुभ है। जब मनुष्य के लक्ष्य संकीर्ण होते हैं तो वह असफल भी हो सकता है। निरपेक्षरूप व्यापक सत् में असफलता अपना अशुभरूप त्याग देती है। इसी प्रकार अनैतिकतारूप अशुभ की उत्पत्ति मनुष्य के स्वार्थ, समीपता और क्षुद्रता के कारण ही होती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ब्रेडले के ये विचार अशुभ की समस्या पर निश्चय ही गंभीर अन्तदृष्टि रखने पर ही उत्पन्न हुए हैं। उसका सार यही है कि ससीमता, अपूर्णता और भ्रामक दृष्टि से ही अशुभ की उत्पत्ति होती है और इसीलिए जगत् में अशुभ विद्यमान् है। आभास में अशुभ की सत्ता मानने का यह अर्थ नहीं है कि अशुभ कुछ भी नहीं है। अशुभ हमारे व्यावहारिक अनुभव की यथार्थता है।

भारतीय दर्शन में "अशुभ" दार्शनिक चिन्तकों की प्रेरणा का स्रोत रहा है। सभी दर्शन-पद्धतियों में अशुभ का उल्लेख है। चार्वाक् भी जीवन में दुःख स्वीकार करता है, किंतु उसे अनिवार्य मानकर उससे बचने का इतना प्रयत्न उचित नहीं मानता कि उपलब्ध सुख को भी हम त्याग बैठें। वह दुःखों को स्वाभाविक मानता है। उसका कोई कारण नहीं है। जगत् ईश्वर की रचना नहीं है, इसलिये अशुभ का संबंध किसी अलौकिक सत्ता से जोड़ना मिथ्या कल्पना है। असंयम से दुःख बढ़ते हैं, इसलिए संयम रखना उचित है।

बौद्ध-दर्शन में अशुभ को दुःखरूप मानकर उसका विस्तृत चिन्तन किया गया है। गौतमबुद्ध ने रोगी, वृद्ध और मृत मनुष्यों में पीडा, कष्ट, दुःख और विनाशरूप अशुभ देखकर अपना राज्य त्याग दिया और मनुष्य को उससे बचने का उपाय खोजने लगे। उनके प्रसिद्ध चार आर्य सत्य अशुभ के संबंध में ही हैं। जगत् में दुःख है, दुःख समुदय है, दुःख का निरोध है और दुःख-निरोधगामिनी प्रातिपद है। महावग्ग में गौत्तमबुद्ध समस्त जीवन दुःखमय दिखाते हुए कहते हैं - "जन्म दुःख है, वृद्धावस्था दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है, अप्रिय वस्तु से दुःख है, प्रिय वस्तु के वियोग से दुःख है, इच्छित वस्तु के न पाने में भी दुःख है। हे मित्र, इसी को दुःख कहते हैं।"[9]

बुद्ध के इन वचनों की सत्यता तो सभी स्वीकार करेंगे, किन्तु उस समय उनको समझना कठिन हो जाता है जब वे कहते हैं कि संसार में दुःख के अतिरिक्त कुछ नहीं है। "न तो आकाश में, न समुद्र में, न अन्तस्तल में और न पर्वत की कन्दराओं में। संसार में कहीं भी ऐसा स्थान न मिलेगा जहाँ मृत्यु के आक्रमण से बचकर निवास किया जा सके।"[10]

इस दुःख का कारण द्वादश निदान बताकर अविद्या को प्रथम कारण माना है। संयुक्तनिकाय के अनुसार द्वादश निदान जरा-मरण से प्रारंभ होकर जाति, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षडायतन, नामरूप, विज्ञान, संस्कार से होते हुए अविद्या तक पहुँचता है। यही भवचक्र है। अविद्या के नष्ट होने पर भवचक्र टूट जाता है और अशुभ से छुटकारा मिल जाता है।

नागार्जुन ने "अस्ति" तथा "नास्ति" को दो चरम विरोधी स्थितियों को मानना अविद्या बताया और उससे छुटकारा पाने का मार्ग अमध्यमा प्रतिपत् निरूपित किया। संसार के विषय में सम्यक् दृष्टि दो अन्तिम स्थितियों के बीच में होकर आती है। वही प्रतीत्य-समुत्पाद है। संक्षेप में, निरोध, उत्पत्ति, उच्छेद, शाश्वत, एकार्थता, अनेकार्थता, आगम, निर्गम और अविद्या अशुभ हैं तथा इनके निषेध से प्राप्त होने वाला प्रतीत्यसमुत्पाद शुभ हैं।

यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।[11]

प्रतीत्यसमुत्पाद ही शिव अर्थात् शुभ है। उसका अज्ञान द्वादश क्रम से जरा-मरण और दुःख का हेतु होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जैनमत में अशुभ कर्म और लेश्यारूप माना गया है। उनके अनुसार कर्म भौतिक स्वभाव का या पुद्गलरूप है। शुभ या अशुभ कर्म करने से उनका प्रभाव आत्मा पर पड़ता है और उसे आवृत कर लेता है। अतः कर्मों को ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय कहा गया है। कर्म के इन आवरणों से आत्मा अधोगामी होती है और संसार में कर्मानुसार सुख-दुःख का भोग करती है। कर्म-लेश्याओं से मुक्त होने पर ही आत्मा भाररहित होकर अलोकाकाश में स्थित हो जाती है और समस्त दुःखरूप अशुभ नष्ट हो जाते हैं जैन-दर्शन का यह मत नैतिक अशुभ पर अधिक बल देता है और उसे भौतिक स्वभाव का मानता है।

मीमांसा-दर्शन इसी के निकट मत स्थापित करता है। उसके अनुसार दुःख ही अशुभ है और दुःख का कारण निषिद्ध कर्म है। वेद-शास्त्र विधि-शास्त्र निर्धारित करते हैं। विधि कर्म करने से सुख और निषिद्ध कर्म करने से दुःख प्राप्त होता है। कर्म और उसके फल में एक प्रकार का संबंध है। आज का किया हुआ कर्म कालान्तर में परिपक्व होकर सुख:दुख दे सकता है। इस दर्शन में अशुभ को बाह्य जगत् में भौतिकरूप न मानकर नैतिक अशुभ के रूप में ही समझने का प्रयास किया गया है। कर्म से दुःख की उत्पत्ति कैसे संभव है, इस समस्या पर विस्तृत विचार किया गया है।

सांख्य-दर्शन के अनुसार तीन प्रकार के दुःख ही अशुभ हैं — "दुःखत्रयाभिघातान्"[12] अर्थात् तीन प्रकार के दुःखों के प्रहार से बचने के लिए दर्शनशास्त्र विचार करता है। तीन प्रकार के दुःख हैं — आध्यात्मिक दुःख जो शारीरिक और मानसिक, दो प्रकार का है; आधिभौतिक जो मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, स्थावर आदि के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, और आधिदैविक जो यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह आदि के कारण पीड़ा पहुँचाते हैं। इन दुःखों का कारण बताने वाली कारिका इस प्रकार है।:-

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।

लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥[13]

वहाँ लिंग शरीर का पुरुष से भेद न गृहीत होने के कारण चेतन पुरुष जरा-मरण से उत्पन्न दुःख भोगता है। इस प्रकार स्वभाव से ही दुःख होता है।

लिंग शरीर और पुरुष का तादात्म्य अविद्यात्मक है, इसलिए अविद्या ही समस्त अशुभों का कारण है। योगसूत्र में भी क्लेशों के अंतर्गत अविद्या को स्वीकार किया गया है —.

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ॥[14]

अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। इनमें भी "अविद्या क्षेत्रम्" अर्थात् अविद्या वह भूमि है जिसमें अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश के बीज उत्पन्न होते हैं।

योगभाष्य के अनुसार "दुःखबहुलः संसारो हेयः प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिहनिम्, हानोपायः सम्यग्दर्शनम," अर्थात् संसार में दुःख की अधिकता है। प्रधान और पुरुष का संयोग इस संसार का कारण है। यह हेय है। संयोग की निवृत्ति से संसार को दुःख की हानि हो जाती है। दुःख की हानि का उपाय सम्यक् दर्शन है।

इसप्रकार सांख्य और योग दोनों दर्शनों में संसार में दुःख की बहुलता मानी गयी है और उसका कारण अज्ञान स्वीकार किया गया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शंकर की अशुभ संबंधी अवधारणा

शंकराचार्य के अनुसार दर्शन के क्षेत्र में स्वतन्त्रचिन्तन निर्दोष नहीं हो सकता है। परम सत् रूपादिरहित होने से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है और लिंग आदि का अभाव होने से अनुमान आदि का विषय भी नहीं है। "न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम् पुरुषमतिवैरूप्यात्" अर्थात तर्कों की प्रतिष्ठा कदापि ग्रहण नहीं की जा सकती है, क्योंकि पुरुषों की बुद्धि विलक्षण है। अतः शंकर आवश्यकरूप से उपनिषदों को आधार मान कर विचार में प्रवृत्त होते हैं। अशुभ की समस्या के विषय में भी यही सत्य है। अतः हम पहले अशुभ के विषय में उपनिषदों का मत प्रस्तुत करेंगे।

उपनिषदों के अनुसार अविद्या, मोह, आसक्ति, भय, शोक, मृत्यु आदि अशुभ हैं और इनसे बचने का उपाय एक, अखण्ड, परम सत् का दर्शन है।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।

"उस अवस्था में एकत्व का निरन्तर साक्षात् करने वाले पुरुष को कौन-सा मोह रह जाता है और कौन-सा शोक। वह शोक-मोह से सर्वथा मुक्त हो जाता है।"

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं

निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।

"जो अनादि, अनन्त, महान्, परम और ध्रुव है उसे जानकर मनुष्य मृत्यु के सुख से सदा के लिए छूट जाता है।"

तरति शोकं तरति पाप्मानं

गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।

"(जो परब्रह्म को जान लेता है) वह शोक से पार हो जाता है, पाप-समुदाय से तर जाता है, हृदय की गाँठों से सर्वदा छूटकर अमर हो जाता है।"

आनंद ब्रह्मणा विद्वान् ।

न विभेति कदाचनेति ॥

"उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जानने वाला पुरुष कभी भय नहीं करता।"

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः

क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।

"उस प्रकाशमय परमात्मा को जान लेने पर समस्त बंधनों का नाश हो जाता है, क्योंकि क्लेशों का नाश हो जाने के कारण जन्म-मृत्यु का सर्वथा अभाव हो जाता है।"

इस प्रकार समस्त उपनिषदों में मोह, शोक, जन्म-मृत्यु, पाप, भय, बन्धन, क्लेश आदि को अशुभ माना गया है। माण्डूक्य उपनिषद् में प्रपञ्च अर्थात् नामरूपात्मक जगत् को भी अशुभ माना गया है और "प्रपञ्चोपशमम्" कह कर उससे पार जाने के लिए प्रेरित किया गया है। प्रपञ्च के परे शिव अर्थात् शुभ है। सभी प्रकार के अशुभ हमें अपने अनुभव से अप्रिय लगते हैं। उपनिषद् के ऋषियों ने उनका कारण अविद्या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

माना है। इस मूल कारण के उच्छिन्न होने पर समस्त अशुभों से छुटकारा मिल जाता है। परमतत्त्व का ज्ञान ही अविद्या को नष्ट करता है।

उपनिषदों के इसी सिद्धांत के आधार पर शंकर अनुभवजन्य समस्त अशुभों को स्वीकार कर उनका मूल कारण अविद्या निर्धारित करते हैं। अविद्या अध्यासरूपा है। यद्यपि आत्मा शिवस्वरूप है, उसमें कुछ भी अशुभ नहीं है किंतु देहादि के साथ अध्यास होने से समस्त अनर्थों की उत्पत्ति होती है। जहाँ-जहाँ अध्यास है वहाँ वहाँ पीडा, दुःख, क्लेश आदि अनर्थ हैं। सामान्यरूप से शंकर ने इन अशुभों को चार कर्मों में बाँट कर देखा है।

प्रथम, बाह्य वस्तुओं और व्यक्तियों से प्राप्त अशुभ है। "पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो" अर्थात् पुत्र, स्त्री आदि के विकल या सकल होने पर हमें अनुभव होता है कि हम स्वयं विकल या सकल हैं। "पुत्रमित्र आदिगोचरमपि दुःखं तदभिमानभ्रान्त्येवानुभवत्यहमेव पुत्रोऽहमेव मित्रमित्येवं स्नेहवशेनपुत्रमित्रादिष्वभिनिविशमानः। ततश्च निश्चितमेतदवगम्यतेमिथ्याभिमाननिमित्त एवं दुःखानुभव" अर्थात् "मैं ही पुत्र हूँ", "मैं ही मित्र हूँ" इस प्रकार स्नेहवश पुत्र, मित्र आदि में अभिनिवेश करता हुआ पुत्र, मित्र आदि विषयक दुःख का भी उनके अभिमान भ्रांति से अनुभव करता है। उससे यह निश्चित अवगत होता है कि मिथ्याभिमान भ्रम निमित्तक ही दुःख का अनुभव है।

दूसरे प्रकार के दुःख अपने शरीर से ही प्राप्त होते हैं। "देहधर्मान् स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि" अर्थात् मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं गौर हूँ, मैं खड़ा हूँ, मैं जाता हूँ, मैं लाँघता हूँ, इस प्रकार देह के धर्म से उत्पन्न होने वाले पीडा आदि अशुभ हैं। "स्वदेहगतदाहच्छेदादि निमित्तं दुःखं तदभिमानन्न्याऽनुभवति" अर्थात् अपने देहगत दाह छेदन आदि निमित्तक दुःख का उस देह के आत्माभिमान की भ्रान्ति से अनुभव करता है।

तीसरे प्रकार के अशुभ इन्द्रियजन्य हैं। "इन्द्रिय धर्मात् मूकः काणः क्लीवः बधिरः अन्धोऽहमिति" अर्थात् मैं मूक हूँ, काणा हूँ, नपुंसक हूँ, बधिर हूँ, अंधा हूँ, इस प्रकार इन्द्रिय धर्मों से उत्पन्न होने वाले दुःख हैं।

चौथे प्रकार के अशुभ अन्तःकरण में जन्म लेते हैं। "अन्तःकरणधर्मान्-काय संकल्प विचिकित्साध्यवतायादीन्" अर्थात् काय, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों से उत्पन्न होने वाले अशुभ हैं। इस सब अशुभों में सर्वाधिक अनर्थकारी अशुभ "काम" है। शंकर कहते हैं — "काम एष सर्वलोकशत्रुः यन्निमित्ता सर्वानर्थप्राप्तिः प्राणिनाम्" अर्थात् यह काम ही है जो सब लोगों का शत्रु है जिसके निमित्त से जीवों को सब अनर्थो की प्राप्ति होती है। ज्ञानी ही इस बात को जानता है कि इसके द्वारा मैं अनर्थो में पड़ गया हूँ। मूर्ख को तो अपनी कामनायें मित्र के समान प्रिय लगती हैं, किंतु जब उनका परिणाम दुःखरूप प्राप्त होता है तब उसे समझ आती है कि "मैं कामना के द्वारा दुःखी किया गया हूँ", वह पहले नहीं जानता है।

शंकर के अनुसार कामना से प्रभावित क्षेत्र इन्द्रिय, मन और बुद्धि तक विस्तीर्ण है। इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी चिन्मयानन्द लिखते है। - "बड़े विस्तृत क्षेत्र में अपराध करने वाले दस्युदल के सरदार के एक से अधिक रहने के स्थान होते हैं, जहाँ से वह पूरे दल का संचालन करता है। विना किसी नियंत्रण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एवं संयम के इन्द्रियाँ यदि विषयों में संचार करती हैं तो वे इच्छा के निवास के लिए प्रथम उपयुक्त स्थान है। इन्द्रियों के माध्यम से विषय की संवेदनाएँ मन में पहुँचने पर वह भी कामनाजन्य दुःखों की उत्पत्ति के लिए उपयुक्त क्षेत्र का कार्य करता है। अन्त में, पूर्व विषयोपभोग की स्मृति से रंजित आसक्तियों से युक्त बुद्धि कामना का तीसरा सुरक्षित वासस्थान है। इन स्थानों में कामनारूपी शत्रु को पकड़ा जा सकता है।

कामना समस्त अनर्थों की हेतु है, किंतु उसका भी कारण है अज्ञान। अविद्या से मोहित जीव शरीर के साथ तादात्म्य करके विषयोपभोग चाहता है। अविवेकपूर्ण मन और बुद्धि के साथ तादात्म्य करके भावनाओं एवं विचारों की संतुष्टि की वह इच्छा करता है।

शंकर अविद्या को अध्यासरूप मानते हैं। "अध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते" अर्थात अध्यास को विद्वान् लोग "अविद्या" मानते हैं। संक्षेप में अध्यास की परिभाषा इस प्रकार है — "अध्यासौ नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धि" अर्थात अतद् में तद्बुद्धि ही अध्यास है। यहाँ अनात्मा में आत्मबुद्धि ही अध्यास और अविद्या है। "प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः" अर्थात् प्रत्यगात्मा में अनात्मा का अध्यास है। इस प्रकार शंकर के मतानुसार अविद्या, अध्यास, मोह, कामना, कर्म और उनसे उत्पन्न कष्ट, पीडा, भय, चिन्ता, क्लेश, दुःख आदि अशुभ हैं। संक्षेप में इन सब को "संसार" कहते हैं। "अविद्याकायकर्म एव संसारः" अविद्या, काय और कर्म में ही संसार है। इसके अंतर्गत समस्त अशुभ आ जाते हैं।

इससे यह निर्णय निकलता प्रतीत होता है कि हमारा समस्त जीवन अशुभ का भण्डार है। हम प्रतिक्षण दुःखों में ही जी रहे हैं। किंतु अनुभव इसके विपरीत है। अनुभव में हम सुख-दुःख दोनों ही पाते हैं। किसी व्यक्ति के जीवन में दुःख अधिक है तो किसी के जीवन में सुख अधिक है। किसी एक को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। शंकर मत और व्यावहारिक अनुभव के इस विरोध में तालमेल बैठाने के लिए शंकर प्रतिपादित व्यवहार और परमार्थ के भेद पर ध्यान देना होगा।

व्यवहार में शंकर शुभ और अशुभ दो प्रकार के कर्म मानते हैं। अशुभ कर्मों का फल दुःख और शुभ कर्मों का फल सुख है। दुःख अशुभ है। अतः जिन कर्मो से दुःखमय फल मिलता है उन्हें अशुभ कहते हैं। इसी प्रकार कोई कर्म तभी शुभ है, जब वह हमें सुख अनुभव कराने में समर्थ है। कर्म का यह सिद्धांत भारतीय-दर्शन के सभी सम्प्रदायों में स्वीकार किया गया है। शंकर इसे व्यावहारिक जीवन में सत्य मानते हैं, किंतु इतना ही अंतिम सत्य नहीं है।

वे शुभ कर्मों से प्राप्त होने वाला सुख लौकिक, क्षणिक और बंधनकारी मानते हैं। भगवद्गीता का अनुवाद करते हुए वे कहते हैं, "स्वर्गलोक का विशाल सुख भोग चुकने पर प्राणि पुण्यों का क्षय हो जाने पर इस मृत्युलोकमें लौट आता है। उसे स्वतंत्रता का लाभ नहीं होता है। विश्व की समस्त वस्तुओं की भाँति शुभ कर्म भी नश्वर हैं। कर्म लौकिक हैं और उनके फल भी लौकिक हैं। उनमें गहनता और स्थिरता नहीं है।इसके अतिरिक्त जैसे, पाप का फल अवश्य भोगना पड़ता है, वैसे ही पुण्य भोगना भी अनिवार्य है। यह फल भोगने की अनिवार्यता ही बंधन है। बन्धन शुभ की कोटि में नहीं रखा जा सकता। कोई भी व्यक्ति बंधन नहीं चाहता। इस दृष्टि से शुभ कर्म और लौकिक सुखों में भी अशुभ-राहु का ग्रहण लगा दिखाई देता है। "कर्माणि एवं बन्धनानि" कर्म ही बन्धन हैं।

इस प्रकार शंकर समग्र जीवन को अशुभ सिद्ध कर परमार्थ के द्वारा उससे मुक्त होने का मार्ग प्रदर्शित करते हैं। परमार्थ-ज्ञान में पाप और पुण्य दोनों क्षय हो जाते हैं और प्राणी को अपनी पूर्णता, स्वतंत्रता और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सहजआनन्द की प्राप्ति होती है। "इतर-स्यापि पुण्यस्य कर्मणा एवमघवदसंश्लेषां विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः" ज्ञानी पुरुष का पाप के समान पुण्य का भी असंश्लेष और विनाश होता है। "ज्ञानफलापेक्षा निकृष्टफल-त्वात्" — ज्ञान फल की अपेक्षा से पुण्य निकृष्ट फलवाला है अतः वह अशुभ ही है और त्याज्य है। परमार्थ ही परम शुभ है और वही परम पुरुषार्थ है।

क्या शंकर निराशावादी है?

पैट्रिक के अनुसार, "दर्शन में निराशावाद वह सिद्धांत है जो जीवन को प्रधानतः अशुभ मानता है और जगत् में शुभ की अपेक्षा अशुभ और सुख की अपेक्षा दुःख की अधिकता घोषित करता है।" इस दृष्टि से यदि हम शंकर द्वारा प्रस्तुत किये गये व्यावहारिक जीवन का चित्र देखें तो उन्हें निराशावादी ही कहना पड़ेगा। वे जीवन में अशुभ की सत्ता तो स्वीकार ही नहीं करते हैं, किंतु यहाँ हम जो शुभ पाते हैं उसे भी वे दुःखरूप ही सिद्ध करते हैं। शुभ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला सुख क्षणिक, छिछला और बन्धनकारी है। उसमें ये अशुभ लक्षण हैं। अतः निर्बाध सुख, शांति और संतोष व्यावहारिक जीवन में कभी कहीं नहीं है। यदि पाठक शंकर के ये विचार पढ़कर अपने को यहीं सीमित कर लेता है, तो वह उन्हें घोर निराशावादी मान लेता है। किंतु यह मान्यता सही नहीं है, क्योंकि यह जल्दी में लिया गया निर्णय है।

व्यावहारिक जीवन में शंकर अशुभ और शुभ दोनों स्वीकार करते हैं। अनेक पूर्व जीवनों से अशुभ कर्मों में प्रवृत्त रहने वाला व्यक्ति इस जीवन में अपने बाहर-भीतर अनेक प्रकार के अशुभों से घिरा हो सकता है। वह उनके कारण निराशावादी भी हो सकता है। किंतु यह उसकी वैयक्तिक मान्यता है। इसी प्रकार पुण्यकर्मी व्यक्ति को जगत् में बहुत सुख प्राप्त होने के कारण अपना जीवन आशा से भरा हुआ दिखाई दे सकता है। यह भी उसकी व्यक्तिगत अनुभूति है। शंकर शुद्ध वैज्ञानिक की भाँति दोनों का निरीक्षण कर इस जगत् में शुभ और अशुभ दोनों स्वीकार करते हैं। अतः वे आशावादी या निराशावादी न होकर सत्य का प्रतिपादन करने वाले हैं।

यद्यपि कोई भौतिकवादी मनुष्य अपने पुण्य के फलस्वरूप अत्यधिक समृद्धि पाकर अपने को सुखी मान सकता है, किंतु शंकर की सूक्ष्म दृष्टि उनके मन की गहराई में उमड़ती हुई भय, चिन्ता और परवशता की आँधियाँ स्पष्ट देख लेती है। शंकर उन्हें भी दुःखी मानते हैं। उनकी दृष्टि उस निरपेक्ष आनन्द पर टिकी हुई है जहाँ कोई भी अशुभ सूक्ष्म रूप धारण करके भी प्रवेश नहीं कर सकता। यह आनन्द जगत् में विरले लोगों को ही प्राप्त होता है, किंतु इसे नकारा नहीं जा सकता। इस निरपेक्ष आनन्द के प्रतिपादक शंकर को हम निराशावादी नहीं कह सकते। डॉ. नौलखा के अनुसार, "निराशावादी वही कहलाता है जो जीवन और जगत् को दुःखों से परिपूर्ण मानता है और उससे छुटकारा पाना उसे संभव नहीं दिखाई देता।"[40] निराशावाद की यह शर्त शंकर मत पर लागू नहीं होती। ये व्यवहार में अशुभ और शुभ दोनों स्वीकार करते हैं और व्यावहारिक शुभ के दोषों को पारमार्थिक शुभ से दूर होना भी संभव मानते हैं। जीवन-मुक्त होकर मनुष्य जिस आनन्द का अधिकारी हो जाता है, उसे देखते हुए शंकर को निराशावादी कदापि नहीं कहा जा सकता।

मूल्यांकन

अशुभ की समस्या सभी दार्शनिकों के सामने हैं और उन्होंने अपने दृष्टिकोण से उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। उनकी तुलना कर किसी एक निर्णय पर पहुँचना कठिन है, किंतु जो दर्शन-पद्धति अधिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

युक्तसंगत है, उसी को हम उत्तम मान सकते हैं। कम से कम भारतीय दर्शनों में शंकर का अद्वैतवाद और उसमें अशुभ की समस्या का समाधान सर्वोत्तम प्रतीत होता है। हमारे इस कथन के कई कारण हैं

एक तो, भारत के अधिकांश दार्शनिकों ने अशुभ की सत्ता स्वीकार की है और उनमें से कुछ अशुभ की अधिकता मानते हैं। इसका कारण उनकी दार्शनिक पद्धति की माँग ही कहा जा सकता है, अन्यथा अनुभव में शुभ की सत्ता भी दिखाई देती है। शंकर अपने मत के दुराग्रह में न पड़कर व्यावहारिक जीवन की यथार्थता स्वीकार करते हैं। वे न अति निराशावादी हैं और न आशावादी। उन्हें न सर्वत्र स्वर्ग दिखाई देता है और न सर्वत्र नरक।

दूसरे, शंकर अशुभ से मुक्त होने का मार्ग दिखाते हैं। कोई भी व्यक्ति शुभ कर्म और तत्त्वज्ञान से अपनी दुःख निवृत्ति कर सकता है।

तीसरे, शंकर ऐसी कोई असम्भव कल्पना नहीं करते कि यह सम्पूर्ण जगत् ही किसी प्रकार किसी दिन स्वर्ग बन जायगा। जगत् में शुभ और अशुभ सदा रहेंगे, किंतु व्यक्ति अपने प्रयास से अपने दुःख दूर कर सकता है। अशुभ मनुष्य की व्यक्तिगत समस्या है।

चौथे, अशुभ का कारण अविद्या होने से शंकर अशुभ के लिए ईश्वर या शैतान को उत्तरदायी नहीं मानते। इससे मनुष्य की नैतिक चेतना को व्याघात नहीं लगता। वह अपना नैतिक दायित्व स्वीकार कर अपनी अविद्या से मुक्त होने का प्रयास करता है।

पाँचवें, ईश्वर को अशुभ का रचयिता न मानकर शंकर ने ईश्वर को क्रूरता के आक्षेप से बचाया है। शुभ स्वरूप ईश्वर से अशुभ की उत्पत्ति बताना कार्य-कारण नियम के विरुद्ध है। अतः शंकर के मत में तर्कीय दोष भी नहीं है। वे समस्त अशुभों का कारण अविद्या को मानते हैं जो स्वयं भी एक अशुभ है। अशुभ से अशुभ की उत्पत्ति होना तर्कसंगत है।

छठे, अशुभ की उत्पत्ति अविद्या से मानने पर जो तर्कीय दोष लगाये जाते हैं वे बहुत विचारपूर्ण नहीं हैं। जैसे, अशुभ से अशुभ की उत्पत्ति मानना चक्रीय दोष कहा जा सकता है। किंतु चक्रीय दोष से बचने के लिए यदि कोई उसका कारण शुभ या तटस्थ तत्त्व मानता है तो वह कार्य-कारण नियम का विरोधी होगा। यदि हम अविद्या को अनिर्वचनीय समझ लें तो हम उपर्युक्त दोनों दोषों से बच जायेंगे। किंतु अनिर्वचनीयता को तर्कशास्त्र सम्यक् व्याख्या से बचने का बहाना मानता है। फिर भी अधिकांश भारतीय दार्शनिक अविद्या या अज्ञान को ही अशुभ का कारण मानते हैं और शंकर उसका विरोध करना उचित नहीं मानते।

सातवें, अविद्या को अनादि मानने पर तार्किक आक्षेप कर सकते हैं। वे कहेंगे कि अविद्या का कारण खोजने में असमर्थ होने के कारण उसे अनादि माना जा रहा है। उनके इस तर्क को यदि हम मान लें तो अविद्या का भी कोई कारण खोजना पड़ेगा और उसके साथ भी वही आक्षेप किया जायगा जो अविद्या के साथ किया गया है। उसका भी पुनः कारण खोजने पर हम अनवस्था दोष में पड़ जायेंगे। अतः अनादि अविद्या को ही अशुभ का कारण मानना उचित है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संदर्भ सूची

1. G.T.W. Patrick, Introduction to Philosophy, P.405
2. तैत्तिरीय उपनिषद् शांकर भाष्य प्रस्तावना, पृ. 24
3. Radoslav A. Tsanoff, The Nature of Evil, Cambridge University Press (1946) P.11
4. Frank Thilly;, A History of Philosophy, P.91.
5. Ibid, P.152.
6. The Nicomachean Ethics of Aristotle, Translated by D.P. Chase, P.36..
7. Prof. Frank Thilly, A History of Philosophy, P. 183 "Evil is not good, but it is good that evil is."
8. Prof. Frank Thilly, A History of Philosophy, P.235.
9. महावग्ग, 1-9
10. धम्मपद, 1.28
11. मध्यमक शास्त्र, 1-2
12. सांख्य-कारिका, 1, पृ. 72
13. वही, 55, पृ. 308
14. योगसूत्र, 3
15. वही, 4
16. योगभाष्य, 2-15
17. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 2.1.11 पृ. 356
18. ईशावास्योपनिषद्, 7
19. कठोपनिषद्, 1.3.15
20. मुण्डकोपनिषद्, 3.2.9.
21. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.4
22. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1.1.11
23. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, प्रस्तावना, पृ. 17
24. वही, 2.3.46, पृ. 528
25. वही, प0 17
26. वही, 2.3.46
27. वही, प्रस्तावना, पृ. 17
28. वही, पृ.17
29 भगवद्गीता, शां.भा. 3.37
30 वही, 3.39
31. वही, 3.40
32. भगवद्गगीता, स्वामी चिन्मयानन्द की व्याख्या, पृ. 133
33. ब्रह्मसूत्र, शां. भा. प्रस्तावना, पृ. 12
34. वही, पृ. 17
35. वही, पृ. 12
36. भगवद्गीता, शां.भा. 9.21
37. वही, 9.24
38. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. 4.1.15
39. "Pessimism in philosophy is the doctrine that life is essentially evil, that there is more pain in the world than pleasure, more evil than good." G.T.W. Patrick, Introduction to Philosophy, P. 408.
40. शंकर का ब्रह्मवाद, डॉ. रामस्वरूप सिंह नौलखा, पृ. 319

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय - 14
समाज-दर्शन

वेदों और उपनिषदों में समाज-संरचना के सिद्धांत

भारतीय समाज-दर्शन के चिन्तन का मूल खोजते हुए हमें वैदिक साहित्य तक जाना पड़ता है। वेदों में सर्वप्रथम पुरुष-सूक्त में समस्त समाज को काव्यात्मक भाषा में एक पुरुष के रूप में देखने का प्रयास किया गया है। उसमें समाज के विभिन्न वर्ग पुरुष-शरीर के विभिन्न अंगों के समान माने गये हैं। "पुरुष" शब्द परमात्मा के एक पाद में स्थित है। शेष तीन पाद अमृतस्वरूप हैं। (त्रिपादस्यामृतं दिवि)।[1] यह पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र और तारे उसी से उत्पन्न हैं और उसी में स्थित हैं। ग्रीष्मादि ऋतुयें तथा प्रकृति के सभी नियम उसी से निःसृत हैं।[2] कीट-पतंग, पशु-पक्षी जो वन या ग्रामों में वास करते हैं उसी से उत्पन्न हैं।[3] मनुष्य समाज तो उसके अंगों के समान ही है –

ब्राह्मणोऽय मुखमासीत् बाहूराजन्य कृतः।

उरूतदस्ययद्वैश्यः पद्भयाम् शूद्रो अजायत ॥[4]

"परम पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए हैं।"

पुरुष-सूक्त के इन कथनों से समाज-दर्शन विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य निकाले जा सकते हैं। सर्वप्रथम, वैदिककाल में अनेक समाजों की कल्पना नहीं थी। सम्भव है उस समय पृथ्वी पर केवल हिन्दू समाज ही रहा हो और अन्य समाजों की उत्पत्ति कालान्तर में हुई हो। अथवा वैदिक ऋषि अपनी व्यापक दृष्टि में विश्व के समस्त समाजों को एक इकाई के रूप में देखते हों। कुछ भी हो, वैदिक ऋषि केवल एक समाज को ही मानते थे।उस समाज को उन्होंने चार वर्गों में बाँट लिया था। यह सामाजिक वर्गीकरण दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

वैदिक काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समाज के चार वर्ग माने गये थे। इनके अभिधान से ही इनकी विशेषता का ज्ञान होता है। ब्रह्म परम सत् है। उससे सम्बद्ध पुरुषों का समाज ब्राह्मण है। उनके जीवन का लक्ष्य पूर्णता प्राप्त करना है। उनका व्यवहार संयत और सुसंस्कृत है। उनका मन सात्विक और सन्तुलित है।

क्षत्रिय के लिए "राजन्य" शब्द का प्रयोग किया गयाा है। वह समाज का शासक और संरक्षक है। सत्पुरुषों की सेवा और दुष्टों के दलन हेतु वह सदा तत्पर रहता है। न्याय और धर्म की रक्षा के लिए वह युद्ध करने और मरने को तैयार रहता है।

वैश्य अन्नादि के उत्पादन और वितरण में रुचि रखता है। अभावग्रस्त देशों में जीवन की उपयोगी वस्तुयें पहुँचाना और समाज को धन-धान्य से समृद्ध रखना उसका प्रमुख कार्य है।

समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिन्हें अपनी शक्ति और योग्यता पर विश्वास नहीं होता। अतः वे स्वतन्त्ररूप से अपने साहस के साथ कोई कार्य नहीं कर सकते। "शूद्र" शब्द का तात्पर्य "उदास

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और निराश" है। ऐसे लोग अन्य वर्गो की सेवा कर ही अपना जीवन-यापन कर सकते हैं। इनमें तमस् गुण अधिक होता है। क्षत्रिय और वैश्यों में रजस् की प्रधानता होती है।

मनुष्यों का यह भेद उनके गुण और स्वभाव के कारण है। यद्यपि बाह्यरूप से यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं और शूद्रों का वर्ग सबसे निम्न है किंतु जब हम देखते हैं कि एक ही निर्लेप और निर्विकार परम पुरुष के ये सभी अंग हैं तो ऊँच-नीच की भावना के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। तत्त्वतः सब एक हैं और समाज के वर्ग होने के कारण सबका महत्त्व एक समान है। सभी वर्गो के बीच सौहार्द्र और समझ के विना समाज का स्वस्थ रूप देखने में नहीं आ सकता। जैसे, शरीर के सभी अंग आपस में सहयोग रखते हैं उसी प्रकार समाज के सभी वर्गों को आन्तरिक एकसूत्र के साथ जुड़ा रहना चाहिए। कोई वर्ग समांज के शरीर से कटकर न समाज का हित क़र सकता है और न अपना अस्तित्व रख सकता है।

पुरुष-सूक्त के ये विचार उपनिषद् और भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में विकसित किये गये तथा उन्हें स्पष्ट रूप दिया गया। यहाँ ध्यान देने का मुख्य बिन्दु यह है कि अद्वैत-वेदान्त दर्शन की दृष्टि से परम सत् ब्रह्म ही समस्त विश्व के रूप में प्रकट है और राष्ट्र या समाज उसी विश्वरूप परमात्मा के विभिन्न अंग हैं। प्रधानता एकत्व की है और राष्ट्र के सभी नानात्व उसी एक पर आश्रित हैं।

वैदिक राज्य व्यवस्था में भी यही दार्शनिक दृष्टि विद्यमान है। श्रुतियों में राजा के चयन, राज्य के संगठन, लोकतन्त्रीय व्यवस्था, कर-प्रणाली और न्याय-व्यवस्था का भी प्रसंगानुसार उल्लेख है। अथर्ववेद के नीचे उद्धृत मन्त्रों से ज्ञात होता है कि राजा का चुनाव किया जाना चाहिये —

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि
प्राङ् दिशां प्रतिरेकराट् त्वं विराज।
सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो
ह्वयन्त्पसद्यो नमस्योऽभवेह।[5]

"हे राजन्! यह राष्ट्र तुम्हें प्राप्त हुआ है। तुम तेजवान् होकर उन्नति को प्राप्त करो। तुम समस्त प्रजा के एकमात्र स्वामी बनकर सम्राट् पद पर विराजमान् रहो। सब लोग तुमसे रक्षा की कामना करें और तुम सब प्रजाओं के द्वारा पास पहुँचने योग्य रहो। सब तुम्हें नमस्कार और सत्कार करें।"

त्वां विशो वृणतां राज्याय[6]

"समस्त प्रजाओं द्वारा राज्य करने के लिए तुम्हारा चुनाव किया गया है।"

इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि प्रजा के द्वारा राजा का चुनाव होना चाहिए। "वृणता" का तात्पर्य वरण किया गया है। इस प्रकार स्वीकार किया गया राजा समस्त प्रजा की रक्षा करता है। यह उसका मुख्य कर्त्तव्य है। प्रजा के कष्टों को सुनने और उनका निवारण करने के लिए राजा और प्रजा में निकटता होनी चाहिए। राजा का चरित्र और व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि वह प्रजा के लिए आदरणीय रहे। अतः राजा को न्यायप्रिय, तेजवान् और शक्तिशाली होना अनिवार्य है।

अथर्ववेद में राज्य की उत्पत्ति का क्रम भी बताया गया है।[7] उसके अनुसार सृष्टि प्रारम्भ होने पर विराट् की उत्पत्ति हुई। उससे समस्त जीवों और मनुष्यों की उत्पत्ति हुई । उनका पुनः उत्क्रमण होने पर परिवार और "गृहपति" की व्यवस्था बनी। जो व्यक्ति इसे जानता है वह गृहपति होता है।[8]

पुनः वे परिवार उत्क्रान्त होकर "सभा" का रूप धारण करने लगे। कई परिवार के गृहपतियों ने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मिलकर एक सभा बनाई। जो इसको जानता है वह सभासद् बनता है।[9] सभाओं का पुनः विकास हुआ और "समितियाँ" बनाई गयीं। जो विद्वान् इसे जानते हैं वे इन समितियों के "समित्य" बने।[10] जब समितियों का उत्क्रमण हुआ तो "आमंत्रण" बना। जो विद्वान् इस रहस्य को जानते हैं वे आमंत्रण परिषद् के अनुरूप सदस्य बने।[11]

श्रुतियों का कथन है कि इस प्रकार परिवार की व्यवस्था विकसित होते हुए ग्राम, नगर, प्रदेश और राष्ट्र का रूप धारण करती गयीं और उनकी शासन व्यवस्था के लिए सभायें और समितियाँ बनती गयीं। इन सब का प्रमुख "राजा" बना और समस्त राष्ट्र की रक्षा तथा व्यवस्था का उदायित्व उस पर रखा गया। रक्षक होने के कारण वह "क्षत्रिय" कहलाया और पुरुष-सूक्त में उसकी तुलना शरीर में बहु रूप से की गयी। मंत्रणा देने वाले सभासद् या आमंत्रण सदस्य ब्राह्मण कोटि मे माने गये। यद्यपि वे प्रजा की रक्षा आदि कार्य के लिए सीधे उत्तरदायी न थे किंतु उन्हीं के निर्णय के अनुसार राजा कार्य करता था।

इस प्रकार वैदिक राज्य-व्यवस्था का सिद्धांत पश्चिमी मतों से कुछ भिन्न मिलता है। वहाँ राज्य की उत्पत्ति का निर्धारण करने वाले तीन मुख्य सिद्धांत मिलते हैं — 1: विकासवादी, 2. सामाजिक समझौतावादी और 3. ईश्वरवादी। अरस्तू[12] आदि विकासवादी सामाजिक संगठन स्वीकार करते हैं और राज्य की उत्पत्ति क्रमिक मानते हैं। पारिवारिक संगठन ही विकसित होकर राज्य बन गया। हाब्स आदि सामाजिक समझौते का सिद्धांत मानते हैं।[13] उनके अनुसार असंगठित मनुष्य समुदाय को संघर्षों का सामना करना पड़ता था, अतः उन्होंने अपनी समस्याओं के समाधान हेतु किसी काल-विशेष में एक साथ मिलकर राज्य व्यवस्था का अंकुश अपने ऊपर स्वीकार कर लिया। संत पाल जैसे ईसाई दार्शनिक राज्य को एक ईश्वरीय संस्था मानते हैं।[14] उनके अनुसार राजा को ईश्वर से शक्ति प्राप्त होती है और राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है।

इन सिद्धांतों की तुलना वैदिक मत से करने पर ज्ञात होता है कि यहाँ सामाजिक समझौता स्वीकार नहीं किया गया है। वेदों में उसका उल्लेख आंशिकरूप में भी नहीं है। वेदों में विकासवादी मत अवश्य स्वीकार किया गया है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कह चुके हैं। किंतु यह विकासवाद अरस्तु जैसे दार्शनिकों द्वारा मान्य शुद्ध विकासवाद नहीं है। इसके साथ ईश्वरवादी मत भी जुड़ा हुआ है। किंतु यह ईश्वरवाद पश्चिम के ईसाई मत से मेल नहीं रखता है।

हम कह सकते हैं कि परमात्मा ही विराट् रूप धारण कर समाज और राज्य रूप में प्रकट होता है। अतः राजा विशेषरूप में और प्रजा सामान्यरूप में परमात्मा के ही रूप हैं। राजा परमात्मा की विभूति है। इस दृष्टि से यह वैदिक राज्य व्यवस्था ईश्वरवादी है। किंतु व्यक्तियों के बीच जो संगठन का विकास परिवार से बढ़ते हुए राज्य तक पहुँचा वह विकासवाद कहा जा सकता है। पश्चिमी मत के विपरीत यह विकास केवल भौतिक शक्तियों से प्रेरित होकर आगे नहीं बढ़ता है। इसके मूल में एकत्व की संगठनात्मक शक्ति कार्य करती है।

उपनिषदों का मुख्य विवेच्य विषय परम सत् का अनुसन्धान और उसके साथ आत्मा का सम्बन्ध निर्धारित करना है। सामाजिक व्यवस्था अथवा राज्य संगठन से उनको कोई प्रयोजन नहीं है। फिर भी सत्यान्वेषी ऋषि समाज के एक अंग हैं और साधना की दृष्टि से समाज आदि संस्थायें अवश्य ही अपना महत्त्व रखती हैं। उपनिषदों में तत्कालीन सामाजिक दशा और उसके व्यवस्थापक नियमों की कुछ झलक उन कहानियों में मिलती है जो उपनिषदों में ज्ञान-चर्चा की भूमिका के रूप में कही गयी हैं। उनके आधार पर हम उपनिषदीय समाज-दर्शन पर विचार करेंगे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पुरूष-सूक्त में विराट् रूप परमात्मा के अंगों के समान चार वर्णों का उल्लेख किया गया है। उपनिषद् के ऋषि, मानों, उसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह वर्ण विभाजन मनुष्य जाति में ही नहीं है वरन् समस्त सृष्टि चार वर्णों में विभक्त है। बृहदारण्यकोपनिषद् में चार वर्ण रूप सृष्टि का उल्लेख इस प्रकार है –

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छे-

योरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रौ वरुणः

सोमो रुद्रः पर्यन्यो यमो मृत्युरीशान इति।[15]

"आरम्भ में यह एक ब्रह्म (अग्नि) ही था। अकेले होने के कारण वह विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने अतिशयता से क्षत्र इस प्रशस्त रूप की रचना की। देवताओं में क्षत्रिय, जो इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु ईशानादि हैं, उन्हें उत्पन्न किया।"

स नैव व्यमवत्स विशभसृजत यान्येतानि देव जातानि गणशः

आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति।[16]

"वह विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने वैश्य जाति की रचना की। जो ये वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वदेव, मरुत आदि देवगण गणशः कहे जाते हैं उन्हें उत्पन्न किया।"

स नैव व्यमवत्स शौद्र वर्णमसृजत पूषणमिय वै पूषेयं हीद

सर्व पुष्यति यदिदं किञ्च।[17]

"फिर भी वह विभूतियुक्त करने में असमर्थ रहा, तो उसने शूद्रवर्ण की रचना की। पूषा शूद्रवर्ण है। यह पृथ्वी ही पूषा है, क्योंकि यह जो कुछ है, यह इसका पोषण करती है।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि समस्त सृष्टि और उसे द्योतित तथा संचालित करने वाली शक्तियाँ चार प्रकार की हैं। ज्ञान की प्रतीक प्रकाशस्वरूप अग्नि ब्राह्मण है। अन्यत्र अग्नि को परमात्मा का मुख तथा पुरुष-सूक्त में ब्राह्मण को परमात्मा का सिर माना गया है। अतः अग्नि के प्रति ब्राह्मण दृष्टि रखना उचित ही है। इन्द्र, वरुण आदि जीवन रक्षक हैं, इसलिए वे क्षत्रिय हैं। वसु, रुद्र आदि समृद्धि करने वाले हैं, इसलिए वे वैश्य हैं। पृथ्वी शूद्र है। वह सबकी सेविका और पोषक है।

इस प्रकार जब समस्त सृष्टि ही चार वर्णों में विभक्त है तो वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि भी इन चार वर्णों में विभक्त हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। यह विभाजन किसी व्यक्ति-विशेष ने किसी सीमित प्रयोजन के हेतु नहीं किया है, वरन् वह स्वाभाविक या ईश्वरकृत है। यह व्यवस्था सार्वभौमिक है। केवल भारत के हिन्दुओं में ही इसे सीमित मानना शास्त्र-विरुद्ध है।

उपर्युक्त उद्धरणों में इस बात पर भी बल दिया गया है कि किसी एक वर्ण के अभाव में कोई विभूतियुक्त कर्म नहीं हो सकता है। इस विशाल सृष्टि में यदि पृथ्वी (शूद्र) का ही अस्तित्व न हो तो इससे हजारों गुना बृहद् और चमचमाते हुए सूर्य, चन्द्र का भी कोई अर्थ नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य समाज में यदि विचारक (ब्राह्मण), रक्षक (क्षत्रिय), उत्पादक (वैश्य) या सेवक (शूद्र) वर्गों में से एक भी निष्क्रिय हों या उनका अस्तित्व न हो तो समाज में विभूतियुक्त कर्म नहीं हो सकता है। किसी एक वर्ण को मिटाने का प्रयास करना समस्त समाज को पंगु बनाना है। यह सृष्टि की व्यापक व्यवस्था के विरुद्ध है।

उपनिषदों में इस बात का भी स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि यह वर्ण-व्यवस्था समाज में जन्म से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निर्धारित नहीं है किन्तु वंश के प्रभाव से मुक्त भी नहीं है। सत्यकाम जाबाल की आख्यायिका से हम उस काल की स्थिति का अनुमान लगा सकते हैं। जबाला नाम की एक स्त्री परिचारिका (शूद्र) थी। उसके पति के घर में आने वाले अतिथि और अभ्यागतों की वह सेवा किया करती थी। उन्हीं अतिथियों में से किसी से जबाला को युवावस्था में गर्भ प्राप्त हुआ और सत्यकाम का जन्म हुआ। यह भी सम्भव हो सकता है कि जबाला को अपने ही पति से सत्यकाम की प्राप्ति हुई हो। किन्तु इतना निश्चय है कि वह सत्यकाम के पिता का गोत्र आदि न बता सकी। गौतम ऋषि ने सत्यकाम के स्वभाव को देखकर कहा कि ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता। अतः वह ब्राह्मण ही है।[18]

इसका तात्पर्य है कि मनुष्य का वर्ण उसके गुण और स्वभाव से निर्धारित होता है, किंतु सामान्य रूप से पिता भी उसी वर्ण का होता है। माता से वर्ण निर्धारित नहीं होता। रैक्व मुनि राजा जानश्रुत को क्षत्रिय जानते हुए भी "शूद्र" कह कर केवल इसीलिए सम्बोधित करता है कि उसमें शूद्र के लक्षण हैं।[19]

याज्ञवल्क्य के उपाख्यान से ज्ञात होता है कि एक से अधिक पत्नियाँ रखने की प्रथा अनैतिक नहीं थी। याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मवादियों के भी दो भार्याएँ हो सकती थीं — "याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये"।[20] राजाओं के अन्तःपुर में उनकी पत्नियों की संख्या सैकड़ों में हो सकती थी।

उपनिषदों में आश्रम-व्यवस्था की ओर भी संकेत है। सत्य-काम, श्वेतकेतु आदि ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरु के पास विद्या अध्ययन करते हैं।[21] उपमन्यु, पुलुष, मल्लवि, शर्कराक्ष और उनके पुत्र गृहस्थ हैं।[22] उनके धन-धान्य से सम्पन्न बड़े परिवार हैं। याज्ञवल्क्य गृहस्थ आश्रम त्याग कर परिव्राजक हो जाते हैं।[23] प्रव्रज्या में वानप्रस्थ और संन्यास दोनों आश्रम आ सकते हैं।

उपनिषदों में मनुष्यों का विभाजन वर्ण और आश्रम के अतिरिक्त भिन्न प्रकार से भी किया गया है। इसका आधार उनकी प्रवृत्तिहै। इस विभाजन के अनुसार सभी मनष्य देव, मनुष्य और असुर तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। देव वे हैं जिन्हें अपने शुभ कर्मों के फलस्वरुप प्रचुर भोग सामग्री उपलब्ध है और वे भोगों में लिप्त हैं। मनुष्य वे हैं जो धन में आसक्त हैं। उसी के संग्रह और संरक्षण में लगे हैं किंतु उसके भोग के लिए उन्हें अवसर नहीं। असुर दूसरों को पीडा पहुँचा कर भोग सामग्री अशुभ-कर्मो से अर्जित करते हैं। उन्हें सुख नहीं प्राप्त होता, किंतु वे अपने को सुखी होने का दम्भ करते हैं।[24]

उपनिषदों में राज्य-व्यवस्था के सिद्धांत नहीं बताये गये हैं किंतु उनमें कुछ राज्यों का वर्णन अवश्य मिलता है जो उपनिषदीय सिद्धांतों के अनुकूल हैं। उनमें जानश्रुत, अश्वपति और जनक के तीन राज्यों का वर्णन आया है। तीनों राज्यों का नियंत्रक राजा ही है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय राज्य-व्यवस्था में राजतन्त्र को ही स्वीकारा गया था और उसी को वेदान्त के अनुकूल माना जा सकता है।

तीनों ही राजा कर्त्तव्य-परायण हैं और प्रजा की सुख-समृद्धि के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले यश को सर्वाधिक मूल्य देते हैं। वे अपनी भोग-लिप्सा में कृतार्थता नहीं मानते हैं। राजा जानश्रुत "श्रद्धादेयो बहुदायी, बहुपाक्य"[25] था और उसका तेज द्युलोक के समान फैला हुआ था — "दिवा ज्योतिराततं"।[26] राजा अश्वपति भी सुन्दर राज्य-व्यवस्था के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह अपने राज्य के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के चरित्र को सर्वाधिक मूल्य देता है। उसे अपने राज्य की सीमा और समृद्धि का उतना गर्व नहीं है जितना अपनी प्रजा के चरित्रवान् होने का। वह स्वयं अपने मुख से कहता है —

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नाना हिताग्निर्ना-

विद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्षमाणो।[27]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है तथा न अदाता, न मद्यप, न अनाहिताग्नि, न अविद्वान् और परस्त्रीगामी ही है, फिर कुलटा स्त्री तो आयी ही कहाँ से?"

उपनिषद्-कालीन राजाओं में जनक की गणना सबसे आगे है। उस समय भी सब की जिह्वा पर जनक का ही नाम था। "जनको जनक इति वै जना धावन्ति"[28] अर्थात् "लोग जनक-जनक कहकर दौड़ते हैं"। जनक की प्रसिद्धि दानी और श्रोता के रूप में थी। वह ज्ञानियों की सभायें करता और उन्हें स्वर्ण तथा गायें दिया करता था। इसी प्रकार की एक सभा में जनक ने याज्ञवल्क्य को एक सहस्र गाय और प्रत्येक गाय के साथ दस-दस पाद स्वर्ण दिया था।[29]

उपनिषदों में वर्णित राज्य और समाज-व्यवस्था देखने से ज्ञात होता है कि वह वेदान्त दर्शन के अनुकूल है। वेदान्त के अनुसार परम सत् ब्रह्म है और जगत् का नानात्व उसी से उत्पन्न होकर उसी के साथ जुड़ा हुआ है। जीव और जगत् की पूर्णता परमात्मा की प्राप्ति में ही संभव है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णता प्राप्त करना सम्भव बनाने के लिए राज्य और समाज की व्यवस्था में सामान्य भौतिक समृद्धि, शांति, सच्चरित्रता और शिक्षा आवश्यक हो जाती है। राजा लोग स्वयं आदर्श जीवन जीते हैं और परम तत्त्व की प्राप्ति हेतु निष्ठापूर्वक प्रयास करते हैं। ब्राह्मण वर्ग शिक्षा द्वारा और क्षत्रिय वर्ग रक्षात्मक व्यवस्था कर समस्त समाज को जीवन का चरम लक्ष्यप्राप्त करने में सहायता करता है।

शिक्षा व्यवस्था ब्राह्मणों के हाथ में है। वे पढ़ने में रुचि रखने वाले योग्य विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा ही नहीं देते वरन् उनके भोजन, पहिनने और रहने की भी व्यवस्था अपनी ओर से करते हैं। आचार्य अपने परिवार के साथ सादा और सरल जीवन बिताते हैं और विद्यार्थियों को अपने परिवार के सदस्य की ही भाँति रखते हैं। याज्ञवल्क्य राजा जनक से एक हजार गायें और स्वर्ण अपने लिए ही नहीं वरन् अपने विद्यार्थियों के लिए लाते हैं। राजा लोग इन ब्राह्मण आचार्यों को उदारतापूर्वक दान देते रहते हैं। यह दान देना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है।

आचार्य विद्यार्थियों की योग्यता के अनुसार उन्हें जीवनोपयोगी विद्यायें पढ़ाते हैं। श्वेतकेतु आचार्यकुल में बारह वर्ष रह कर वे सब विद्यायें पढ़ता है।[30] वह बहुत बुद्धिमान् और व्याख्या करने वाला हो जाता है। किंतु अध्यात्म विद्या न सीखने के कारण उसका ज्ञान अधूरा रहता है और उसमें अविनय जैसे दुर्गुण बने रहते हैं। देवर्षि नारद अपने आचार्य के सामने उन सब विद्याओं के नाम बताते हैं जो उन्होंने पढ़ी हैं किंतु उनके पढ़ने से शोक से निवृत्त नहीं हुए हैं –

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराण पञ्चमं

वेदानां वेदं पित्र्यंराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां

भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।

.....सोऽहं भगवः शोचामि।[31]

"भगवन् ! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और चौथा अथर्ववेद याद हैं, इनके सिवा इतिहासपुराण, पाँचवा वेद, वेदों का वेद (व्याकरण)), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, विधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, और देवजनविद्या (नृत्य संगीत आदि)) हैं – वह सब मैं जानता हूँ।"

वेदान्तदर्शन के अनुसार ये सब विद्यायें जीवन के लिए उपयोगी हो सकती हैं। इन के द्वारा मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन को समृद्ध और सुरक्षित बनाकर अभ्युदय प्राप्त कर सकता है किंतु इनसे न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निःश्रेयस सिद्ध होता है और न शोक से निवृत्ति होती है। उपनिषदों में शोक से मुक्त कराने वाली अध्यात्म विद्या को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। उस के लिए विद्यार्थी में इन्द्रिय-संयम, धृति और प्रशान्त बुद्धि की आवश्यकता है। अतः इस विद्या के अधिकारी गुरुकुल में पहले कुछ काल सेवा आदि कर्म करते हुए चित्त शुद्ध करते हैं और उसके उपरान्त आचार्य से आत्मज्ञान ग्रहण करते हैं। इस प्रकार समस्त शिक्षा-व्यवस्था अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हेतु तैयार की जाती है।

वेद और उपनिषद् काल की यह समाज व्यवस्था आदर्शवादी होते हुए भी जीवन के यथार्थ की उपेक्षा नहीं करती। व्यावहारिक जीवन को समृद्ध बनाना अधिकांश लोगों के हित में आवश्यक है। वह परमार्थ के लिए बाधक नहीं, वरन् उसी ओर ले जाने वाली है।

अद्वैतवेदान्त समग्र जीवन, समाज और राज्य का हितचिन्तक और समाज के सभी वर्गों के हेतु उन्नति की व्यवस्था करने वाला है। इसकी समग्रतावादी दृष्टि के सामने समस्त विश्व समाज एक परम सत् से जुड़ा दिखाई देता है। ऊपरी नानात्व और विभेदों के मूल में एक नित्य तत्त्व की सत्ता अपरिहार्य रूप से मानी गयी है और उसी दृष्टि से समाज की सभी संस्थाओं का विवेचन हुआ है।

अद्वैत-वेदान्त में विवेचित समाज-व्यवस्था

शंकराचार्य ने अद्वैत-वेदान्त को तर्कीय आधार ही नहीं प्रदान किया वरन् उसे व्यावहारिक जीवन के साथ सम्बद्ध कर तदनूकुल समाज-व्यवस्था की भी उद्भावना की। कोई भी भारतीय चिन्तक जीवन के यर्थाथ की उपेक्षा कर विद्वज्जनों से प्रशंसित और आदरणीय नहीं हो पाया। अद्वैत-वेदान्त यद्यपि आत्मा और ब्रह्म की एकता सिद्ध करने में विशेष रूप से प्रवृत्त है, किंतु उससे अन्ततः व्यक्ति के जीवन और समाज की व्यवस्था आदर्श रूप प्राप्त करती है और यही उसकी सार्थकता है। कुछ विचारकों का यह मत हो सकता है कि अद्वैत-वेदान्त की न अपनी कोई समाज-व्यवस्था है और न सामाजिक जीवन में उसकी कोई रुचि है। उनका तर्क यह होता है कि इस दर्शन में ब्रह्म को ही सत् माना गया है और जगत् तथा जीवों की अनेकता तो मिथ्या है। मिथ्या वस्तु में कोई व्यवस्था या प्रयोजन खोजना निरर्थक है। वे दुःसाहसपूर्वक यह भी कह सकते हैं कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष असामाजिक होता है। उसे न समाज के प्रति रुचि होती है और न उस पर सामाजिक वातावरण का कोई प्रभाव पड़ता है।

अद्वैत-वेदान्त के संबंध में ऐसा कहना प्रजल्पता मात्र है। उन्होंने इस गौरवमय दर्शन को समझा नहीं वरन् उसके ऊपर अपनी मिथ्या धारणायें आरोपित कर रखी हैं। शंकर ने इस प्रकार की शंकाओं का उच्छेद करने केलिए प्रतिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्यों की उद्भावना की है। जब तक व्यक्ति स्वप्नजगत् में वास करता है तब तक उसके लिए वही सत्य है। उसके जागने पर ही उसे स्वप्न का मिथ्यात्व भासित होता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होने के पूर्व व्यावहारिक जीवन ही सत्य है। शंकर व्यवहार में जीवन और जगत् को कभी मिथ्या नहीं मानते। ज्ञानपूर्व व्यक्ति को अपने व्यावहारिक जीवन में अपने तथा अपने आसपास के जगत् के प्रति दायित्वपूर्ण जीवन जीना आवश्यक है। उसे मिथ्या मान लेने की सम्मति कभी नहीं दी जाती है।

ज्ञान प्राप्त होने पर व्यक्ति के वासनाजन्य काल्पनिक बन्धन नष्ट हो जाते हैं और आसपास का जगत् तथा अपने स्थूलादि तीनों शरीरों को नामरूपमात्र देखता हुआ सर्वत्र एक अद्वितीय सत्ता का विस्तार देखता है। ऐसी दृष्टि पाकर भी उसके मन-बुद्धि पर बाह्य जगत् का प्रभाव पड़ता है और वह अज्ञानियों की दैन्य दशा पर करुणार्द्र होकर उनका हित-चिन्तन और मार्ग-दर्शन करता रहता है। वह अज्ञानी सामाजिक मनुष्यों के बीच ज्ञानी रहकर आदर्श-जीवन जीता है और अज्ञान का आवरण तोड़ कर बाहर निकलने के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लिए सबको प्रेरणा देता रहता है।

व्यावहारिक सत्य को स्वीकार कर शंकर व्यक्ति के नित्य-प्रति के जीवन और समाज-व्यवस्था आदि की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। शंकर इस व्यवस्था को "धर्म" नाम देते हैं। वर्णाश्रम धर्म, कुल धर्म, राज धर्म आदि इसी के अंतर्गत आते हैं। धर्म के ये सभी भेद व्यावहारिक जीवन से संबंधित रखते हैं। इसलिए शंकर इसे प्रवृत्त धर्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त निवृत्तलक्षण धर्म भी है जिसका सम्बन्ध निःश्रेयस से है।[32]

द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः

प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणः च।[33]

"वेदोक्त धर्म दो प्रकार का है — एक प्रवृत्तिरूप और दूसरा निवृत्तिरूप।"

धर्म की परिभाषा देते हुए शंकर कहते हैं, "जो जगत् की स्थिति, प्राणियों की उन्नति और मोक्ष तथा कल्याण का हेतु है और ब्राह्मणादि वर्णाश्रम अवलम्बियों द्वारा जिसका अनुष्ठान किया जाता है उसका नाम धर्म है।"[34] इससे स्पष्ट है कि धर्म व्यावहारिक जीवन जीने का विधान है। उसके नियमों का पालन करने में व्यक्ति और समष्टि सबका अभ्युदय तो होता ही है, साथ ही सबकी सुरक्षा भी रहती है। वर्ण और आश्रम की व्यवस्था और उसमें बताये गए नियमों का पालन करना ही धर्म है। धर्म का पालन करने से अन्ततः निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

इसके विपरीत धर्म की व्यवस्था न मानने से सामाजिक विघटन होता है और व्यक्ति का जीवन भी विशृंखलित हो जाता है। शंकर धर्म को मान्यता देकर सामाजिक व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

सामाजिक व्यवस्था का मुख्य आधार वर्ण और आश्रम धर्म है। शंकर ने इसका समर्थन किया है। वे पुरुष-सूक्त के "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" मंत्र का स्मरण करते हुए गीता के अनुसार उसे गुण कर्म पर आश्रित मानते हुए ईश्वरकृत स्वीकार करते हैं। गुण सत्त्व, रजस् और तमस् हैं। इन गुणों से समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है, इसलिए वह त्रिगुणात्मक और चार वर्णो में विभाजित है। इस सृष्टि में मनुष्य समुदाय भी है और वह भी त्रिगुणात्मक है। अतः समाज भी प्रकृत्यः चार वर्णों में विभाजित है। जैसे समस्त सृष्टि ईश्वरकृत है, वैसे ही मनुष्य समाज और उसका विभाजन भी ईश्वरकृत है। शंकर ने गुण और वर्ण का सम्बन्ध इस प्रकार निर्धारित किया है ।

"सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मण है और शम, दम, तप आदि उसके कर्म हैं। सत्त्वगुण गौण और रजोगुण प्रधान होने पर मनुष्य क्षत्रिय वर्ण का माना जाता है। और शूरवीरता, तेज प्रभृति उसके कर्म हैं। तमोगुण गौण और रजोगुण प्रधान रहने पर व्यक्ति वैश्य होता है और कृषि, वाणिज्य आदि उसके कर्म होते हैं। जिसमें रजोगुण और तमोगुण प्रधान होता है वह शूद्र है और केवल सेवा करना ही उसका कर्म है।"[35]

शंकर द्वारा वर्ण निर्धारित करने की यह व्यवस्था सत्त्वादि गुणों पर आश्रित है जो क्रमशः श्वेत, रक्त और श्याम वर्ण के माने गये हैं। अतः "वर्ण" शब्द, जो रंग का वाचक है, तीन गुणों के रंगों का सूचक है। ये गुण मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति हैं। शरीर सभी मनुष्यों के एक समान हैं। शरीरों का रंग देखकर या शरीरों के जन्म से वर्ण निर्धारित करना गीता आदि ग्रन्थ और शंकर के विचार के विरुद्ध हैं। फिर भी जिस वर्ण की बुद्धि और संस्कार हैं उन्हीं के अनुसार मनुष्य का शरीर भी उसी वर्ण का मान लिया जाता है।

कर्म भी वर्ण का निर्धारक है किंतु मनुष्य के वर्तमान कर्म उसके वर्ण के निर्धारक नहीं हैं। शंकर के कथनानुसार, "प्राणियों के जन्मान्तर में किए हुए कर्मों के संस्कार जो वर्तमान जन्म में अपने कार्य के अभिमुख होकर व्यक्त हुए हैं उनका नाम स्वभाव है। ऐसा स्वभाव जिन गुणों की उत्पत्ति का कारण है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वे स्वभाव-प्रभाव गुण हैं। गुणों का प्रादुर्भाव विना कारण नहीं बन सकता है। अतः स्वभाव उनकी उत्पत्ति का कारण है और स्वभाव का कारण है पूर्व जन्म के कर्म।''[36]

न तो वर्तमान में किये हुए कर्म ही वर्ण निर्धारित करते हैं और न किसी व्यक्ति का वर्ण उसे किसी कर्म में प्रवृत्त होने के लिए बाध्य करता है। मनुष्य को इस बात की छूट है कि चाहे तो अपने वर्ण और स्वभाव के अनुकूल कर्म करे और चाहे तो उसके विपरीत कर्म करे। पशु-पक्षियों को यह छूट नहीं प्राप्त है। कर्म चयन की इस स्वतंत्रता के कारण मनुष्य पशु-पक्षियों से उत्कृष्ट है। इस चयन स्वतंत्रता के कारण ही उस पर राज्य और धर्म के नियम आरोपित किए जाते हैं। यदि मनुष्य अपने स्वभाव और गुण के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य होता तो उसे दण्डित या पुरष्कृत करना उचित न होता।

हर व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने वर्ण के अनुसार कर्म करेगा। ऐसा करने से उसे जीवन में सफलता मिलती है और सुख-शांति का अनुभव होता है। किंतु यदि मनुष्य की दृष्टि कर्म-फल पर होती है, तो वह उस कर्म करने का अधिकारी न होते हुए भी उसमें प्रवृत्त होता है और अनेक प्रकार की कठिनाइयों और असफलताओं का शिकार होता है। उसके इस दूषित आचरण को अधर्म कहते हैं। इससे आसपास के समाज पर भी विकृत प्रभाव पड़ता है।

गीता के आधार पर शंकर इस समस्या का कारण खोजने का प्रयास करते हैं कि मनुष्य अपने गुण या वर्ण के अनुसार आचरण क्यों नहीं करता है। जब सब का हित अपने वर्ण के अनुसार आचरण करने में है तब सब को वही करना चाहिए। शंकर कहते हैं कि कामना उसके ज्ञान को ढक लेती है और उसमें रजोगुण उत्पन्न कर विपरीत आचरण में प्रवृत्त कर देती है। ''कामो हि उद्भूतो रजः प्रवर्तयन् पुरुषं (पाप) प्रवर्तयति''[37] अर्थात् काम ही उद्भूत होकर रजोगुण को प्रवर्तित करता है और रजोगुण मनुष्य को पाप में प्रवृत्त करता है। अतः अपना धर्म त्याग कर अन्य कार्य करना अधर्म का हेतु अज्ञान, कामना और भोगेच्छा है। अधर्म का आचरण पाप है, क्योंकि उसके कारण मनुष्य को दुःख भोगना पड़ता है। ''दुःखी च भवति नित्यम् एव''[38] अर्थात् वह सदा दुखी ही रहता है। इस दुःख से बचने के लिए वर्ण-व्यवस्था स्वीकार करना अनिवार्य है। समाज की सुख-शांति और उन्नति का हेतु समझ कर शंकर ने वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता मानी है।

समाज की इस व्यवस्था को बनाये रखने के लिये समाज को बार-बार सचेत करते रहना और अंधविश्वासों तथा पापों से बचाये रखने की सतत आवश्यकता है। एक बार पुस्तक लिख देने या समाज में इन सिद्धांतों की घोषणा कर देने से सदा के लिये समस्या हल नहीं हो जाती है। इसीलिए शंकर ने देश के चार कोनों में चार मठों की स्थापना की और उन मठों के अधीश्वरों का यह कर्त्तव्य निर्धारित किया कि वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस व्यवस्था की आवश्यकता बार-बार तत्कालीन भाषा में मनुष्यों को समझौते और अपने धर्म पर आरूढ रहने के लिए प्रेरित करते रहेंगे। इससे सामाजिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त होगा। इस प्रकार के समाज में रहकर व्यक्ति अभ्युदय एवं निःश्रेयस को प्राप्त करने में सफल होगा।

राज्य-व्यवस्था समाज-व्यवस्था का ही एक अंग है। समाज के चार अंगों में एक क्षत्रिय वर्ग है, उसी के साथ राज्यव्यवस्था जुड़ी हुई है। वैदिक काल से ही ''राजा'' शब्द क्षत्रिय का पर्यायवाची माना जाता रहा है — ''बाहूराजन्यः कृतः'' अर्थात बाहु से राजा (क्षत्रिय) की उत्पत्ति हुई।39 शंकर भी ऐसा ही मानते हैं। वे राजा का अर्थ क्षत्रिय ही करते हैं।[40]

तर्क इस प्रकार हो सकता है कि जिस मनुष्य में सत्त्वगुण गौण और रजोगुण प्रधान है वह क्षत्रिय कहलायेगा।[41] वह स्वभाव से शूरवीर और तेजस्वी होगा क्योंकि ''स्वभाव प्रभवैर्गुणैः''[42] — स्वभाव से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ही गुणों की उत्पत्ति होती है। शौर्य और तेज के गुणों से उसमें "ईश्वरभाव" होना स्वाभाविक है।[43] शंकर के अनुसार ईश्वरभाव का तात्पर्य है — "प्रभुशक्तिप्रकटीकरणम् ईशितव्यत् प्रति" अर्थात् जिनका शासन करना है उनके प्रति प्रभुत्व प्रकट करना।[44]

"क्षत्रिय" शब्द रक्षा का सूचक है। राजा बनकर क्षत्रिय को अपने अधीन प्रजा की रक्षा बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक उपद्रवियों से करनी आवश्यक हो जाती है। इसके लिए युद्ध करना होता है। वीरतापूर्वक शत्रु से युद्ध करना उसका कर्त्तव्य बन जाता है। यदि क्षत्रिय इस प्रकार अपने धर्म का पालन करता है तो उसमें परमात्मा की विशेष विभूति दिखाई देती है।[45]

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शंकर वैदिक-विधान के अनुसार एकतंत्रात्मक राज्य-व्यवस्था स्वीकार करते हैं। राजा को अपने गुण और स्वभाव से क्षत्रिय होना चाहिए। वह धर्मात्मा राजा तभी होगा जब वह दक्षता से सहसा प्राप्त हुए राज्य के अगणित कार्यों को विना घबराये निपटाता रहे और शत्रुरूप अपराधियों और प्रजा-पीडकों से युद्ध करने में बिल्कुल डरे नहीं।

राजा को राज्य कर्म के फलस्वरूप सुख प्राप्त होता है। भौतिक भोग की प्रचुर सामग्री और यश लाभ से उसे सुख मिलता है।[46] किंतु सुखों की कामना उसे राज्य संचालन के आवश्यक कार्यो और युद्ध से विरत कर सकती है। क्षत्रिय के लिए यह अधर्म है। इस प्रकार धर्माधर्म की शास्त्र-व्यवस्था राजा के ऊपर अंकुश रखती है और राजा धर्म की सीमा में रह कर समाज में शांति और समृद्धि बढ़ाता है।

सम्पूर्ण समाज की समृद्धि के लिए शांति और धन का वितरण आवश्यक है। शांति की रक्षा के लिए राजा शत्रुओं का विनाश करता है और अपराधियों को दण्ड देता है। यहीं न्याय-व्यवस्था की भी आवश्यकता हो जाती है। राजा उसके लिए उत्तरदायी होता है। सही न्याय के विना समाज में शांति नहीं रह सकती है और कृषि-वाणिज्य आदि में समृद्धि भी नहीं हो सकती।

राजा का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य धन-वितरण है। वैश्य जाति सम्पत्ति की उत्पादक है। अपने इस कार्य के हेतु वह सेवकों से सहायता लेता है और बदले में उनका पुत्रवत् पालन-पोषण करता है। न्यायाधिपति होने के नाते राजा इस बात का ध्यान रखता है कि सेवक-वर्ग का शोषण न हो।

ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग के पोषण के लिए राजा उत्पादन पर कर लगा कर धन एकत्र करता है। राजा कर से वसूल हुये धन को सदा के लिए राज्य कोष में बन्दकर देता। वह उस धन का प्रयोग ब्राह्मणों को दान देने और सैनिक तथा अन्य राज्यकर्मचारियों को वेतन देने में करता है। अपने स्वभाव से ब्राह्मण विचारक और शिक्षक है। उनका ज्ञान समाज की समृद्धि के लिए बहुत आवश्यक है। अतः उनकी गौरवपूर्ण स्थिति को समझते हुए राजा का यह धर्म है कि वह उन्हें प्रचुर धन दान दे। यह "दान" देश की अर्थव्यवस्था की धुरी है। इसलिए इसे राजा का एक आवश्यक कर्त्तव्य बताया गया है।[47] राजा जनक ब्राह्मण याज्ञवल्क्य को सुवर्णमंडित शृंगों वाली एक सहस्र गायें दान देते हैं। शंकर इस व्यवस्था का समर्थन करते हैं।[48]

शंकर ने राजा को कहीं ईश्वर के द्वारा नियुक्त शासक नहीं माना है। राजा में जो तेज और शौर्य है वह अवश्य ही ईश्वर की विभूति है।

समाज की अन्य संस्थायें जैसे परिवार, शिक्षा आदि पर शंकर के कोई अपने विचार नहीं मिलते। वे उपनिषदों में वर्णित व्यवस्था का अनुवाद मात्र करते हैं। फिर भी उनके भाष्यों से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य निकाले जा सकते हैं।

शंकर व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्यों का भेद करते हैं। इस कारण जीवन के दो क्षेत्र हो जाते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं। अज्ञानी व्यक्ति की दृष्टि व्यावहारिक जीवन तक ही सीमित होती है और उसे इतना ही सत्य दिखाई देता है। उसे अपने व्यावहारिक जीवन के लिए जिस शिक्षा की आवश्यकता होती है उसे उपनिषदों में "मंत्रविद्या" कहा गया है और उसका जानने वाला नारद की भाँति मंत्रवेत्ता होता है।[49] नारद कहते हैं, "सोऽह भगवो मन्त्रविदेवास्मि" अर्थात् हे भगवन्, मैं केवल मंत्रवेत्ता हूँ। शंकर "मंत्रवित्" का अर्थ शब्दार्थमात्र विज्ञानवान् मानते हैं। शब्दों के द्वारा जिस विद्या का ज्ञान होता है उसका सम्बन्ध मनुष्य के कर्म से है। इसलिए "मंत्रवित्कर्म विदित्यर्थ"[50] अर्थात् मंत्रवित् कर्मवित ही है। नृत्य, संगीत, गणित, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि इसी विद्या के अन्तर्गत आते हैं।

इस विद्या से मनुष्य अभ्युदय प्राप्त कर सकता है किंतु उससे न कृतार्थता आती है और न मानसिक सन्ताप से मुक्ति मिलती है।[51] इस प्रयोजन को सिद्ध करने वाली दूसरी विद्या है। उसे "आत्म-विद्या" कहते हैं। शंकर की समस्त रचनाओं का प्रयोजन इस विद्या का ज्ञान कर मनुष्य को कृतार्थ करना है। शंकर मंत्रविद्या या कर्मविद्या की अपूर्णता दिखाते हैं और ब्राह्मविद्या की श्रेष्ठता बताकर उसके द्वारा पूर्णता, कृतार्थता और आनन्द प्राप्त करने के लिए उत्साहित करते हैं। मुण्डकोपनिषद् में उन दोनों विद्याओं को "अपरा" और "परा" विद्या कहा गया है।[52] परा विद्या की दृष्टि से अपरा विद्या "अविद्या" ही है। ईश उपनिषद् में उसे अविद्या कहकर तिरस्कृत किया गया है।[53] परा विद्या का सम्बन्ध परमार्थ सत् से है।

समाज में इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं की व्यवस्था आवश्यक है। अपरा विद्या से मनुष्य सुसंस्कृत बनता है और परा विद्या से पूर्णता पाता है। अतः असंस्कृत व्यक्ति को अपरा विद्या की अपेक्षा है और संस्कृत व्यक्ति को परा विद्या सीखनी चाहिए। अपरा विद्या के हेतु अनेक विद्यालयों की आवश्यकता है, किंतु परा विद्या प्रदान करने वाले आचार्य और उस विद्या को ग्रहण करने के अधिकारी थोड़े लोग ही होते हैं। यह शिक्षा कभी-कभी पिता-पुत्र को, पति-पत्नी को, भाई-भाई को, राजा-प्रजा को भी देता है। अधिकारी प्राप्त होने पर अन्य लोगों को भी यह विद्या दी जा सकती है।

आचार्य और शिष्य के मध्य जो संबंध रहना चाहिए उसके प्रति भी शंकर सावधान है। उनके अनुसार ग्रन्थों का अध्यापन कर देने के उपरान्त आचार्य अपने शिष्य को वह ज्ञान व्यवहार में लाने की विधि बतावे और उसके हेतु उसे उत्साहित भी करें। व्यवहार में प्रयोग किये विना ज्ञान अधूरा और खोखला है।

अधीतवेदस्य धर्मजिज्ञासामकृत्वा

गुरुकुलान्न समावर्तितव्यम्।[54]

"वेदाध्ययन कर चुकने पर भी ब्रह्मचारी को विना धर्मजिज्ञासा किये गुरुकुल समावर्तन नहीं करना चाहिए।"

गुरु अपने शिष्य से स्पष्ट कह दे कि हम आचार्यों के जो शुभ चरित्र हैं उन्हीं को वह अपनावे, दूसरे नहीं। शास्त्र विरुद्ध कर्म आचार्य द्वारा किये जाने पर भी शिष्य के लिए अनुकरणीय नहीं है।[55]

शिक्षा ग्रहण करने के उपरांत विवाह करने और गृहस्थ धर्म का पालन करते समय भी स्वाध्याय-प्रवचन करते रहना चाहिए।

स्वाध्यायोऽध्ययनं प्रवचनमध्यापनं

ताभ्यां न प्रमदितव्यम्।[56]

"स्वाध्याय अध्ययन है और प्रवचन अध्यापन है। उन दोनों से प्रमाद न करे अर्थात् उनका नियम से आचरण करता रहे।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस प्रकार शंकर के विचार से शिक्षा व्यवस्था व्यापक और प्रभावशाली होनी चाहिए तथा वह मनुष्य के जीवन का आवश्यक अंग बनी रहे। उसका सतत विकास और प्रसार होता रहे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त के आचार्य मनुष्य के सामाजिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं हैं। यद्यपि जीवन का चरम लक्ष्य आत्मा और ब्रह्म का एकत्वज्ञान प्राप्त कर अपने आन्तरिक आनन्द में रमण करना है किंतु इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य को समाज में रहना होगा और अपने सुव्यवस्थित जीवन से अन्य लोगों को आदर्श प्रस्तुत करना है। समाज के अधिकांश लोग परम तत्त्व के ज्ञान के अधिकारी नहीं होते हैं। उनके लिए जीवन-व्यवस्था और समाज की संरचना निर्धारित करना दार्शनिक का आवश्यक कार्य होता है। उसे भी शंकर ने पूरा किया है। उन्होंने इसके हेतु केवल मूल सिद्धांत निर्दिष्ट किये हैं, मनु की भाँति उनका विस्तार नहीं किया है। शंकर मनुस्मृति को प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं और अपनी रचनाओं में उनका उद्धरण भी देते हैं।[57] सम्भवतः मनुस्मृति की समाज-व्यवस्था की पुनरुक्ति से बचने के लिए उन्होंने समाज-व्यवस्था का विस्तृत निरूपण न करके केवल समाज-दर्शन के सिद्धांतों का उल्लेख किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैत वेदान्त में हमें सुव्यवस्थित समाज-दर्शन उपलब्ध नहीं होता किंतु समाज संरचना के तत्त्व निःसंदेह विद्यमान हैं। अद्वैत-वेदान्त के आचार्यों ने जीवन के परम लक्ष्य को सामने रखकर ही एक विशेष प्रकार के समाज की कल्पना की है। वर्णाश्रम धर्म एवं आश्रम धर्म उनकी सामाजिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वे वर्णव्यवस्था युक्त समाज को स्वीकार करते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति में सहायक है। प्रश्न यह है कि जो दर्शन पद्धति अद्वितीय ब्रह्म को ही एकमात्र सत् घोषित करती है वह मनुष्यों में वर्ण के आधार पर भेद को किस प्रकार स्वीकार करती है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त में दो दृष्टिकोणों को स्वीकार किया गया है — व्यावहारिक एवं पारमार्थिक। पारमार्थिक दृष्टिकोण से किसी प्रकार के भेद का अस्तित्व नहीं है। सब मनुष्य ब्रह्म ही है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से हम सब भिन्न-भिन्न हैं। हमारे जन्म, मरण, कार्य एवं कर्त्तव्य इत्यादि सब भिन्न हैं। अतः व्यावहारिक स्तर पर ही वर्णव्यवस्था का महत्त्व है। इसीलिए शंकर ने पारमार्थिक स्तर पर एकता को स्वीकार करते हुए भी व्यवहार में जाति-भेद स्वीकार किया है। पारमार्थिक दृष्टि से शासक एवं शासित एक होते हुए भी व्यावहारिक स्तर पर भिन्न हैं। सामाजिक व्यवस्था के लिये इस प्रकार के भेद आवश्यक हैं। किन्तु आधुनिक भारतीय समाज में उपलब्ध वर्ण-व्यवस्था अद्वैत-वेदान्तियों को मान्य नहीं हो सकती क्योंकि वे वर्ण-भेद को गुण एवं कर्म के आधार पर ही मानते हैं। अतः अद्वैत वेदान्तियों द्वारा कल्पित एवं स्वीकृत समाज उनकी तत्त्वमीमांसा के अनुरूप ही है।

संदर्भ-सूची

1. पुरुष-सूक्त 3
2. वही 8.
3. वही, 9
4. वही, 13
5. अथर्ववेद 3.4.1.
6. वही, 3.4.2.
7. वही, 8.10.1.
8. वही, 8.10.2 और 3
9. वही, 8.10.9.
10. वही, 8.10.11.
11. वही, 8.10.13.
12. राजनीतिक विचारों का इतिहास, डॉ. प्रभुदत्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शर्मा, पृ. 211
13. वही, पृ. 683
14. वही, पृ. 380
15. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.4.11, पृ. 286
16. वही, 1.4.12, पृ. 290
17. वही, 1.4.13. पृ. 291
18. छान्दोग्योपनिषद् 4.4.4. और 5 पृ. 383
19. वही, 4.22.3., पृ. 364
20. वही, 4.5.1., पृ. 1128
21. वही, 4.4.1., पृ. 380 6.1.1., पृ. 574
22. वही, 5.11.1, पृ. 536
23. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.5.15., पृ. 1141
24. वही, 5.2.1.
25. छान्दोग्योपनिषद्, 4.1.1., पृ. 352
26. वही, 4.1.2., पृ. 354
27. वही, 5.11.5, पृ. 540
28. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.1.2., पृ. 404
29. वही, 3.1.1., पृ. 621
30. छान्दोग्योपनिषद्, 6.1.2., पृ. 575
31. वही, 7.1.22., पृ. 713
32. श्रीमद्भागवद्गीता, शां. भा., उपोद्घात् पृ. 13
33. वही,
34. वही.
35. वही, 4.31, पृ. 112
36. वही, 18.41, पृ. 434
37. वही, 3.37, पृ.102
38. वही,3.39, पृ. 103
39. पुरुष-सूक्त 3.
40. श्रीमद्भागवद्गीता, शां.भा. 4.2, पृ.107
41. वही, 4.13, पृ.112
42. वही, 18.41, पृ. 434
43. वही, 18.43, पृ. 435
44. वही.
45. वही, 10.27, पृ. 254
46. वही, शां.भा. 11.33, पृ.272
47. वही, 18.42, पृ. 436
48. बृहदारण्यकोपनिषद्, शां.भा. 3.1.1., पृ.621
49. छान्दोग्योपनिषद् 7.1.3., पृ. 714
50. वही, शां.भा.7.1.3., पृ. 715
51. वही, पृ.717
52. मुण्डकोपनिषद्, 1.4
53. ईशोपनिषद् 9.
54. तैत्तिरीयोपनिषद्, शां.भा. 1.11.4, पृ.72
55. वही, पृ.75
56. वही, पृ. 74
57. ऐतरेयोपनिषद्, शां.भा. 3.1.3., पृ100

■

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अध्याय 15
अद्वैत और विशिष्टाद्वैत वेदान्त

अद्वैत वेदान्त के समानान्तर एक अन्य दार्शनिक विचारधारा का विकास मुख्यतः ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के विचारों से होता है। रामानुज ने वेदान्त का जो स्वरूप प्रस्तुत किया वह विशिष्टाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। रामानुज का जन्म 1027 ई0 में श्रीपेरुम्बुदूर में हुआ था। उन्होंने कांजीवरम् में यादव प्रकाश से वेदान्त की शिक्षा प्राप्त की, किंतु उनके विचारों से पूर्णतः सहमत न हो सके। अपनी प्रतिभा के बल पर वे श्रीरंगम् स्थित एक मठ के मठाधीश बन गये, किंतु उस पद को अस्वीकार कर वे कांजीवरम् में हीं सरल और त्यागमय जीवन जीते रहे। वहीं उन्होंने संन्यास धारण कर लिया और यतिराज की उपाधि से विभूषित हुए।

रामानुज ने वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह और वेदान्तदीपिका नाम के तीन स्वतंत्र ग्रन्थ और ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता पर अपनी महत्त्वपूर्ण टीकाँए लिखीं।

रामानुज के प्रधान अनुयायी वेंकटनाथ तेरहवीं शताब्दी में हुए। उन्होंने अपने स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने के अतिरिक्त रामानुज के श्रीभाष्य पर तत्त्वटीका और उनके गीता-भाष्य पर तात्पर्यचन्द्रिका नाम की टीका लिखी। अठारहवीं शताब्दी में उत्पन्न हुए रंगरामानुज ने रामानुज के अस्तिवाद के पक्ष में उपनिषदों पर भाष्य लिखे। इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानुज का प्रभाव परवर्ती विद्वानों पर रहा है और आज भी उनका दर्शन सजीव है। रामानन्द, कबीर, नानक और बंगाल के ब्रह्म समाज ने उनके मत को आदर देकर उनमें से अनेक सिद्धांतों को स्वीकार किया है।

रामानुज की ज्ञानमीमांसा पर ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि वे ज्ञान का स्वरूप अजड मानते हैं। अपने आपको जानने में वह असमर्थ होने के कारण अचेतन है और विषय का प्रकाशक होने के कारण जड भी नहीं है।[1] ज्ञान विषीय को भी प्रकाशित करता है किंतु वह अपने आपको नहीं जान सकता है। यह ज्ञान आत्मा का सार तत्त्व है और साथ ही उसका गुण-धर्म भी। प्रकाश भी दीपक का सार होता है और उसका गुण भी। चेतन आत्मा से ज्ञान पृथक् है। आत्मा अपने को जान सकता है और प्रकाशित भी कर सकता है किंतु वह बाह्य पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता।

जीव और ईश्वर धर्मीभूत ज्ञान है, क्योंकि वे दीपस्थानीय हैं और ज्ञान धर्मभूत है, जैसे प्रकाश। जीव और ईश्वर से ज्ञान का नित्य सम्बन्ध है। जीव की जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में ज्ञान सक्रिय होता है और सुषुप्ति में निष्क्रिय। ईश्वर में ज्ञान संकुचित और विकसित नहीं होता, वह विभु है।

शंकर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी व्यावहारिक स्तर पर स्वीकार करते हैं। इससे शंकर और रामानुज में समानता दिखाई देती है, किंतु ब्रह्म में जो जीव और ईश्वर का तात्त्विक स्वरूप है, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद नहीं है। ब्रह्म की निर्विशेष सत्ता है और उसका ज्ञान भी निर्विशेष है। इस प्रकार शंकर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ज्ञान के दो भेद करते हैं निर्विशेष और सविशेष। यह भेद रामानुज को स्वीकार नहीं है। वे केवल सविशेष ज्ञान का रूप ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि ज्ञान का मुख्य लक्षण पर-प्रकाशक होता है।

विषय को प्रकाशित करने के लिए, रामानुज के अनुसार विषयी से ज्ञान की सक्रियता प्रारंभ होती है। आत्मा से प्रारंभ होकर ज्ञान मन और इन्द्रियों से होता हुआ पदार्थ तक पहुँचता है और उससे सम्पर्क कर उसी का आकार धारण कर लेता है। तदुपरान्त वह ज्ञान लौट कर विषयी को उसका प्रकाशन करता है।[2] शंकर भी विषय ज्ञान की यही प्रक्रिया स्वीकार करते हैं।

परम सत् के अपरोक्ष ज्ञान में रामानुज और शंकर में मतभेद हो जाता है। शंकर के अनुसार आत्मा और परम सत् ब्रह्म में अभेद है। स्वयंप्रकाशस्वरूप होने के कारण इन्द्रियादि उपकरणों के विना आत्मा से ही आत्मा का ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान है। इसमें ज्ञाता-ज्ञेय का भेद नहीं, अतः ज्ञान की प्रक्रिया का भी अभाव है। यही शंकर के अनुसार निर्विशेष ज्ञान है।

रामानुज के अनुसार आत्मा ब्रह्म का ही रूप है, किन्तु दोनों में अभेद नहीं है। इसलिए आत्मा द्वारा ब्रह्म का ज्ञान ध्यान प्रक्रिया द्वारा होता है और ज्ञान निष्क्रिय नहीं रहता।[3] यह ज्ञान विषयी और विषय से युक्त होता है। इन्द्रियातीत होने पर भी वह निर्विषय नहीं है। अपरोक्ष ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञान मन और इन्द्रियों से होकर बाहर विषय तक नहीं जाता, वरन् आत्मा से सीधे ब्रह्म अभिमुख होकर उसका ज्ञान कराता है। इसीलिए वह अपरोक्ष है। फिर भी वह निर्विशेष नहीं है, क्योंकि ज्ञान सक्रिय है और ज्ञाता-ज्ञेय में भेद है। इस प्रकार रामानुज के अनुसार ज्ञान कभी भी विषय रहित चैतन्य मात्र नहीं हो सकता। वह सदैव किसी न किसी विषय पर केन्द्रित रहता है।

रामानुज के अनुसार प्रमा की प्राप्ति कराने वाला ही प्रमाण है,[4] और प्रमाण तीन हैं —प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।[5] डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार वे अन्य प्रमाणों के प्रति उदासीन हैं, किन्तु उनके अनुयायी प्रामाणों की सूची में एक या दो साधन और जोड़ देते हैं।[6] प्रत्यक्ष ज्ञान किसी-न-किसी इन्द्रिय की सहायता से होता है। धर्मभूत ज्ञान मन और इन्द्रिय से होकर बाह्य पदार्थ तक पहुँचता है, उसका रूप धारण करता है और उसे प्रकाशित करता है। रामानुज के इस मत से शंकर भी सहमत हैं, किन्तु निर्विकल्प और सविकल्प के भेद में वे एकमत नहीं हैं। यद्यपि दोनों आचार्यों को प्रत्यक्ष के ये भेद स्वीकार हैं, किन्तु उनका रूप दोनों एक समान नहीं देखते हैं।

रामानुज के अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष में सम्बद्ध विषय के विशिष्ट गुणों का प्रकाशन होता है और उसकी अनुभूति होती है। सविकल्प प्रतयक्ष होने पर उस विषय के साथ वे सभी संदर्भ होते हैं जिसमें वह पहले अनुभूत हुआ होता है। रामानुज निर्विकल्प प्रत्यक्ष में "प्रथमपिण्ड" ग्रहण[7] और सविकल्प प्रत्यक्ष में द्वितीय, तृतीय आदि पिण्डों की प्रतीति स्वीकार करते हैं[8] निर्विकल्प प्रत्यक्ष में यद्यपि सम्बद्ध वस्तु के जातीय गुण ज्ञान होते हैं तथापि यह ज्ञात नहीं होता कि वे गुण उस जाति के अन्य पदार्थों में भी विद्यमान् होते हैं। सविकल्प प्रत्यक्ष होने पर वस्तु के भूत सम्बन्ध के सन्दर्भ से युक्त तथा उस जाति की अन्य वस्तुओं के साधर्म्य सहित अनुभूति होती है।

शंकर के अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष में वस्तु की सत्ता मात्र का बोध होता है। उसका सविकल्प प्रत्यक्ष होने पर उसके गुण धर्म आदि प्रकट होकर वस्तु का पूरा ज्ञान करा देते हैं। रामानुज इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भी वस्तु के धर्म ज्ञात होने चाहिए, अन्यथा सविकल्प में उनकी उपलब्धि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं हो सकती है। रामानुज की यह मान्यता अपनी है। शंकर की मान्यता न्याय आदि दर्शनों के ही अनुकूल है।

रामानुज के अनुसार अनुमान परामर्श का परिणाम है । इस प्रक्रिया के द्वारा हम सामान्य तर्क वाक्य से किसी दृष्टांत विशेष के सम्बन्ध में विधि या निषेध का कथन कर सकते हैं। अनुमान का आधार व्याप्ति है और रामानुज के अनुसार व्याप्ति को इंगित करने के लिये एक ही वस्तु या घटना पर्याप्त है। सन्देह निवारण के लिये अन्य दृष्टान्त लिए जा सकते हैं। किन्तु व्याप्ति निर्धारण में भावात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार के उदाहरण देखने चाहिये।[9]

न्याय दर्शन में परार्थानुमान के पाँच अवयव माने गये हैं — प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। रामानुज इन पाँचों को मानना आवश्यक नहीं समझते। प्रथम तीन अवयवों से अथवा अंतिम तीन अवयवों से शुद्ध अनुमान किया जा सकता है। बुद्धिमान् पुरुषों के लिए इतना ही आवश्यक है। इसलिए उन्होंने अपनी युक्तियों में केवल तीन अवयवों का ही प्रयोग किया है।

शंकर का मत भी इससे मिलता-जुलता प्रतीत होता है। वे भी अनुमान के प्रायः तीन अवयवों का ही प्रयोग करते हैं, किन्तु कभी-कभी वे पाँचों अवयवों का प्रयोग करते भी दिखाई देते हैं।

रामानुज और शंकर दोनों ही शब्द प्रमाण को स्वीकार करते हैं और परम सत् के ज्ञान में एक मात्र साधन मानते हैं। शब्द प्रमाण भी दो प्रकार का हो सकता है। आप्त पुरुष से प्राप्त और वेदों से प्राप्त। परम सत् के ज्ञान में वैदिक शब्द प्रमाण की ही मान्यता है, क्योंकि वह अपौरुषेय है। वेदों की विश्वसनीयता संदेह से परे है। वे ईश्वर के नित्य वचन हैं।

शंकर उन स्मृतियों को भी शब्द प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं जो श्रुति अनुकूल हैं। सांख्य आदि स्मृतियों को उन्होंने प्रमाण नहीं माना है, भले ही वे सिद्ध पुरुषों के द्वारा लिखी गयी हों, क्योंकि वे श्रुति विरुद्ध हैं। उन्होंने भागवत् दर्शन का भी खण्डन किया है। रामानुज भागवत् दर्शन और पांचरात्र आगम[10] को भी प्रमाण मानते हैं और उन्हें वेदानुकूल स्वीकार करते हैं। यहाँ इन दोनों दार्शनिकों में मतभेद हैं।

रामानुज का मत है कि वेद हमें केवल परीक्षा ज्ञान ही प्रदान करते हैं। शास्त्रों के शब्दों को समझ लेने से भी कुछ अधिक की आवश्यकता है।[11] इसके विपरीत शंकर श्रुतियों के द्वारा ही ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान परोक्ष और अपरोक्ष दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं। उपनिषदों में सृष्टि आदि का वर्णन परमात्मा का परोक्ष ज्ञान कराने के लिये किया गया है। और "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य उसका अपरोक्ष ज्ञान कराते हैं। महावाक्यों के अर्थ पर विचार करने से परमात्मा का अपरोक्ष और निर्विशेष ज्ञान होता है।

रामानुज के अनुसार परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान सम्भव है, किन्तु महावाक्यों के अर्थ पर विचार करने से नहीं, वरन् उस ध्यान समाधि में सम्भव है जिसमें भक्ति की पूर्णावस्था प्रकट होती है। इसमें दैवी कृपा अपेक्षित है। रामानुज अपरोक्ष ज्ञान को भी निर्विशेष नहीं मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान यथार्थ और सविशेष है। परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान भी सविशेष ही है।

ख्याति-सिद्धांत में रामानुज और शंकर एक मत नहीं हैं। रामानुज सद्ख्यातिवादी हैं और शंकर अनिर्वचनीय-ख्यातिवादी । रामानुज समस्त ज्ञान को यथार्थ मानते हैं।[12] इसलिये भ्रांति को भी सत् मानना पड़ता है। वे सीप में चाँदी की भ्रांति को असत् ज्ञान नहीं कहते। अपने मत को स्थापित करने के लिये वे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विचित्र तर्क देते हैं। उनका कहना है कि समस्त वस्तुयें पंचतत्त्वों से निर्मित हैं। भिन्न तत्त्वों में उनका अनुपात भिन्न है। सीप और चाँदी में कुछ तत्त्वों की न्यूनाधिकता है। सीप में चाँदी के समान कई तत्त्व विद्यमान हैं। उनको देखना यथार्थ ज्ञान ही है। रामानुज का यह तर्क स्वस्थ नहीं है। डॉ. सिन्हा के अनुसार उन्होंने भ्रांति के प्रश्न की समुचित व्याख्या न कर उसे टालने का प्रयास किया है।[13]

रामानुज की तत्त्वमीमांसा पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उनके अनुसार परम सत् सगुण या सविशेष ब्रह्म ही है जिसे वह परम पुरुष कहते हैं। शंकर उस निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म की सत्ता को मानते हैं, वह उन्हें स्वीकार नहीं है। उपनिषदों में जहाँ ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है, उसे शंकर अक्षरशः वैसा ही स्वीकार करते हैं। वही परम सत् है। किन्तु रामानुज का परम सत् सगुण ब्रह्म है। उपनिषद् उसी को इसलिए निर्गुण कहते हैं कि उसमें कोई हीन गुण नहीं है।[14]

रामानुज का सगुण ब्रह्म, जो तत्त्व विचार से परम सत् है समस्त शुभ लक्षणों से युक्त है। वह परम आनन्द, परम प्रेम, अनन्त ज्ञान, अपरिसीम शक्ति, दया, क्षमा, वीर्य, तेज आदि दिव्य गुणों से युक्त है।[15] वह सब में व्याप्त है और सबसे परे है। अपरोक्ष रूप से ब्रह्म के दर्शन इसी रूप में होते हैं । रामानुज का तर्क है कि सभी ज्ञान सविशेष होता है, सभी प्रमाण सविशेष विषयों को ही प्रकाशित करते हैं, इसलिए हम जिस ब्रह्म को जानते हैं या जान सकते हैं वह सविशेष ही हो सकता है। फिर भी वह नित्य अमल और निरतिशय है।[16] तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म (सत्यं, ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म) के लक्षणों की व्याख्या करते हुए रामानुज कहते हैं कि "सत्यम्" पद ब्रह्म का व्यावहारिक या बाह्य रूप बताना चाहता है। 'ज्ञानं" पद ब्रह्म के परमार्थत्व का प्रतिपादन कर उसे अचित् से परे रखता है। "अनन्तम्" पद उसको देश-काल की सीमाओं से परे मानता है। ये तीनों पद अनृत, जडता और विच्छिन्नता का खण्डन कर ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करते हैं।

रामानुज का सविशेष ब्रह्म परम सौन्दर्यमय और आनन्दमय भी है। उसमें कोई दोष, हीनता या त्रुटि न होने के कारण वह दिव्य है और शक्ति, सामर्थ्य, बल और वीर्य से युक्त है। वह निरपेक्ष और अद्वितीय है। जीव की सापेक्ष सत्ता से परे होने के कारण ही निरपेक्ष है। समस्त चित् अचित् सृष्टि उसी का शरीर होने के कारण उससे अभिन्न है और ब्रह्म से परे या पृथक् कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

रामानुज के अनुसार श्रुतियाँ अचित् वस्तु, चित् वस्तु और परब्रह्म को क्रमशः भोग्य, भोक्ता और ईश्वर बताती हैं।[17] ईश्वर के संकल्प के द्वारा किये गये चिदचित् संसर्ग से देवों से लेकर स्थावर तक सम्पूर्ण अचित् मिश्रित भूतों की उत्पत्ति होती है। भोक्ता और भोग्यरूप चिदचित् दोनों ही तत्त्व परम पुरुष के शरीर होने के कारण उसके द्वारा नियमन करने योग्य और अपृथक् हैं।[18] सब अवस्थाओं में स्थित चिदचित् वस्तु ईश्वर के शरीर होने के कारण उनके रूप में परम पुरुष ही कार्यावस्थायुक्त और कारणावस्थायुक्त जगत् रूप में स्थित हो रहा है।

श्रुति के इस कथन "जीवेनआत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि"[19] का तात्पर्य बताते हुए रामानुज कहते हैं कि यह जीव और ब्रह्म की एकात्मता और है। "आत्मशरीरभावनिबन्धनम्"[20] अर्थात् जीवात्मा परब्रह्म का शरीर है। ब्रह्म ही नामरूपों में व्यक्त होकर चिदचित् रूप शरीर में स्थित है। स्थूल और सूक्ष्म, चित् और अचित् जिसका शरीर है वह परम पुरुष ही कार्य और कारण दोनों अवस्थाओं में सर्वथा स्थित है। कारण से कार्य अभिन्न होता है, इसलिए कारण को भली-भाँति जान लेने से कार्य का ज्ञान हो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जाता है। अतः एक को भली-भाँति जान लेने से सब ज्ञान होने को सर्वसम्मत सिद्धांत कहते हैं वह सर्वथा युक्तियुक्त ही है।[21] स्थूल, सूक्ष्म तथा चित्, अचित् रूप में ब्रह्म ही कार्य और कारण है। इससे सिद्ध है कि जगत् का उपादान करण ब्रह्म है और जगत् ब्रह्म का ही कार्य है।[22]

रामानुज पुनः कहते हैं कि जगत् का उपादान ब्रह्म होते हुए भी चिदचित् दोनों प्रकृतियों के सहित ही ब्रह्म उसका उपादान है। चित् अचित् और ईश्वर तीनों मिलकर जगत् का उपादान होने पर भी कार्यावस्था में भी उनमें भोग्य, भोक्ता, नियन्ता और नियम्य आदि का भेद रहता है।[23] चिदचित् सभी अवस्थाओं में परम पुरुष का शरीर रहने के कारण उनके विशेषण के रूप में ही पदार्थ कहलाते हैं और चित् अचित् विशिष्ट परम पुरुष ही कारण और कार्य हैं।[24]

परब्रह्म का कार्य में अनुप्रवेश होने पर भी उसका अपने स्वरूप से विपरीत भाव कभी नहीं होता, इसका अविकारीपन सर्वथा सिद्ध होता है और स्थूल अवस्था में स्थित नामरूप के विभाग से विभक्त चिदचित् वस्तु के आत्मरूप से स्थित होने के कारण उसका कार्यरूप होना भी भली भाँति बन जाता है, क्योंकि अवस्थान्तर की प्राप्ति ही कार्यत्व है। परब्रह्म, निर्गुण, इसीलिए कहलाता है कि कार्यभूत जगत् के विकार उसे प्रभावित नहीं करते।[25] ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कहने का भी यही उद्देश्य है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अखिल हेय गुणों के विरोधी कल्याणमय गुणों की खान परब्रह्म परमेश्वर का स्वरूप केवल ज्ञान के द्वारा ही निरूपित किया जा सकता है।[26] रामानुज के अनुसार श्रुतियाँ भी परब्रह्म को केवल एक ज्ञान के द्वारा निरूपण किये जाने योग्य होने से और स्वप्रकाश होने से ज्ञान स्वरूप बतलाती हैं।[27]

इस प्रकार परब्रह्म ही अपने संकल्प से विचित्र स्थावर-जंगम रूपों वाला होने के कारण नाना प्रकार से स्थित है। इसके विपरीत अब्रह्मात्मक वस्तु का नानात्व मानना सिद्धांत नहीं है।[28]

शरीररूप चिदचित् दोनों प्रकृतियाँ कारण अवस्था में नामरूप विभाग के अयोग्य है। उस समय वे सूक्ष्म रूप में होती हैं। वे प्रकृतियाँ कारण अवस्था में नाम-रूप विभाग उत्पन्न कर सकती हैं और स्थूल दशा में आ जाती हैं।[29] चिदचित् शरीरधारी परम पुरुष के अतिरिक्त कुछ भी न होने के कारण श्रुतियाँ नानात्व का विरोध करती हैं। रामानुज कहते हैं कि इससे यह नहीं समझना चाहिये कि "बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध जो ब्रह्म की अपने संकल्प से की हुई नाना नामरूपता के कारण नाना प्रकारता है उसका भी यह प्रतिषेध है।[30]

इस प्रकार रामानुज के द्वारा प्रतिपादित परम सत् की तुलना शंकर के परम सत् से करें तो देखेंगे कि दोनों की दृष्टि में ब्रह्म संसार का उपादान और निमित्त दोनों कारण है। दोनों ही परमाणु और प्रकृतिवाद के विरोधी हैं दोनों के विचार से ब्रह्म निरपेक्ष सत् है। उसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं है। समस्त जड़-चेतन सृष्टि ब्रह्म से ही उत्पन्न होती है।

फिर भी दोनों आचार्यों में परम सत् के विषय में मतभेद है। शंकर ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दो रूप मानते हैं, किन्तु रामानुज ब्रह्म का केवल सगुण रूप ही स्वीकार करते हैं। इस भेद के कारण शंकर ने पारमार्थिक और व्यावहारिक दो सत्तायें मानी हैं। उपनिषदों में वर्णित निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म को वे अक्षरशः सत्य मानते हैं और उसे परमार्थ सत् कहते हैं। व्यावहारिक दृष्टि में शंकर का वही मत है जो रामानुज का है। रामानुज पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टियों का भेद करना आवश्यक नहीं मानते हैं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शंकर ब्रह्म को स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदों से परे मानते हैं। अतः परमार्थ दृष्टि में एक अखण्ड ब्रह्म की ही सत्ता है। उसकी मायिक शक्ति से नाम-रूपात्मक जगत् व्यक्त होता है। परमात्मा पर ही आश्रित होने के कारण जगत् को परमात्मा का शरीर मान सकते हैं। यह व्यावहारिक दृष्टि है। इसी जगत् रूप धारण किये परमात्मा से रामानुज का परम पुरुष मिलता-जुलता है।

रामानुज जगत् को मायिक नहीं मानते। उनके मत में ईश्वर, जीव और जगत् तीनों सत् हैं। जीव और जगत् ईश्वर के शरीर हैं। अतः ईश्वर से वे पृथक् नहीं हैं। चिदचित् शरीर सहित ईश्वर के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिए उसमें सजातीय और विजातीय भेद तो नहीं है किन्तु स्वगत भेद हैं। फिर भी रामानुज जीव और जगत् का न ईश्वर से स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं और न उनका तादात्म्य ही स्वीकार करते हैं।

रामानुज एक दृष्टि से ईश्वर और जीव तथा समस्त जीवों में परस्पर भेद यथार्थ मानते हैं।[31] वे अद्वैतवादियों के उपाधिकृत आत्म-भेद का खण्डन करते हैं।[32] उनका मुख्य तर्क यही है कि अभेद पारमार्थिक होने पर और ज्ञानी को द्वैत की या तो प्रतीति न होगी अथवा मिथ्या प्रतीति होगी और ऐसी दशा में ईश्वर या ज्ञानी पुरुष के द्वारा कोई उपदेश सम्भव न होगा, क्योंकि अपने प्रतिबिम्ब को कोई उपदेश नहीं करता है।

रामानुज जीवात्मा को अविनाशी मानते हैं। अविनाशी होने का कारण यह है कि वह व्यापक होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म है। जड पदार्थ उससे स्थूल होने के कारण उसके व्याप्य हैं। वे आत्मा को नष्ट नहीं कर सकते। आत्मा ब्रह्म की तरह चेतन है किन्तु ब्रह्म की तरह सर्वव्यापी न होकर अणुरूप है। ईश्वर उसका स्थायी और उसके शुभाशुभ कर्मों का फलदाता है। जीव के लिए ईश्वर पूजनीय है।

व्यावहारिक स्तर पर शंकर भी यही मानते हैं। ईश्वर और जीव तथा जीवों में परस्पर इसी प्रकार भेद है। किन्तु शंकर परब्रह्म में पारमार्थिक दृष्टि से ये भेद स्वीकार नहीं करते। तात्त्विकरूप में आत्मा ब्रह्म ही है। वेदान्त के महाकाव्य "अयमात्मा ब्रह्म" का अर्थ रामानुज के अनुसार केवल इतना है कि ब्रह्म और जीव एक समान चेतन, शुद्ध, अमल, नित्य और आनन्दस्वरूप है। किन्तु जीव का ज्ञान और ऐश्वर्य अति संकुचित है।[33]

रामानुज के अनुसार उपचयतरूप अर्थात् अनेक अवयवों के संघातरूप शरीर आदि विनाशी हैं, किन्तु आत्मा में उपचय उपलब्ध नहीं होते, अतः वह नित्य है।[34] आत्मा के प्रसंग में व्यापक का अर्थ सर्वव्यापी नहीं है। वह अत्यंत सूक्ष्म है जिसके कारण वह सब अचेतन पदार्थों में प्रविष्ट हो सकता है। जीव यद्यपि स्वरूपतः ससीम है किन्तु संख्या में अनन्त है।

शंकराचार्य के अनुसार देश, काल, वस्तु, अपरिच्छिन्न वस्तु ही व्यापक और अनन्त होती है। यह लक्षण एक ही वस्तु का हो सकता है, और वह ब्रह्म है। जीव ब्रह्मभाव में ही व्यापक और अनन्त है। देहादि की उपाधि से वह परिच्छिन्न और सीमित है।

रामानुज यह स्वीकार करते हैं कि जीव की चेतना स्वाभाविक है। न्याय वैशेषिक दर्शनों की भाँति वह मन के सम्पर्क में आने से चेतन नहीं होता। चेतन होने के कारण आत्मा ज्ञान सम्पन्न भी है। यद्यपि आत्मा अनन्त ज्ञान सम्पन्न है किन्तु भौतिक आवरणों में वह अपने कर्मों से आच्छन्न होकर ज्ञान को आवृत कर लेता है।[35] ज्ञान के साथ आनन्द भी प्रच्छन्न हो जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनादि कर्म ही अविद्या है और अविद्या ही समस्त दोषों और दुःखों की कारण है। शंकर के अनुसार अविद्या का अर्थ अपने सत् स्वरूप का ज्ञान न होना है। किन्तु अविद्या के फलस्वरूप देह के साथ तादात्म्य और विषयों में प्रीति दोनों एक समान स्वीकार करते हैं।[36]

अनादि कर्मवश जो जीव शरीर बन्धन में हैं और दुःख भोग रहा है, उसका इतना ही कर्त्तव्य है कि वह बन्धन की निवृत्ति के लिए अपने शरीरों के द्वारा स्ववर्णोचित शास्त्रीय युद्धादि कर्म फलाभिसंधि रहित होकर करते रहें और इन्द्रिय एवं विषयों के संयोग से जो शीतोष्णादि सुखदुःखादि प्राप्त होते हैं उनको अनिवार्य मानकर मुक्त होने पर्यन्त सहन करता रहे।[37] बन्धन के हेतुभूत कर्मो का नाश होने पर इन दुःखों का नाश होना स्वाभाविक है।[38]

आत्मसाक्षात्कार से भी विषयासक्ति और कर्मबन्धन छूट जाता है, किन्तु इन्द्रियजन्य और आत्मसाक्षात्कार में अन्योन्याश्रय है। इसलिए ज्ञान निष्ठा बड़ी कठिन है। रामानुज इस कठिनाई से बचने के लिए अपने मन को ईश्वर में लगाने की सम्मति देते हैं। इससे समस्त पाप पूर्णतया भस्म हो जाते हैं और विषयासक्ति रहित मन इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है। यह स्थिति प्राप्त होने पर मन आत्मदर्शन प्राप्त करता है।[39] अविद्या से मुक्त होकर लोग अपने स्वरूप में स्थित हो जाते हैं।[40]

शंकर के अनुसार मुक्तावस्था में जीव अपनी उपाधियाँ त्यागकर ब्रह्मरूप हो जाता है। उसकी स्थिति परमात्मा से पृथक् नहीं होती। वह सर्वात्मभाव प्राप्त कर लेता है। किन्तु रामानुज के अनुसार जीव का भेद मुक्तावस्था में भी पूर्ववत् बना रहता है। वे स्पष्ट कहते हैं कि अपने को "अहं" करके सम्बोधित करने वाला आत्मा है और मुक्तावस्था में भी उसका अंह भाव प्रकाशित रहता है।[41]

मुक्तावस्था में आत्मा को अपना यथार्थ ज्ञान रहता है। आत्मा को अपना ज्ञान प्रमाता रूप में ही होता है। प्रमेय रूप में उसका ज्ञान संभव नहीं है।[42] नामरूप से मुक्त अपने स्वरूप को देख लेने पर यह ज्ञात हो जाता है कि समस्त आत्मवस्तु परस्पर सम है और सर्वेश्वर के साथ भी उसका साम्य है।[43] एक आत्मा को देख लेने पर सब आत्मवस्तु उसी के समान होने के कारण समस्त प्राणियों का आत्मतत्त्व देखा हुआ हो जाता है।[44] इस प्रकार जहाँ कहीं शास्त्रों में "ब्रह्मभूत" या "सर्वभूतस्थमात्मनं" आदि पद आये हैं, रामानुज ने उनका अर्थ "समान" ही माना है। "तत्त्वमसि" का भी अर्थ यही है कि तुम उसके समान हो।

"माया" के विषय में रामानुज और शंकर के विचार बिल्कुल विपरीत हैं। रामानुज कहते हैं – ईश्वर की त्रिगुणमयी माया उनके द्वारा निर्मित है। असुर और राक्षसों के अस्त्रादि की भाँति विचित्र कार्य करने वाली होने के कारण इसका नाम माया है। "माया" शब्द मिथ्या वस्तु का वाचक नहीं है।[45] ऐंद्रजालिक आदि को भी किसी मन्त्र या ओषधि के द्वारा मिथ्या वस्तु के विषय में सत्यता बुद्धि उत्पन्न कर देने वाला होने के कारण ही "मायावी" कहते हैं। वस्तुतः वहाँ मन्त्र और ओषधि आदि ही माया है। सब प्रयोगों में अनुगत एक ही वस्तु को (माया) शब्द का अर्थ माना जा सकता है। अतः मिथ्या वस्तुओं में जो माया शब्द का प्रयोग है वह मायाजनित बुद्धि का विषय होने के कारण औपचारिक है, जैसे "मच्चानें चिल्ला रही हैं "यह प्रयोग है।

यह गुणमयी माया पारमार्थिक वस्तु है। इसीलिए श्रुति कहती है – "प्रकृति को तो माया और महेश्वर को मायावी समझो।" भगवान् स्वरूप को छिपा देना और अपने स्वरूप में भोग्यबुद्धि करा देना,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस माया का कार्य है। इसलिए भगवान् की माया से मोहित हुआ सब जगत् असीम अतिशय आनन्दस्वरूप भगवान् को नहीं जानता।

इसप्रकार महेश्वर की माया प्रकृतिरूपा है और वही तीन गुणों के बल से नामरूप धारण कर ईश्वर को दुर्विजेय बनाती है। अन्यत्र रामानुज ने "माया" शब्द का अर्थ ज्ञान भी किया है। इसलिए उनके अनुसार ईश्वर जब अपनी माया से प्रकट कहा जाता है, तो इस कथन का अभिप्राय यही होता है कि वह अपने ज्ञान से अथवा अपने संकल्प से प्रकट होता है।[46]

शंकर ने माया को ईश्वर की शक्तिरूप में स्वीकार करते हुए भी उसे अनिर्वचनीय कहा है। वह न सत् है न असत् और न सत् एवं असत् दोनों। आवरण एवं विक्षेप शक्तियों से सम्पन्न यह माया समस्त सृष्टि को उत्पन्न करती है किन्तु उसके द्वारा उत्पन्न की गयी सृष्टि भी अनिर्वचनीय ही कहलाती है। यह ईश्वर की शक्ति होते हुए भी उसको प्रभावित नहीं करती और रामानुज की प्रकृति की तरह ईश्वर का शरीर भी निर्मित नहीं करती। रामानुज शंकर द्वारा वर्णित माया के स्वरूप से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार अनिर्वचनीय कुछ भी नहीं है। या तो कोई वस्तु सत् है अथवा असत्।

संदर्भ-सूची

1. "सति विषयित्वम् अचेतनः" — यतीन्द्रमतदीपिका।
2. "आत्मा मनसा सञ्युज्यते मन इन्द्रियेनेन्द्रियमर्थिनः" — यतीन्द्रमतदीपिका
3. "तस्मात् ध्याननियोगेन ब्रह्मापरोक्षज्ञान फलेनैव बन्धनिवृत्तिः" — श्रीभाष्य 1.1.4
4. "तत्र प्रमाकरणम् प्रमाणम्" — यतीन्द्रमतदीपिका
5. "प्रत्यक्षानुमानागनाख्यम् प्रमाण जातम्" — श्रीभाष्य 1.1.1
6. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन, भाग 2, पृ.675
7. ::अतो निर्विकल्पकमेकजातीय द्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम्" — श्रीभाष्य 1.1.1
8. ::तत्र प्रथमपिण्ड ग्रहणे गोत्वादेरनुवृत्ताकारता न प्रतीयते।द्वितीय पिण्ड ग्रहणेष्वेवानुवृत्ति प्रतीतिः। — वही, 1.1.1
9. A History of Indian Philosophy, Dr. Jadunath Sinha, Vol. II, p.656.
10. अतो वेदान्तवेद्यः परब्रह्मभूतो नारायणः स्वयमेव पंचरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता। — श्रीभाष्य 2.2.42
11. डॉ. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग 2, पृ. 677
12. "सर्व विज्ञानजातं यथार्थम्" — श्रीभाष्य 1.11.1
13. "Ramanuja explains away error". Dr. Jadunath Sinha, A History of Indian Philosophy, Vol. II. p. 658.
14. "निर्गुणवादाः च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धाभावाद् उपपद्यन्ते।" — रा0भा. गीता 13.2
15. "अनन्तगुणनिधि दिव्य रूपः" — वही, प्रस्तावना, पृ. 9

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, AAIS(USA)

16. "नित्यनिरवद्यनिरतिशय" — वहीं
17. श्रीमद्भगवद्गीता, रा0भा.13.2, पृ. 415
18. वही, पृ. 418
19. छान्दोग्योपनिषद्, 6.3.2.
20 श्रीमद्भगवद्गीता, रा0भा., 13.2, पृ. 420
21. वही, पृ. 421
22. वही.
23. "चिदचिदीश्वरसंघातोपादानत्वे अपि जगतः कार्यावस्थायाम्, अपि भोक्तत्व-भोग्यत्वनियन्तृत्वनियम्यत्वाद्यसंकरः।" — वही, पृ. 42
24. श्रीमद्भगवद्गीता, रा0भा. 13.2, पृ. 423
25. वही.
26. वही, पृ. 424
27. वही.
28. वही, पृ. 425
29. वही, पृ. 426
30. "न श्रुतिसिद्ध स्वसंकल्पकृतं ब्रह्मणो नानानामरूपभाक्त्वेन नानाप्रकारत्वम् अपि निषिध्यते।" — वही, पृ. 425
31. "भगवतः सर्वेश्वराद् आत्मनां परस्परं च भेदः पारमार्थिकः" — रा0भा. गीता 2.12, पृ. 31
32. वही, पृ.32
33. ::अतिसंकुचित ज्ञानेश्वर्यः जीवपूतः" रा0भा. गीता 15.7, पृ. 490
34. "एकरूपत्वेन अनुपचयात्मकत्वात् प्रमातृत्वात् च आत्मा नित्यः" — वही, 2.18, पृ. 43
35. "अनादि कर्मरूपाविद्यावेष्टन तिरोहितस्वरूपों।" — रा0भा. गीता 15.7, पृ. 489
36. "शरीरागोचरा चाहं बुद्धिरविद्यैव" — श्रीभाष्य 1.1.1
37. रा0भा. गीता, 2.13, पृ.37
38. वही, पृ. 38
39. वही, 2.61, पृ. 80
40. "अस्या अविद्याया मुक्तः स्वेतरूपेण अवतिष्ठते।" — वही, 15.7, पृ. 490
41. "स्वरूपेणैव अहमार्थः आत्मा..मुक्तावपि अहमार्थः प्रकाशते" — श्रीभाष्य 1.1.1
42. रा0भा. गीता 2.18, पृ. 43
43. वही, 4.35, पृ. 165
44. वही, 6.29, पृ. 211
45. "मायाशब्दो न मिथ्यार्थवाची" — वही, 7.14, पृ. 420
46. "आत्ममायया....आत्मीयेन ज्ञानेन आत्मसंकल्पेन इत्यर्थः" — रा0भा. 4.6, पृ. 240

■

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सहायक संदर्भ ग्रन्थ-सूची

संस्कृत और हिन्दीः

1. अद्वैत एवं द्वैताद्वैत की तत्वमीमांसाः अभेदानन्दश, ओरियण्टल पब्लिशर्स, दरियागंज, दिल्ली, 1977.
2. अद्वैतसिद्धिः मधुसूदन सरस्वती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1917.
3. अपरोक्षानुभूतिः शंकराचार्य, अच्युतग्रन्थमाला, काशी.
4. आत्मबोधः शंकराचार्य, अच्युतग्रंथमाला, काशी, सम्बत्, 1990
5. इष्टसिद्धिः विमुक्तात्मा
6. ईशोपनिषद्ः शांकरभाष्य (हिन्दी अनुवाद सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर,
7. ऐतरेयोपनिषद्ः (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
8. कठोपनिषद्ः (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर
9. केनोपनिषद्ः (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य,गीताप्रेस, गोरखपुर
10. खण्डनखण्डखाद्यः (शांकरी व्याख्या सहित) श्रीहर्ष, चौखम्भा, बनारस
11. छान्दोग्योपनिषद् : (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
12. तर्कभाषा : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1968
13. तत्त्वप्रदीपिका : चित्सुखी), चित्सुखाचार्य, षट्दर्शन प्रकाशन, वाराणसी, 1974
14. तैत्तिरीयोपनिषद् : (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
15. न्यायकुसुमाञ्जति : चौखम्भा, बनारस, 1962
16. न्यायकंदलीः (प्रशस्तपाद भाष्य सहित), बनारस संस्कृत विश्वविद्यालय, 1963
17. न्यायमञ्जरी : जयन्त भट्ट
18. न्यायामृताद्वैतसिद्धि : प्रथम भाग, षट्दर्शन प्रकाशन स्थानम्, वाराणसी 1977
19. वहीः भाग 2 , षट्दर्शन प्रकाशन स्थानम् वाराणसी, 1977
20. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाः वाचस्पति मिश्र, विजयानगरम्, संस्कृत सीरीज, बनारस, 1818
21. पञ्चदशीः विद्यारण्यस्वामी, बुद्धि सेवाश्रम, बिजनौर, सम्वत् 2011
22. प्रमेयकमलमार्तण्डः जीवाजी प्रकाशन, बम्बई, 1912

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies, AAIS(USA)

23. प्रश्नोपनिषद्: (हिन्दी अनुवाद सहित),शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर,
24. बौद्धदर्शन और वेदान्तः शर्मा, सी0डी0, स्टूडेन्ट्स फ्रेन्ड्स इलाहाबाद
25. बृहदारण्यकोपनिषद् : (हिन्दी अनुवाद सहित), शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर.
26. बृहदारण्यकवार्तिकसारः प्रथम भांग, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, सम्बत् 1997
27. ब्रह्मसूत्रः (हिन्दी अनुवाद, सत्यानन्दजी) शांकरभाष्य, टेढ़ीनीम, वाराणसी, सम्वत् 2028
28. वही, (भामती, कल्पतरु एवं कल्पतरुपरिमल के साथ), शांकरभाष्य, निर्णयसागर प्रेस, बाम्बे, 1938
29. भगवद्गीताः रामानुजभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2008
30. वही, शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2110
31. माण्डूक्योपनिषद्: (गौडपादकारिका) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं02030
32. मुण्डकोपनिषद्: (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
33. ऋग्वेदसहिताः पुरुषसूक्त, नासदीयसूक्त.
34. विचारसागरम्: वासुदेव, भारती विषयम् प्रेस, बाम्बे, 1964
35. विवरणप्रमेयसंग्रहः विद्यारण्यस्वामी, अच्युतग्रन्थमाला, काशी, संवत्, 1996
36. वही, चौखम्भा, बनारस.
37. विवेक-चूडामणिः शंकराचार्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2014
38. वेदान्तपरिभाषाः धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1963
39. वेदान्तसारः सदानन्द, पीयूष प्रकाशन, सुभाष नगर, इलाहाबाद, 1968
40. श्रीशंकराचार्यः बलदेव उपाध्याय, इलाहाबाद, 1963
41. सप्तपदार्थीः विजयानगरम् संस्कृत सीरीज, बनारस, 1968
42. सर्वदर्शनसंग्रहः माधवाचार्य, चौखम्भा, बनारस.
43. सांख्यकारिकाः ईश्वरकृष्ण,
44. सिद्धांतलेश-संग्रहः अप्पय दीक्षित, अच्युत ग्रंथमाला, काशी, सम्वत् 2011
45. संक्षेप-सारिकाः (तत्त्ववीधिनी टीका के साथ), सर्वज्ञात्म मुनि, रायल प्रिंटिंग वर्क्स, गोडविला, बनारस सिटी, 1936.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

BOOK IN ENGLISH

1. Bhattacharya, A Studies in Post Shankara Dialectics, University of Calcutta, 1936.
2. Bijawal, C.D.: Indian Theory of Knowledge.
3. Chatterji, S.C.: The Nyaya Theory of Knowledge.
4. Dasgupta, S.N.: A History of Indian Philosophy, Vol.1, Cambridge University Press, 1961
5. Dasgupta, S.N.: A History of Indian Philosophy, Vol.2, Cambridge University Press, 1961.
6. Date V.H.: Vedanta Explained, Book Seller's Company, Bombay, 1945.
7. Datta D.M.: The Six Ways of Knowing, Ceorgeallen & Unwin, 1932.
8. Devaraj, N.K.: An Introduction to Sankara's Theory of Knowledge, Motilal Banarasi Das, Varanasi, 1962.
9. Hiriyanna, M.: Outlines of Indian Philosophy, George Alten & Unwin, 1964.
10. Kuppuswami, A.(Ed.).: Brahmasiddhi by Mandana Mishra, with commentary, Madras, 1937.
11. Kuppuswami, A.: Sri Bhagvatpada Sankaracharya, Varanasi, 1972.
12. Kuppuswami, S.: A Primar of Indian Logic, Kuppuswami Research institute, Madras, 1951
13. Madhu Sudan : Sidhantabindu (with commentary of Purushottama), Baroda Oriental Institute, 1933.
14. Mahadevan, T.M.P. : Gaudapada, University of Madras, 1934.
15. Murty, K.S.: Revelation & Reason in Advaita Vedanta, Andhra University, 1961.
16. Naulakha, R.S. : Shankara's Brahmavada, Kitabghar, Kanpur.
17. Padampada : The Pancapadika, Trans. D. Venkataramaiah, Oriental Institute , Baroda 1948.
18. Pandey, S.L : Pre-Sankara Advaita Philosophy, Darshan Peeth, Allabhabad, 1974.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

19. Radhakrishnan, S.: Brahma-Sutra, Allen & Unwin, London. 20.
Radhakrishnan, S. : Indian Philosophy, Vol. 1, George Allen & Unwin, 1956.

21. Radhakrishn;an, S : Indian Philosophy, Vol. 2, George Allen & Unwin, 1956.

22. Ranade, R.D. : A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1968.

23. Ranade, R.D. : Vedanta : The Culmination of Indian Thought, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1970.

24. Roy, S.S. : The Heritage of Shankara, Udayana Publications, Allahabad. 1965.

25. Singh R.P. : The Vedanta of Sankara, Bharat Publishing House, Jaipur, 1949.

26. Sinha, J.N. : A History of Indian Philosophy, Vol. 1, Central Book Agency, Calcutta.

27. Sinha, J.N. : History of Indian Philosophy, Vol. 2 , Central Book Agency, Calcutta, 1952.

28. Sinha, J.N. : Indian Philosophy, Kegam Paul, London, 1934.

29. Sriniwasacharya, P.N. : Studies in Vedanta, Bardachari & Company, Madras.

30. Sureshwaracharya : The Naiskarmya Siddhi, Oriental Research Institution , Poona, 1925.

31. Upadhyaya, V.P. : Lights on Vedanta, Chaukhambjha, Varanasi, 1959.

32. Venkataraman, M.K. : Advaita Vedanta, Asia Publishing House, Bombay, 1966.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection